

गीतातत्त्वदर्शन



वैद्यनाथ अग्निहोत्री

गीतातत्त्वदर्शन

[श्रीमद्भगवद्गीता का सैद्धान्तिक विश्लेषण]

श्रीविष्णुरुवाच

यत्र गीता विचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम् ।
तत्राऽहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि ।।
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम् ।।

लेखक
वैद्यनाथ अग्निहोत्री

शिव निवास
चौक, लखनऊ ।

प्रकाशक :
वैद्यनाथ अग्निहोत्री
शिव निवास, चौक
लखनऊ—३

लेखक की अन्य रचनायें

ब्रह्मतत्त्व—प्रस्तुत पुस्तक 'वेदान्त-दर्शन' तथा उपनिषदों की आधार शिला पर निर्मित है। इसमें ईश्वर, जीव, प्रकृति, कर्म, उपासना, ज्ञान एवं मुक्ति का तात्त्विक विवेचन है। यह बहु प्रशंसित है। मुमुक्षुओं के लिये मननीय है।

आद्य श्रीशंकराचार्य—'शङ्कर दिग्विजय' के अनुसार आचार्य का चरित्र-चित्रण है और जन्म-काल, जन्म-भूमि तथा आचार्यकृतग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय है।

आत्मानन्दामृत घट—अवधूत श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वती विरचित, पद्यमय वेदान्त की प्रक्रियाओं से पूर्ण, ग्रन्थ पर टीका।

श्रीमद्भगवद्गीता 'चित्प्रभा व्याख्या सहित'—इसमें सम्बन्ध, श्लोक, श्लोकार्थ एवं अन्वय सहित व्याख्या है। गम्भीर, मार्मिक तथा सैद्धान्तिक विवेचनापूर्ण व्याख्या मननीय है।

मुद्रक :
पं० गिरिजाशंकर शुक्ल
देवता प्रेस, नादानमहल रोड,
लखनऊ—४

श्रीमत्परमहंस, परिव्राजकाचार्य, अनन्तश्रीविभूषित,
दण्डी स्वामी श्री सच्चिदानन्द आश्रम जी
महाराज, हृषीकेश का

शुभाशीर्वाद

"अग्निहोत्री जी-द्वारा लिखित 'गीतातत्त्वदर्शन' देखा, इसमें चार खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में चार-चार अध्याय हैं। यह षोडश अध्याय ही, इस वाङ्मय मूर्ति की षोडश कलायें हैं। इसके पढ़ने से श्री गीता जी का तात्पर्य एवं रहस्य आदि का वास्तविक तत्त्व बुद्धि-गोचर होने लगता है। इससे पूर्व श्री तिलक आदि टीकाकारों की 'गीतारहस्य' आदि का अवलोकन किया है। परन्तु इसकी शास्त्रीय पद्धति के अनुकूल, पाण्डित्यपूर्ण तथा अनुभवयुक्त विवेचन-शैली अनुपम है। हमें तो ऐसा जान पड़ता है, कि स्वयं अन्तर्यामी श्रीकृष्ण जी की सहायता से लिखी गई है। हमारा शुभाशीर्वाद है, कि इससे जनता पक्षपातशून्य तथा अभूतपूर्व दिव्य लाभ उठायेगी अर्थात् पुनः-पुनः विचार कर, जीवन्मुक्ति अवस्था को प्राप्त होगी।"

विशेष विज्ञप्ति

सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड के मूल में एक परम तत्त्व विद्यमान है। वह विश्व ब्रह्माण्ड से अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक, परिपूर्ण, अखण्ड, चेतन और नित्य है। विश्व के विलय होने पर भी, उसकी सत्ता विद्यमान रहती है। उससे ही विश्व व्यक्त होता है, उसी में स्थित रहता है और अन्त में उसमें ही लीन हो जाता है। जैसे शान्त सागर में तरंग, फेन आदि लीन रहते हैं, उसीसे प्रकट होते हैं, उसमें ही स्थित रहते हैं और अन्त में लीन भी सागर में ही हो जाते हैं। वस्तुतः सागर से भिन्न सत्ता तरंग आदि की नहीं होती, केवल नाम-रूप तथा क्रिया की भिन्नता प्रतीत होती है। इसी प्रकार अखण्ड, परिपूर्ण चेतन में ही नाम, रूप तथा क्रिया की अभिव्यक्ति विश्व है। तात्त्विक दृष्टिसे विश्व और परम तत्त्व में कोई अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं। एक सूक्ष्म, अखण्ड, परिपूर्ण, चेतन, अव्यक्त और सर्वाधिष्ठान है, दूसरा स्थूल, सीमित, अपूर्ण, अचेतन, व्यक्त एवं अधिष्ठित प्रतीत होता है। चेतन परमतत्त्व को ही उपनिषदों तथा वेदान्तदर्शन में ब्रह्म, आत्मा, पुरुष, शिव, ईश्वर आदि नामों से कहा गया है।

जिस प्रकार परम तत्त्व अखण्ड, अनन्त तथा परिपूर्ण है, उसी प्रकार उसका ज्ञान भी अखण्ड, अनन्त तथा परिपूर्ण है। किन्तु विश्व के समान, विश्व के व्यक्त होने पर, ज्ञान भी व्यक्त होता है। वह ईश्वरीय ज्ञान ही वेद है। वेद-द्वारा मानव-धर्म का पूर्ण विवेचन किया गया है। व्यक्ति का व्यक्ति से, परिवार से, समाज से, देश से, प्राणिमात्र से और स्वयं अपने से कैसा व्यवहार होना चाहिये? सबका पूर्ण परिचय वेद में मिलता है। किस कर्म का क्या फल लोक-परलोक में होता है और मानव का वास्तविक लक्ष्य क्या है, इनका भी विवरण मिलता है। वेद के अन्तिम भाग ज्ञानकाण्ड में मानव क्या है? विश्व तथा ब्रह्म क्या है? और इन सबका सम्बन्ध क्या है? आदि विषयों पर मार्मिक-चर्चा है। यह भाग परम गुह्य तथा तात्त्विक माना जाता है, इसीमें लोक-परलोक, जीवन-मरण, सुख-दुःख और बन्ध-मोक्ष की कुञ्जी है। इसके ज्ञान के लिये अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि, प्रबल मेधाशक्ति, विवेक, ईश्वर-कृपा, श्रद्धा, संयमित जीवन-चर्या एवं श्रोत्रिय तथा तत्त्वज्ञ गुरु की अपेक्षा है।

वेद से अनुप्राणित पुराण, महाभारत आदि में भी तत्त्व-प्रतिपादक कुछ अंश होते हैं। उस गुह्यतम अंश का नाम 'गीता' है। गीता अनेक हैं, जैसे 'रामगीता', 'शिवगीता', 'गणेश गीता', 'अष्टावक्र गीता', 'अवधूत गीता', 'भगवत् गीता', 'अनुगीता' आदि। किन्तु सबसे प्रसिद्ध है 'भगवद्गीता'। यद्यपि सभी गीता-ग्रन्थों में तात्त्विक निरूपण है। तथापि भगवद्गीता में कुछ विशिष्टता है और वह है 'कर्मयोग' की। अन्य गीताओं में केवल ज्ञान का प्रतिपादन है और कर्म का खण्डन। किन्तु भगवद्गीता में ज्ञान, भक्ति तथा योग का तो प्रतिपादन है ही, पर कर्मयोग का विशेष व्याख्यान है। ज्ञान के साँचे में ढालकर, कर्म का प्रतिपादन है। कर्मपरायण पुरुष को यह विशेष आकर्षित करती है, यही कारण है इसके सर्वाधिक प्रचार का। 'गीता' नाम से भगवद्गीता की ओर मन स्वयं आकर्षित हो जाता है।

भवसागर में पतित, उत्ताल द्वन्द्वात्मक तरंगों से पीडित एवं मृत्यु मकर से जीवन-रक्षा के लिये, 'गीता-नौका' परम आश्रय है। सहस्रों वर्षों से अपने आश्रित मानव की रक्षा करती रही है गीता। ज्ञानी, भक्त, योगी, कर्मी तथा जिसने भी गीता का आलम्बन लिया, गीता ने सभी का उद्धार किया है और सदैव करती रहेगी। जबसे गीता प्रकाश में आई, तभी से सब ने इसे शिरोधार्य किया। विद्वान् तथा संन्यासी महात्माओं से सामान्य जन पर्यन्त इसकी प्रतिष्ठा है। विद्वानों ने भाष्य, व्याख्या तथा टीकायें लिखकर, गीता के अर्थ समझाने का मार्ग प्रशस्त किया। वर्तमान समय में सबसे प्राचीन भाष्य श्रीमदाद्य शंकराचार्य का उपलब्ध है। उनकी प्रसन्नगम्भीर लेखनी-द्वारा प्रसूत अर्थ, अत्यन्त मार्मिक रहस्य का उद्घाटन करते हैं। किन्तु वह तथ्य की ओर संकेतमात्र करते हैं, इसीलिये विद्वान् भी, उसके अर्थ समझने में असमर्थ होते हैं। शांकरभाष्य के अर्थों को खोलने के प्रयत्न अनेक विद्वान् तथा संन्यासी महात्माओं ने किये हैं। श्री स्वामी आनन्दगिरि आदि के प्रयास इसी निमित्त हैं। किन्तु जितनी विस्तृत व्याख्या, मार्मिक विश्लेषण, तत्त्व-निरूपण और स्वानुभूति समन्वित टीका श्री स्वामी शंकरानन्द सरस्वती की 'गीता तात्पर्यबोधिनी' है, उतनी अन्य नहीं। श्रीमधुसूदन सरस्वती की 'गूढार्थदीपिका' नामक व्याख्या भी विस्तृत और मार्मिक है। विद्वानों का कथन है—शांकरभाष्य श्रवणपरक, गूढार्थदीपिका मनन परक और तात्पर्यबोधिनी निदिध्यासन परक है। निश्चय ही इसमें तथ्य है। ये सभी व्याख्यायें अद्वैतानन्दरसामृत-प्रदान करनेवाली हैं।

इनके अतिरिक्त श्रीरामानुजाचार्य आदि अनेक विद्वानों के भाष्य हैं, जिनमें विशिष्टाद्वैत आदि के अनुसार भक्तिपरक गीता की व्याख्या है। आधुनिक टीकाओं में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक की टीका प्रसिद्ध है, योगी अरविन्द

घोष तथा श्री मोहनदास कर्मचन्द्र गान्धी की भी टीकायें हैं। ये कर्मपरक हैं। अन्य अनेक विद्वानों ने गीता का व्याख्यान किया है और अब भी व्याख्यान किये जा रहे हैं। इससे गीता की सर्वप्रियता सिद्ध होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'गीतातत्त्वदर्शन' में गीता का सार-संग्रह है। इसमें चार खण्ड हैं—१. अनुबन्ध चतुष्टय खण्ड, २. कर्मयोग खण्ड, ३. भक्तियोग खण्ड, और ४. ज्ञानयोग खण्ड। प्रत्येक खण्ड में चार-चार भाग हैं। प्रथम खण्ड में गीता का अधिकारी कौन है ? गीता का विषय क्या है ? सम्बन्ध तथा प्रमाण क्या हैं ? और गीता का मुख्य प्रयोजन क्या है ? इन विषयों पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय खण्ड में कर्म क्या है ? इसके कितने भेद हैं ? कर्म स्वतन्त्र मुक्ति-प्रदायक है या परम्परापूर्वक ? और कर्म का भक्ति तथा ज्ञान से क्या सम्बन्ध है ? आदि दिये गये हैं। भक्ति-योगखण्ड में साध्य-साधन भक्ति-स्वरूप का निरूपण, गीतोक्त भक्ति, योग, योग-द्वारा परलोक-गमन और भक्ति का ज्ञान से सम्बन्ध आदि अनेक विषय हैं। अन्तिम ज्ञान-योगखण्ड में, ज्ञान के साध्य-साधन का विचार, ज्ञान के लक्षण, जीव-जगत् के स्वरूप का तात्त्विक विवेचन, ज्ञान से मुक्ति और मुक्त के लक्षणों पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत पुस्तक में खण्डन-मण्डन का कोई स्थान नहीं है। किन्तु प्रतिपाद्य विषय-प्रतिपादन के लिये, पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष किया गया है, उसे खण्डन नहीं समझना चाहिये। यद्यपि हमने कोई नवीन बात नहीं कही है, प्राचीन शास्त्र, आचार्य और वर्तमान युग के विद्वान् जिसका डिंडिम घोष करते हैं, वही कहा है। तथापि गीता के सामान्य अध्ययनशील व्यक्ति के लिये, इसमें प्रचुर सामग्री मिलेगी। यदि 'गीतातत्त्वदर्शन' के प्रकाश में भगवद्गीताध्ययन किया जायगा, तो निश्चय ही विशेष आनन्द प्राप्त होगा। अनेक प्राचीन-नवीन ग्रन्थों से, विभिन्न प्रसंगों में, उनके ही शब्द अपना लिये हैं और कहीं-कहीं उनके भाव। इसके लिये उन पूज्यपाद महानुभावों के प्रति आभार प्रकट करते हैं।

'वेदान्तदर्शन' तथा उपनिषदों के आधार पर 'ब्रह्मतत्त्व' जब प्रकाशित हुआ था, तभी से इच्छा थी कि 'गीता' पर भी लिखना उचित होगा। क्योंकि प्रस्थानत्रय में गीता अधिक प्रचलित है। उस इच्छा की पूर्ति हुई। यदि पाठक समुचित ध्यानपूर्वक इसका अध्ययन करेंगे, तो गीता उनके लिये कल्पवृक्ष के समान भुक्ति-मुक्ति प्रदायिनी सिद्ध होगी। आशा है विद्वान् भी इसे देखेंगे और जहाँ त्रुटि हो, उसे बतलाने का कष्ट करेंगे।

लखनऊ
पौष, २०२५ वि०

—वैद्यनाथ अग्निहोत्री

जिनकी

दया - दृष्टि - द्वारा,

मूक वाणी - विशारद

एवं

जीव शिव हो जाता है ;

उन परम तत्त्वज्ञ गुरुदेव

के

पावन चरणारविन्दों में,

सादर समर्पित

अनुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ संख्या
१. अनुबन्ध चतुष्टय खण्ड		१—७६
१. प्रस्तुत खण्ड की आधार शिला	...	२
२. अधिकारी-मीमांसा	...	३
३. विषय-विमर्श	...	१९
४. प्रमाण-प्रकाश तथा सम्बन्ध-संगति	...	३९
५. परमार्थ-प्रयोजन	...	६५
२. कर्म-योग खण्ड		८१—१४०
१. प्रस्तुत खण्ड की आधार शिला	...	८२
२. कर्म के विभिन्न स्तर तथा स्वरूप	...	८३
३. अनासक्त एवं ईश्वरार्थ कर्म ही कर्तव्य	...	९९
४. कर्मयोग एवं फल	...	११६
५. कर्माकर्म-दर्शन एवं ज्ञानोत्तर कर्म	...	१३२
३. भक्ति-योग खण्ड		१४१--२००
१. प्रस्तुत खण्ड की आधार शिला	...	१४२
२. साध्य-साधनरूपा भक्ति का स्वरूप	...	१४३
३. योग-द्वारा मुक्ति-क्रम	...	१५७
४. ज्ञानगर्भित भक्ति	...	१७२
५. भक्ति से ज्ञान एवं ज्ञानोत्तर भक्ति	...	१८६
४. ज्ञान-योग खण्ड		२०१—२६८
१. प्रस्तुत खण्ड की आधार शिला	...	२०२
२. ज्ञान एक—साधन अनेक	...	२०३
३. "वासुदेवः सर्वमिति"	...	२२०
४. द्विविधा सृष्टि एवं ब्रह्म	...	२३७
५. विलक्षण ज्ञानी के लक्षण एवं मुक्ति	...	२५५

———

१

अनुबन्ध चतुष्टय खण्ड

प्रस्तुत खण्ड की आधार शिला

'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।'

—गीता अ० १८, ६७

'लोकेऽस्मिन्द्विविधानिष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।'

—गीता अ० ३, ३

'न कर्मणामनारम्भानैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेह सिद्धि समधिगच्छति ।।'

--गीता अ० ३, ४

'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।'

—गीता अ० ४, ३८

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।।'

—गीता अ० १५, १५

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं . कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।'

—गीता अ० ५, ३

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'

—गीता अ० १५, ७

'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।'

—गीता अ० ३, ३५

'यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्मसम्पद्यते तदा ।।'

—गीता अ० १३, ३०

अधिकारी-मीमांसा

भारतीय वाङ्मय में पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष–सर्वाङ्गीण पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हैं। पुरुष अपने लक्ष्य की परिपूर्ति के लिये जिन सुखों तथा साधनों को प्राप्त करने की अभिलाषा करता है, उनका ही नाम है पुरुषार्थ : **'पुरुषेण अर्थ्यते इति पुरुषार्थः'**। इस परिभाषा के अनुसार इसमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक सभी प्रकार की क्रिया, भावना और ज्ञान का समावेश हो जाता है। दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्ति ही मानव का लक्ष्य है और यही पुरुषार्थ है। मोक्ष तो वस्तुतः है—परम पुरुषार्थ। क्योंकि परमानन्दस्वरूप ही मोक्ष है। विश्व में सभी पदार्थ सुख के लिये होते हैं, किन्तु सुख अन्य के लिये नहीं होता। इसी प्रकार सभी पदार्थ आत्मा के लिये होते हैं, आत्मा किसी अन्य के लिये नहीं होता। सुख एवं आत्मा का एक ही लक्षण होने से आत्मा तथा सुख की एकता है। सुख एवं आत्मा दोनों ही निरुपाधिक तथा निरतिशय प्रेम के आस्पद माने जाते हैं। अन्य पदार्थ सोपाधिक तथा सातिशय होने से साधारण प्रेम के आस्पद होते हैं। इस प्रकार व्यक्त-अव्यक्त सभी पदार्थ सीमिति, विनाशी, विकारशील एवं परप्रकाश्य हैं और आत्मा स्वप्रकाश, नित्य, निर्विकार, अखण्ड, अनन्त एवं चिद्घनानन्द है। यही प्राणी का स्वरूप है, यही प्राप्तव्य है और यही मुक्ति पद वाच्य है।

सुखस्वरूप आत्मा सभी प्राणियों को प्राप्त है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर के आवरण से प्रतीत नहीं होता। मुख्य आवरण अज्ञान है। अज्ञान होने पर कामना होती है, कामना से कर्म और कर्म से भोग सम्पन्न होते हैं।

भोग से सुख-दुःख, राग-द्वेष एवं जन्म-मरण का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गादि अनेक नीचोच्च योनियों में जन्म-मरण एवं सुख-दुःख का हेतु मूलतः अज्ञान ही है। जन्म-जन्मान्तर एवं कल्प-कल्पान्तर के भोगों से भी प्राणी को शान्ति नहीं मिलती। वैषयिक पदार्थों में क्षणिक सुख तथा शान्ति होती है, अनन्तर पुनः सुख और शान्ति की खोज आरम्भ होती है। यही क्रम सदैव गतिशील रहता है। जब तक मूल अज्ञान का निवारण और आत्मदर्शन नहीं होता, तब तक अखण्ड, आनन्द, चिरस्थायी शान्ति एवं मुक्ति नहीं मिलती। अज्ञान निवारण होता है आत्मज्ञान से। अपरोक्ष आत्मदर्शन होने पर ही परमानन्दस्वरूप की प्रतीति होती है और जन्म-मरण का दुःखरूप प्रवाह निवृत्त होता है। यही मानव का सर्वोच्च लक्ष्य है, परम पुरुषार्थ है और जीवन की सार्थकता है।

अपने यहाँ वेद का स्थान अग्रगण्य है। वेद किसी पुरुष की कृति नहीं, वेद में प्रथम कर्मकाण्ड और अन्तिम ज्ञानकाण्ड है। वेद से अनुप्राणित पुराण, स्मृति, रामायण, महाभारत एवं दर्शनादि ग्रन्थों का प्रणयन महर्षियों की अनुपम देन हैं। मोक्ष का पूर्णरूपेण दिग्दर्शन इन ग्रन्थों में होता है और मोक्ष के आन्तरिक एवं बाह्य साधनों का भी प्रचुर उल्लेख मिलता है। विवेक, वैराग्य, शम, दम, योग, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन आदि साधन आन्तरिक हैं। वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल यज्ञ, दान, तप और स्वधर्म-परिपालन बाह्य साधन हैं। बहिर्मुख मानवों के लिये स्वधर्मानुष्ठान प्रथम सोपान है और श्रवणादि अन्तिम। पुरुषार्थ चतुष्टय में भी धर्म का स्थान प्रथम है और मोक्ष का अन्तिम। धर्म बीज है, बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। वृक्ष में पल्लव, पुष्प तथा फल लगते हैं। धर्म-वृक्ष में अर्थ पल्लव, काम पुष्प और मोक्षरूपी फल लगता है। अतः सभी पुरुषार्थों का मूल है धर्म। किन्तु धर्म-बुद्धि शिथिल देखकर महर्षि व्यासदेव अत्यन्त व्यथित हृदय से कहते हैं :

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।

(म० भा० स्व० ५/६२)

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।।

(म० भा० स्व० ५/६३)

"मैं दोनों भुजायें ऊपर उठा कर पुकार-पुकार कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से मोक्ष तो सिद्ध होता ही है, अर्थ और काम भी प्राप्त होते हैं तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते ?"

इसलिये 'कामना से, भय से, लोभ से अथवा जीवन-रक्षार्थ भी कभी धर्म त्यागनीय नहीं है। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य, इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धन का हेतु अनित्य '—

परमशान्ति संज्ञक मुक्ति के साधन ज्ञान, ध्यान एवं स्वधर्माचरण ऐक मात्र वेद से ही ज्ञात होते हैं। पूर्वयुग से उत्तरोत्तर मानव की आयु, प्रज्ञा एवं मेधा का ह्रास हो रहा है, इस कारण वेदाध्ययनाध्यापन की परम्परा का भी ह्रास होना स्वाभाविक है। द्वापर युग में भगवान् कृष्णद्वैपायन का अवतार वेद की परम्परा अक्षुण्ण रखने के लिये हुआ। उन्होंने वेद की विपुल राशि के चार विभाग किये। मन्त्र समुदाय से प्रकरण के अनुसार मन्त्रों का संग्रह ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व नामक चार संहिताओं में किया। अपने प्रमुख चार शिष्यों को एक-एक संहिता की शिक्षा दी। 'वह-वृच' नामक ऋक् संहिता पैल को पढ़ाई, 'निगद्' नामक यजुः संहिता का अध्ययन वैशम्पायन को कराया, 'छन्दोग' नामक संहिता जैमिनि को और 'अथर्वांगिरस' नामक अथर्व संहिता का अध्ययन सुमन्त को कराया। चारों शिष्यों ने इस परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिये प्रत्येक संहिता के पुनः विभाग किये तथा एक-एक विभाग अपने प्रत्येक शिष्य को अध्ययन कराये। उनके प्रशिष्यों ने भी सुकरता से वेद-ग्रहण करने के लिये पुनः विभाग किये। इस प्रकार ऋक् संहिता २१ विभागों में विभक्त हुआ, यह विभाग 'शाखा' के नाम से प्रसिद्ध हुये। यजुः संहिता की १०१ शाखायें बनीं, साम की १००० और अथर्व की ९ शाखायें बनाई गईं। इस प्रकार चारों संहिताओं की ११३१ शाखायें प्रसिद्ध हुईं।

वेदार्थ अति सूक्ष्म, गूढ़ एवं दुर्विज्ञेय है। इसलिये सभी पुरुषों को वेद से परम पुरुषार्थ असम्भव जान महर्षि वेदव्यास ने महाभारत की रचना की। **'भारतं पञ्चमो वेदः'** के अनुसार महाभारत पञ्चम वेद कहा जाता है। इसमें आख्यानों द्वारा सुन्दर, सरल तथा सुबोध प्रकाश सभी पुरुषार्थों पर डाला गया है, किन्तु धर्म तथा मोक्ष की प्रमुखता स्पष्ट प्रदर्शित है। महाभारत के मध्य श्रीकृष्णार्जुन-सम्वादस्वरूप अद्वैतामृत-वर्षिणी गीतोपनिषद् का वर्णन है। इसमें ७०० श्लोकों द्वारा सम्पूर्ण शास्त्रों का सारातिसार प्रस्तुत किया गया है।

गीता में लौकिक-पारलौकिक सभी दृष्टियों से मानव-कल्याण का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। विभिन्न स्तर पर स्थित पुरुषों को वहीं से उच्च स्थिति पर लाने के लिये कर्मयोग का इतना साङ्गोपाङ्ग वर्णन हैं, कि अन्यत्र दुर्लभ है। मानसिक क्षेत्र की भावनाओं के अनुसार विविध प्रतीकों एवं साधनों का विवरण है और बौद्धिक स्तर के विभिन्न विभेदों को लक्ष्य कर ज्ञान के अनेक साधनों का विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण गीता का तात्पर्य है—शोक, मोह, विस्मृति, भय और राग-द्वेष की निवृत्ति एवं सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदरहित, एक, अखण्ड, परमानन्द स्वरूप सच्चिदात्मा की प्राप्ति।

प्रत्येक ग्रन्थ का प्रणयन विशिष्ट प्रकार के पुरुष के लिये होता है, सभी ग्रन्थ प्रत्येक पुरुष के लिये उपयोगी नहीं हो सकते। गणित के विद्यार्थी के लिये भूगोल-

ग्रन्थ व्यर्थ हैं, इतिहास के छात्र के लिये वेदान्त का कोई उपयोग नहीं और वेदान्ती के लिये यज्ञादि-प्रतिपादक शास्त्र की कोई अपेक्षा नहीं। पञ्चम श्रेणी के छात्र के लिये दशम श्रेणी का पाठ्यक्रम और दशम श्रेणी के लिये पञ्चम श्रेणी का पाठ्यक्रम सर्वथा अनुपयोगी है। योग्यतानुसार ग्रन्थ का उपयोग और अयोग्य व्यक्ति के लिये उसका अनुपयोग होता है। उर्वरा भूमि में बीज बोने से अन्नादि का उत्पादन होता है, अनुर्वर क्षेत्र में बीज व्यर्थ जाता है। इसी प्रकार जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसमें ही आत्मज्ञान-प्रतिपादक शास्त्रोपदेश सफल होता है, अशुद्धान्तःकरण में नहीं। इसीलिये आवश्यकता है अधिकारी की।

अधिकारी और विषय का तादात्म्य सम्बन्ध आवश्यक है। सजातीय सम्बन्ध होने पर ही भोक्ता-भोग्य भाव बनता है, विजातीय में नहीं। रूप का भोक्ता नेत्र ही होता है, न कान होता है, न नाक, जिह्वा तथा त्वक् भी रूप-ग्रहण नहीं कर सकती। शब्दानुभूति कर्णेन्द्रिय ही करती है, गन्ध-ग्रहण नासिका, रसास्वादन रसना और स्पर्शानुभव त्वचा ही कर सकती है। इनमें सजातीय सम्बन्ध होने से स्वतः नैसर्गिक आकर्षण होता है। आकाश के सत्त्वगुण से कर्णेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है और तमोगुण से शब्द की। कर्ण तथा शब्द का मूल एक ही आकाश है, इसलिए एकजातीय सम्बन्ध है। सत्त्वगुण में श्रेष्ठता, ज्ञान तथा प्रकाश है और तमोगुण में निष्कृष्टता, अज्ञान तथा अन्धकार। इसीलिए सत्त्वगुण तथा उससे निर्मित इन्द्रियादि भोक्ता और तमोगुण तथा उससे निर्मित पदार्थ (विषय) भोग्य होते हैं। वायु के सत्त्वगुण से त्वक् और तमोगुण से स्पर्श, अग्नि के सत्त्वगुण से नेत्र तथा तमोगुण से रूप, जल के सत्त्वगुण से रसना तथा तमोगुण से रस एवं भूमि के सत्त्वगुण से नासिका और तमोगुण से गन्ध का निर्माण होता है। विषयेन्द्रिय में भोक्ता-भोग्य या ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध का यही सजातीय कारण है। यह नैसर्गिक प्रक्रिया है और नियम के अनुसार विश्व में सजातीय सम्बन्ध ही वास्तविक और तथ्यपूर्ण हैं। यही नियम गीता-ज्ञान और उसके अधिकारी पर भी लागू है। गीता का चरम लक्ष्य है ब्रह्मात्मा की प्राप्ति। ब्रह्मात्मा शुद्ध, सम, एक, अखण्ड और चिद्घनानन्द है, इसलिए इसके ग्रहण का अधिकारी वही है जिसका अन्तःकरण शुद्ध, सरल, शान्त, सम अद्वय, स्वप्रकाश, आनन्द और अखण्डभाव-संयुक्त हो। विवेक, वैराग्य, शमादिषट् सम्पत्ति एवं मुमुक्षुता जिस पुरुष में विकसित हों, वही गीता-ज्ञान–ग्रहण का अधिकारी है। ज्ञान से अज्ञान तथा अज्ञानजनित बन्धन का विनाश होता है और ज्ञानस्वरूप परम शान्ति की प्राप्ति। जो व्यक्ति ज्ञानाधिकारी नहीं हैं, उनके लिए विधान है कर्म का। कर्म से ज्ञानक्षेत्र में प्रवेश कर वह भी परमशान्ति प्राप्त कर सकते हैं। निष्काम, अनासक्त तथा फलाभिसन्धिरहित स्वधर्माचरणशील व्यक्ति ही गीतोक्त कर्म का अधिकारी है।

प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के अनुसार ग्रन्थकर्ता स्वयं विषय, अधिकारी, सम्बन्ध एवं प्रयोजन का शास्त्र में निर्देश करता है। इससे निःसंशय विषय आदि का ज्ञान हो जाता है। किन्तु गीता में स्पष्ट रूप से इनका वर्णन नहीं मिलता, क्योंकि गीता किसी की कृति नहीं है। महाभारत के युद्ध-क्षेत्र में धनुर्धारी अर्जुन को आत्मसंमोह तथा धर्मसंमोह उत्पन्न हुआ, उसके वाक्य, चेष्टा और भावभङ्गिमा की जो सहज प्रतिक्रिया भगवान् श्रीकृष्ण में हुई और भावोद्‌गार व्यक्त हुये, वही है गीता। यद्यपि वेदों की तरह गीता में अकर्तृत्व नहीं हैं, तथापि अन्य शास्त्र-कर्तृत्व और गीता में अन्तर है। इसका कारण है भगवान् श्रीकृष्ण की योग में स्थिति एवं सर्वज्ञता। युद्ध-क्षेत्र में जीवन-मरण के झूले में सारथ्य कर्म करते हुये भी वह योग में अवस्थित थे। **समत्वं योग उच्यते** (गी० २/४८) '—समभाव में स्थित होना ही योग है'। इसके अनुसार सिद्धि-असिद्धि, लाभालाभ, जय-पराजय, जीवन-मरण एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित, सत्वादि गुणों से पर और प्रकृति से उच्च स्थिति होती है सम की। एकमात्र आत्मा ही सम है, अन्य निसर्ग तथा नैसर्गिक पदार्थ विषम हैं। आत्माकाराकारित मानसिक वृत्तियों का तैलधारावत् अखण्ड प्रवाहित होना ही 'समत्व' है, यही योग है। उद्‌गम स्थान से प्रवाहित होने वाली नदी यदि उद्‌गम-स्थल में ही स्थित रहे, तो वह अनन्त सागर का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार यदि मानसिक वृत्तियों का अखण्ड प्रवाह आत्मा में ही सुस्थिर हो, तो वही अखण्ड, अनन्त, शान्त, चिदात्मसागर हो जाता है। भगवान् कृष्ण इसी आत्म-स्वरूपावस्थिति में थे। संमूढ अर्जुन के धर्म-विरुद्ध वचन तथा आचरण देखकर और उसके शरणागत होने पर जो उपदेश भगवान् ने दिया, वही है गीता। आत्मसागर-निमज्जित भगवान् की मानसिक वृत्ति प्राकृतिक क्षेत्र में आई और अर्जुन को उद्‌बोधन किया। यही कारण है कि गीता के एक-एक शब्द में आत्मरसानुभूति प्रस्फुटित हो रही है। ऐसी स्थिति में गीता-ग्रन्थ में अनुबन्ध चतुष्टय-न होना कोई आश्चर्य नहीं।

किन्तु गीता में अनुबन्धचतुष्टय का सर्वथा अभाव है, यह भी नहीं कहा जा सकता। सूत्र रूप से हम इसके दर्शन यत्र-तत्र पाते हैं। कहीं विधिरूप से और कहीं निषेध रूप से। अधिकारी के सम्बन्ध में स्वयं भगवान् कहते हैं :

इदं ते नातस्ताय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं नच मां योऽभ्यसूयति।। (गी० १८।६७)

'इस गीता शास्त्र को तपरहित व्यक्ति से न कहना, गुरु तथा ईश्वर का जो भक्त न हो उसे भी न सुनाना, श्रवण के अनिच्छुक और मुझमें दोषदृष्टि वाले व्यक्ति से भी न कहना।' इसमें अनधिकारी व्यक्ति का उल्लेख किया गया है, इसके विपरीत अधिकारी समझना चाहिये। तात्पर्य भौतिक विषयोपभोग से विरहित

जिसका तपोमय जीवन हो, गुरु तथा ईश्वर में पूज्यभावना, मंगलमयी गीता-श्रवण का इच्छुक एवं भगवान् में निर्दोष बुद्धि तथा श्रद्धा रखता हो, वह गीता-शास्त्र-श्रवण का अधिकारी है। तप तथा भक्त आदि की व्याख्या स्वयं गीता में की गई है। तप तीन प्रकार का है—कायिक, वाचिक एवं मानसिक :

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।

(१७/१४-१६)

'देव, ब्राह्मण, गुरु तथा ज्ञानी का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप कहे जाते हैं।' 'उद्वेग न करने वाला, सत्य, प्रिय तथा हितकारक वाक्य और स्वाध्याय का अभ्यास वाणी का तप कहलाता है।' 'मन की प्रसन्नता, अन्तःकरण की शान्तवृत्ति, मानसिक संयम, निग्रह और छल-कपटरहित व्यवहार यह मानसिक तप है।' ये तीनों तप शुभ भी हो सकते हैं और अशुभ भी। व्यक्ति की भावना के अनुसार फल का संयोग होता है और भावना सत्त्वादि गुणों के अनुसार होती है। तदनुसार तपादि समस्त व्यवहार होते हैं। इसी के अनुसार तपादि में और फल में भेद होता है। इसी दृष्टि से तप के तीन भेद गीता में हैं :

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।।
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।
मूढ़ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।

(गी० १७/१७-१९)

''उपर्युक्त तीन प्रकार का तप उत्तम श्रद्धापूर्वक, फलाकांक्षारहित एवं समाहित-चित्त पुरुषों द्वारा अनुष्ठित होने पर सात्विक कहा जाता है।' 'सत्कार, मान तथा पूजा के लिए दम्भपूर्वक जो तप किया जाता है, वह राजस कहलाता है यह तप अनिश्चित फलवाला और नाशवान् भी है।' 'जो तप शरीर को पीडा देकर या परपीडन के लिए मूढतापूर्वक आग्रह से किया जाता है, वह तप तामस है।' सत्त्वगुण निर्मल, स्वच्छ, ज्ञान देने वाला एवं प्रकाशक है। यही कारण है कि सर्वत्र सत्त्वगुणी-व्यक्ति का ही परमार्थ में अधिकार है। रजोगुण एवं तमोगुण सम्पन्न व्यक्ति काम तथा अर्थलोलुप होते हैं, इनकी बुद्धि परमार्थ की ओर जाती ही नहीं। वाणी तथा

शारीरिक क्रियाओं से व्यक्ति दूसरों को धोखा दे सकता है और प्रशंसनीय बन सकता है, किन्तु स्वयं परमार्थ-पथ का पथिक नहीं बन सकता। इसीलिए मानसिक शुद्धि, सरलता और संयम की प्रधानता कही गई है।

गीता में चार प्रकार के भक्त बतलाये गये हैं। यह विभाजन भक्त की भावना के अनुसार किया गया है और पुरुषार्थ चतुष्टय भी इनसे सम्बन्धित हैं। भगवान् कहते हैं :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तएकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (गी० ७/१६-१९)

"अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यकर्मा मनुष्य मेरा भजन-सेवन-करते हैं, भरतकुल-भूषण ! वे हैं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।' 'चारों में ज्ञानी भक्त सदैव मुझमें स्थित है, वह मुझ एक में अनन्य भक्तिवान् होने से श्रेष्ठ है, ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे भी अत्यन्त प्रिय है।' 'यद्यपि चारों भक्त श्रेष्ठ हैं, तथापि ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, मुझसे अन्य नहीं है, यह मेरा निश्चय है, क्योंकि वह समाहितचित होकर मुझमें स्थित है और मुझमें आने के लिए प्रवृत्त है।' 'अनेक जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझ अन्तरात्मस्वरूप वासुदेव को 'यह सब वासुदेव है' इस प्रकार प्रत्यक्ष प्राप्त होता है, वह महात्मा है और अत्यन्त दुर्लभ पुरुष है।" ज्ञानी भक्त निष्काम तथा अनन्य आत्मस्वरूप होने से 'यह सब और मैं वासुदेव हूँ' इस प्रकार निष्ठावान् होकर प्रत्यगभिन्न, परिपूर्ण, सच्चिदानन्दस्वरूप, परब्रह्म, परमात्मा का सेवन करता है अर्थात् महान् आत्मस्वरूप से स्थित रहने के कारण 'महात्मा' है। अन्य तीनों भक्त कामनायुक्त तथा भेदभावनापूर्वक भगवान् का सेवन करते हैं। जिज्ञासु भक्त में भगवान् तथा मोक्ष की कामना होने से वस्तुतः वह भी निष्कामी है, क्योंकि उसका कल्याण सन्निकट है। उसकी जिज्ञासा इस प्रकार होती है—"भगवान् का स्वरूप कैसा है ?, जीव तथा भगवान् का क्या सम्बन्ध है ? जगत् का सम्बन्ध भगवान् से और जीव से कैसा है ? एवं बन्धन तथा मुक्ति क्या है ?" आदि विचार पूर्वक वह ईश्वर की भक्ति करता है। अर्थार्थी भक्त वह हैं—जो धन, सम्पत्ति, मान, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, लौकिक ऐश्वर्य तथा पारलौकिक सुखों की कामना से भक्ति करते हैं। आर्त भक्त में आधि-व्याधि, शत्रु,

चोर, व्याघ्र आदि के भय से निवृत्त होने की कामना रहती है। अर्थार्थी तथा आर्तभक्त में भक्ति की गौणता है और कामना की प्रमुखता। किन्तु अभक्त से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि भक्ति के प्रभाव से वह भी कालान्तर में कामना से उठकर जिज्ञासु-श्रेणी में पहुँचेंगे। इसी प्रकार भक्त का अकल्याण तो कभी सम्भव ही नहीं।

श्रवणेच्छु व्यक्ति के लक्षण एवं गुरु के लक्षणों की ओर गीता संकेत करती है :

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ।। (गी० ४।३४)

"—वह ज्ञान आचार्य से प्राप्त होगा,उनके निकट जाकर दीर्घनमस्कार तथा सेवा करने पर वह प्रसन्न हों तब प्रश्न करने से ज्ञानी तथा तत्त्वदर्शी आचार्य तुम्हें ज्ञानोपदेश करेंगे।" आचार्य वेद, वेदान्त, न्याय आदि शास्त्रों में निपुण और ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की स्थिति में प्रतिष्ठित होने चाहियें। इसीलिये 'ज्ञानी' तथा 'तत्त्व-दर्शी' विशेषण दिये गये हैं। इसी प्रकार शिष्य में निष्कपट सेवापरायणता, गुरु-गृह में निवास और जिज्ञासा अवश्यम्भावी हो, तभी ज्ञान-प्राप्त होगा। ज्ञान-श्रवणेच्छुक को ज्ञान से लाभ होता है, क्योंकि वह अधिकारी है।

निर्गुण, निराकार ब्रह्म, सगुण, निराकार तथा सगुण, साकार ईश्वर में जो दोष-दृष्टि रखते हैं, वह भी गीता के अधिकारी नहीं हैं। इसके विपरीत जो पुरुष दोष-दृष्टि नहीं रखते, वही अधिकारी है :

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञान सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। (गी० ९/१)

"—यह गुह्यतम ब्रह्मज्ञान तुझ असूयारहित से कहूँगा, जिस ज्ञान को विज्ञान सहित जान कर संसार-बन्धन से मुक्त हो जाओगे।" अश्रद्धा तथा द्वेष होने पर पुरुष गुणों में दोष-दृष्टि करता है, इससे वह सद्गुण तथा ज्ञान से वंचित रहता है। किन्तु जिसमें श्रद्धा मात्र होती है, उसमें शनै-शनैः सद्गुणों का विकाश और ज्ञान-प्रकाश अवश्यमेव होते हैं। श्रद्धा के सम्बन्ध में गीता का कथन है :

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्य कर्मणाम् ।। (गी० १८/७१)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।। (गी० ४।३९-४०)

"—जो मानव श्रद्धायुक्त तथा दोष-दृष्टि रहित हो केवल गीता-श्रवण ही करता है, वह भी पापों से मुक्त हो पुण्यकर्मा पुरुषों के शुभ लोकों को प्राप्त हो जाता है।' 'श्रद्धांवान् पुरुष गुरु-सेवादि में तत्पर तथा संयतेन्द्रिय हो ज्ञान-प्राप्त करता है, ज्ञान-प्राप्त कर शीघ्र ही मोक्षरूप परम शान्ति पाता है।' 'अनात्मज्ञ, अश्रद्धालु तथा संशयशील पुरुष नष्ट हो जाते हैं, संशयग्रस्त को न यह लोक मिलता है, न परलोक और न सुख।" निष्कर्ष यही कि श्रद्धावान्, तपस्वी, ईश्वर-भक्त, गीता-श्रवणेच्छु और भगवान् में गुण-बुद्धि रखने वाला पुरुष गीता का अधिकारी है।

अधिकारी के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण भी है। अर्जुन ने सर्वप्रथम गीता-मृतरसास्वादन किया। उसमें क्या योग्यता थी? इस पर भी दृष्टि-डालने से अधिकारी का निर्णय सम्भव है। आततायी दुर्योधन से अत्यन्त समारोहपूर्वक युद्ध के लिये अर्जुन युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित हुआ। वहाँ स्वजन बन्धु-बान्धवों को देखकर उसके अन्तःकरण में ममता अंकुरित हुई। उनके विनाश-भय से वह डर गया। संजय मनः स्थिति का वर्णन करते हैं :

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥ (१।२७।२८)

"—उन युद्ध के लिये तत्पर सभी बन्धु-बान्धवों को देखकर अर्जुन को उन पर बड़ी करुणा हुई, विषादयुक्त हो उसने कहा।" यहाँ पर 'कृपया' शब्द का अर्थ है—'ममताजन्य स्नेह विशेष'। बन्धुवर्ग को युद्धार्थ देख ममता जाग्रत हुई और ममता से कृपा का आविर्भाव। कृपा से अन्तःकरण व्याप्त हो गया, इसीलिये विनाश से भय-भीत हो, विषाद करने लगा। यहाँ स्पष्टरूप से विदित होता है, कि अर्जुन को न तो आत्मस्वरूप का ज्ञान है और न स्वधर्म का। क्योंकि आत्मज्ञानी 'अहं' तथा 'मम' रूप अज्ञान से ग्रसित नहीं होता और स्वधर्मनिष्ठ, स्वधर्माचरण में ममता को कोई स्थान नहीं देता। वह स्वधर्म-पालन में स्वजन-परजन में भेद नहीं करता। आततायी कोई भी हो, धर्मशास्त्र में उसके बध का विधान है। विधिवेत्ता मनु की व्यवस्था के अनुसार :

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन॥ (मनु० ८।३५०)

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन्। (मनु० ८।३५१)

"—गुरु, बालक, वृद्ध तथा विद्वान् ब्राह्मण भी यदि आततायी हो, तो विना विचार किये उसका वध करना चाहिये।' 'आततायी के वध में कोई दोष नहीं होता।' किन्तु धर्मशास्त्र के विरुद्ध अर्जुन का कथन है :

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किंभोगैर्जीवितेन वा॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।। (गी० १।३२-३३)

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याममाधव ।। (गी० १।३६-३७)

"—कृष्ण! मैं विजय नहीं चाहता, राज्य तथा सुख भी नहीं चाहता, गोविन्द! राज्य से, भोग से तथा जीवित रहने से भी हमें क्या प्रयोजन ?' 'जिनके लिये हम राज्य, भोग तथा सुख चाहते हैं, वे ही सब प्राण और धन-त्याग कर युद्ध के लिये उपस्थित हैं ।' 'जनार्दन ! दुर्योधनादि को मार कर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियों को मारने से तो हमें पाप ही होगा ।' 'अतः अपने बन्धु दुर्योधनादि को हम मारना नहीं चाहते, माधव ! हम स्वजनों को मार कर कैसे सुखी होंगे ?'' स्व-कुल-विनाश और नरक-यातना की विभीषिका उपस्थित करते हुये अर्जुन कहते हैं :

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यतः ।।

(गी० १।४०-४५)

"—कुल के नष्ट होने पर सनातन-कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म-नष्ट होने पर सम्पूर्ण कुल पर अधर्म का अधिकार हो जाता है ।' 'कृष्ण ! अधर्म की अभिवृद्धि से कुलाङ्गनायें दूषित हो जाती हैं, स्त्रियाँ दूषित होने से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है ।' 'संकर-सन्तान कुल और कुलघातियों को नरक ले जाती है, क्योंकि तर्पण-पिण्डादि से रहित उनके पितर स्वस्थान से नरक में गिरते हैं ।' 'वर्णसंकर जाति को उत्पन्न

करने वाले कुलघातियों के उक्त दोषों से सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं।' 'जनार्दन ! जिनके कुलधर्मों का उच्छेद हो जाता है, उन पुरुषों का अनन्त काल तक नरक में वास रहता है—ऐसा हमने सुना है।' 'अहो ! आश्चर्य है कि हम लोग महान् पापकर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं, इस राज्यसुख के लोभ से स्वजन-विनाश के लिये उद्यत हैं।'' अर्जुन के इन भावोद्‌गारों का एक ही केन्द्रबिन्दु है—आत्मीयत्व। अपने शरीर में 'आत्मत्व' और शरीर के सम्बन्धियो में 'आत्मीयत्व' उसेथा। इसके पोषणार्थ वह स्वधर्म को भी तिलांजलि देने के लिये प्रस्तुत हो गया और इसके समर्थन में वर्णसंकर की उत्पत्ति तथा नरक-निवास का महान् चित्र उपस्थित करने लगा। स्वयं तो धर्म से च्युत हो रहा है, किन्तु सनातनधर्म, कुलधर्म और नारिधर्म के पतन का भयावह दृश्य उपस्थित करता है। उसे कितना धर्म-व्यामोह है! भगवान् संक्षिप्त, किन्तु मार्मिक उत्तर देते हैं :

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थिम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तोत्तिष्ठ परंतप ॥ (गी० २।२-३)

''—अर्जुन ! इस विषम परिस्थिति में तुम्हें यह मोह कैसे प्राप्त हुआ ? यह अनार्यों से सेवित, स्वर्ग का विरोधी और अपकीर्ति देने वाला है।' 'पार्थ ! नपुंसकता को त्यागो, यह तुम्हें शोभा नहीं देती, शत्रुदमन ! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिये उठो।'' भगवान् के उत्तर से स्पष्ट है कि अर्जुन के विचार सभी दृष्टियों से अनुचित हैं। न तो उनसे मोक्ष सिद्ध हो सकता है, न स्वर्गिक सुख और न कीर्ति ही मिलती है। एकमात्र ममता-वश वह अधर्माचरण में प्रवृत्त होने के लिये प्रस्तुत है। किन्तु बुद्धिमान् पुरुष की प्रवृत्ति के मुख्य तीन कारण होते हैं—१. मोक्ष, २. स्वर्ग-प्राप्ति और ६ कीर्ति। परन्तु स्वधर्म-त्याग से कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। आर्य मुमुक्षु—पुरुषों को स्वधर्म अत्यन्त प्रिय होता है, क्योंकि स्वधर्म-पालन से रागादि दोषों का निवारण तथा चित्त शुद्ध होता है। चित्त-शुद्ध होने पर श्रवणादि से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष स्वतः सिद्ध है। अतः मोक्ष के लिये स्वधर्म-पालन अनिवार्य है। किन्तु अर्जुन स्वधर्म-परित्याग करने के लिये प्रस्तुत है, इसलिये वह मोक्ष का अधिकारी नही है, यही भाव 'अनार्यजुष्टम्' से प्रकट किया गया है। 'अस्वर्ग्यम्' से सूचित होता है कि स्वर्गलोक भी अर्जुन को नहीं मिल सकता, क्योंकि स्वर्ग तो एकमात्र स्वधर्म-पालन से ही मिलता है और अर्जुन स्वधर्माचरण त्यागने के लिये प्रस्तुत है। विधर्म या अधर्म के सेवन से पाप होता है और पाप से नरक। 'अकीर्तिकरम्' से यह भाव व्यक्त किया गया है कि पापकर्मा को कभी भी कीर्ति नहीं मिलती, कीर्ति तो स्वधर्मशील व्यक्ति को ही वरण करती है। कुलाङ्गनाओं के

सम्बन्ध में जो दूषित विचार अर्जुन ने व्यक्त किये, उनका भी इस उत्तर से खण्डन हो जाता है। क्योंकि वह आर्य रमणियाँ हैं और आर्य स्त्रियाँ स्वधर्म-पालन-निष्ठ होती हैं। उनका लक्ष्य भौतिक सुखोपभोग नहीं होता, वह स्वर्गलोक अथवा मोक्ष के लिये अपने प्राणों को भी उत्सर्ग कर देती हैं। पर पुरुष-सेवनअनार्य नारियों का कार्य है। यदि तुम (अर्जुन) अनार्य-सेवित अधर्म का परिपालन करोगे तो श्रेष्ठ पुरुष का अनुकरण करने वाली नारियाँ भी स्वधर्म का परित्याग कर सकती हैं और इस पाप के भागी तुम होगे। इसके परिणाम स्वरूप तुम्हें नरक-यातना और अपकीर्ति ही मिलेगी। अत: स्वजनों की हेय ममता का परित्याग कर स्वधर्म-परिपालन ही श्रेयस्कर है।

भगवान् के कथन का अर्जुन पर कुछ प्रभाव पड़ा। उसने अपनी भ्रान्ति की ओर एक दृष्टि डाली। किन्तु 'किंकर्तव्य विमूढता' की दलदल से निकलने का साहस न हुआ। वह आततायी दुर्योधनादि के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझ रहा था, पर निर्दोष पितामह भीष्म तथा द्रोणाचार्य सरीखे गुरुजनों का वध तो महान् पापकर्म होगा—इसी भावना को व्यक्त करने के लिये उसने कहा :

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभि: प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥

न चैतद्विद्म: कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु:।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिता: प्रमुखे धार्तराष्ट्रा॥

(गी० २।४-६)

"—मधुसूदन! युद्ध में मैं भीष्म तथा द्रोणाचार्य के साथ वाणों से कैसे युद्ध करूँगा? क्योंकि अरिसूदन! वे मेरे पूज्यनीय हैं।' 'महान् प्रभावशाली गुरुजनों को न मार कर यदि लोक में भीख माँग कर खाना पड़े तो भी श्रेष्ठ है, इन गुरुजनों को मार कर तो मुझे इस लोक में रुधिर से सने हुये अर्थ तथा कामरूप भोगों का उपभोग करना पड़ेगा।' 'हम यह नहीं जानते कि हमारे लिये भिक्षा श्रेष्ठ है या युद्ध? यह भी नहीं जानते कि हम विजयी होंगे या वे, यदि युद्ध करें तो जिनको मार कर हम जीवित नहीं रहना चाहते, वे धृतराष्ट्र के सम्बन्धी भीष्म-द्रोणादि संग्राम में हमारे सम्मुख खड़े हैं।" अर्जुन की दृष्टि में युद्ध का परिणाम है विषयोपभोगमात्र, और विषयोपभोग अर्थ तथा काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत आते हैं। अर्थ तथा काम पुरुषार्थ हेय हैं यदि वह अधर्म से समन्वित हों। कुलपूज्य पितामह और ब्राह्मण शिरोमणि आचार्य द्रोण सदृश पूजनीयों के वधस्वरूप जो पुरुषार्थ प्राप्त होगा, क्या वह

धर्ममय होगा ? निश्चय ही वह अधर्ममय तथा पूजनीयों के रक्त से सना होगा । ऐसे भोग से तो भिक्षा माँग कर जीवन-व्यतीत करना श्रेयस्कर है । क्योंकि इससे न तो धर्म की सिद्धि होगी और न मोक्ष की । इस प्रकार के विचार अर्जुन के मन में उठ रहे थे । विचार-धारा आगे प्रवाहित होती है--क्या आततायी का रक्षक, पृष्ठपोषक और उसकी ओर से संग्राम करने वाला भी आततायी नहीं है ? ऐसी परिस्थिति में गुरुजन ही क्यों न हों, उनसे भी युद्ध करना क्या क्षात्रधर्म नहीं है ? पितामह भीष्म ने स्वयं प्रतिज्ञा-रक्षार्थ अपने गुरु परशुराम से युद्ध किया था, और उसकी श्रेष्ठ पुरुषों ने प्रशंसा की थी । तब क्या हमें भी युद्ध करना चाहिये ? क्या यही क्षत्रिय का स्व-धर्म है ? इससे भिक्षा माँग कर जीवन-निर्वाह करना क्या श्रेय नहीं ? बुद्धि भ्रमित हो रही थी अर्जुन की, किसी निश्चय पर वह नहीं पहुँच रहा था । उसके सम्मुख एक ही मार्ग था और वह था भगवान् की शरण । अपनी भावना को व्यक्त करते हुये अर्जुन ने प्रार्थना की :

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यतेऽहंशाधिमां त्वां प्रपन्नम् ।।
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाऽधिपत्यम् ।।
(गी० २/७-८)

"अज्ञान-दोष से मेरा स्वभाव आवृत्त हो गया है और अन्तःकरण धर्म के विषयों में विमूढ हो रहा है । इसलिये मैं आपसे पूछता हूँ, जो निश्चित श्रेय हो वह मुझसे कहिये, मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, मुझे उपदेश करिये ।' 'भूमि में निष्कण्टक सम्पूर्ण राज्य तथा इन्द्र-पद को भी पाकर मैं देह, इन्द्रियादि के संताप-जनित शोक को दूर करने वाला कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ ।" इन शब्दों में अर्जुन की स्पष्टता, त्याग, श्रेयोकांक्षा, निरभिमानता एवं शरणागति प्रकट हो रही है । अज्ञान-निवारण और ज्ञान-प्रकाश गुरु का कार्य है, वह शिष्य के प्रति ही होता है । इसीलिये अर्जुन शिष्यत्व स्वीकार करता है । 'भूमि में निष्कण्टक सम्पूर्ण राज्य' अर्थ तथा कामरूप पुरुषार्थ हैं, इसे वह अपने लिये नहीं चाहता । धर्म का फल है स्वर्गलोक का आधिपत्य, इसे भी अर्जुन संतापजनित शोक-दूर करने वाला नहीं समझता । निष्कर्ष यही कि अर्जून में विवेक, वैराग्यादि उदय होते हैं, उसकी भूमिका ऊपर उठती है और 'निश्चित श्रेय' की आकांक्षा जाग्रत होती है ।

'कार्पण्य दोष' का भान होने पर आत्म-ज्ञान के कपाट खुलने में अधिक बिलम्ब नहीं होता । कार्पण्य का वास्तविक अर्थ है--अनात्मज्ञ या अज्ञानी । 'कृपण' उसे कहा जाता है जोस्वल्प आर्थिक क्षति भी सहन नहीं करता । अर्थ में ही उसकी 'अहं' तथा

'मम' भावना होती है, अर्थ के विनाश से मानो स्वयं उसका विनाश होने लगता है। इसका कारण है आत्मा को न जानना यानी अज्ञान। अज्ञानी पुरुष ही प्राकृतिक वस्तु और व्यक्ति में 'अहं' तथा 'मम' की भावना से ग्रसित होकर बन्धन में पड़ते हैं, इसीलिये कृपण कहे जाते हैं। श्रुति भी है : **यो वा एतदक्षरंगार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्पैति स कृपणः** (बृ० ३।८।१०) "—गार्गि ! जो पुरुष इस लोक से अक्षर (ब्रह्मात्मा) को न जानकर मृत्यु का ग्रास बनता है, वह कृपण है।" 'कृपण' का भाव ही 'कार्पण्य' है अर्थात् अनात्मज्ञ। अनात्म शरीर में ही आत्मा का अध्यास होने से शरीर को 'मैं' और शरीर से सम्बन्धित व्यक्ति तथा वस्तु को 'मेरा' मानने की भ्रान्ति होती है। यही भ्रान्ति सम्पूर्ण अनर्थों की मूल है। इसके निवारण के लिये प्रयत्नशील होना ही परम पुरुषार्थ है। अन्त में अर्जुन की दृष्टि इस ओर गई और उसने भगवान् से श्रेयोमार्ग प्रदर्शित करने की प्रार्थना की। इस प्रकार सामान्य पुरुषों की तरह अर्जुन भी 'आत्मसंमूढ' था और 'धर्मसंमूढ' विशेषरूप से था ही। अतः आत्मज्ञान और धर्मज्ञान के उपदेश की आवश्यकता थी उसे। अर्जुन दोनों प्रकार के ज्ञान का अधिकारी है, इसलिये गीता के अधिकारी दो प्रकार के सिद्ध होते हैं। इसी कारण गीता में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों निष्ठाओं का विवेचन किया गया है।

अर्जुन मुमुक्षु है, इसका वर्णन गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान् ने दैवी सम्पत्ति के प्रसंग में कही है। वह कहते हैं :

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ (गी० १६/१-३)
दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायामासुरी मता।
मा शुचःसपदं दैवीम भिजातोऽसिपाण्डव॥ (गी० १६/५)

"—निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान तथा योग में स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप और सरलता।' 'अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, भूतों पर दया, विषयों के संयोग पर भी विकार रहित, कोमलता, लज्जा और व्यर्थ की क्रिया से रहित होना।' 'भारत ! तेजस्विता, क्षमा, धृति, बाहर-भीतर की शुद्धि, अद्रोह और अत्यन्त मान का अभाव—ये लक्षण दैवी सम्पत्तिशाली पुरुष में जन्मजात होते हैं।' 'दैवीसंपद् संसार से मोक्ष के लिये है और निस्संदेह आसुरी संपद् बन्धन के लिये, पाण्डव ! शोक मत करो. तुम दैवी संपद् लेकर उत्पन्न हुये हो।" इस प्रकार

भगवान् अर्जुन में मोक्ष की योग्यता बतला रहे हैं। दैवी संपत्ति भी अधिकारी पुरुष में आवश्यक है और मुक्ति की यही भूमिका है।

दैवी संपत्ति के लक्षणों में अन्तर-बाह्य दोनों प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः इन सभी का आचरण एक पुरुष एक ही समय कदापि नहीं कर सकता। क्योंकि एक ओर ज्ञान तथा योग में स्थित होना और दूसरी ओर यज्ञ, दान, तप तथा स्वाध्याय आदि करना सम्भव नहीं। शास्त्र तथा आचार्य से आत्मादि का जानना 'ज्ञान' है और जाने हुये पदार्थ में इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक एकाग्र मनोवृत्ति-द्वारा आत्मानुभव करना 'योग' है। इस प्रकार योग में स्थित पुरुष की एकात्मस्वरूपा निश्चल बुद्धिवृत्ति होती है। उस समय अन्य किसी भी बुद्धिवृत्ति का अभाव होने से अन्य की प्रतीति ही नहीं होती, अतःकर्ता, करण, क्रिया आदि सम्भव ही नहीं। और यज्ञ, दानादि में कर्ता, करणादि की अपेक्षा होती है, अतः बुद्धि अनेक वृत्तियों वाली निश्चित है। ऐसी परिस्थिति में दोनों का स्पष्ट विरोध है। एक साथ दोनों का अनुष्ठान सम्भव नहीं। हाँ, एक पुरुष भिन्न-भिन्न काल में दोनों के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान करने की योग्यता प्राप्त कर सकता है। इस पर प्रश्न किया जा सकता है— 'भगवान् ने दोनों विरोधी ज्ञान तथा कर्म का परिगणन एक ही पुरुष के लिये क्यों किया ?' इसका उत्तर है कि भगवान् एक पुरुष के लिये एक ही समय में दोनों का अनुष्ठान नहीं कहते हैं। उनका तो इतना ही कहना है कि यह दैवी संपत्ति है और तुम (अर्जुन) इस संपत्ति को लेकर उत्पन्न हुये हो। इसका तात्पर्य है कि अर्जुन की प्रकृति में दोनों के बीज वर्तमान हैं, किन्तु इस समय यज्ञ, दान, स्वाध्यायादि के बीज ही अंकुरित तथा पल्लवित हैं। अभी ज्ञान तथा योगादि के बीज अंकुरित नहीं हुये हैं। भूमि में अनेक पदार्थों के बीज जिस प्रकार रहते हैं, किन्तु वर्षा, काल आदि पाकर ही अंकुरित होते हैं, वैसे ही दैवी संपद् सम्पन्न व्यक्ति में ज्ञानादि के बीजों का सद्भाव रहता है, पर समय आने पर ही अंकुरित होते हैं। आत्मा अन्तरतम है। प्रथम बाह्य कर्मशील पुरुष होता है, फिर अन्तर की ओर अभिमुख होने पर अहिंसा, क्षमा आदि गुणों का विकाश। पुनः उपासना द्वारा एकाग्रता, शास्त्रादि से ज्ञान और अन्त में आत्मानुभव होता है। जिस पुरुष में जितने आन्तर गुणों का विकाश होता है, वह उतना ही शीघ्र आत्मा की ओर गतिशील होता है और आत्मानुभव प्राप्त करता है, वही श्रेष्ठ अधिकारी है। इस प्रकार आत्मज्ञान का भी अर्जुन अधिकारी सिद्ध होता है।

सबका सार यही कि सामान्य आत्म-संमोह सभी व्यक्तियों में होता है, धर्म-संमोह विशेष है। सामान्य से विशेष प्रबल माना जाता है। जो व्यक्ति धर्म-संमूढ है और धर्म-ज्ञान की उसमें जिज्ञासा है, वह गीता का विशेष अधिकारी है। जो आत्म-संमूढ है और आत्म-ज्ञान की जिज्ञासा रखता है, वह गीता का सामान्य अधिकारी

है । इस तरह गीता के अधिकारी दो प्रकार के पुरुष हैं । अर्जुन इन दोनों प्रकार के पुरुषों का प्रतिनिधित्व करता है । यद्यपि आत्मज्ञान होने पर धर्मज्ञान स्वतः हो जाता है और आत्मज्ञानी फिर धर्माधर्म से अतीत भी हो सकता है, तथापि विना धर्म-ज्ञान और धर्माचरण के आत्मज्ञान होना सम्भव ही नहीं । इसी लिये धर्म-ज्ञान को विशेष माना जाता है । आत्मा सबका आधार है, विना आधार धर्मादि किसी की भी सत्ता नहीं है । इसी लिये आत्म-ज्ञान को सामान्य कहा है । स्ववर्णाश्रम विहित धर्म का निष्काम अनुष्ठान करने पर चित्त शुद्ध होता है, चित्त शुद्ध होने पर जिज्ञासा होतीहै, जिज्ञासा होने पर गुरूपसत्ति और गुरु से आत्मज्ञान प्रतिपादक शास्त्रों का श्रवण होता है । श्रवण से मनन तथा निदिध्यासन पूर्वक आत्मानुभव होता है । आत्मानुभव से शरीर–वासना, भ्रम, तथा जन्म—मरण–बन्धन सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं । मुक्ति करामलकवत् प्रतीति होती है, उसके लिये किसी भी कर्म का न तो विधान है और न निषेध । वह कर्माकर्म क्षेत्र से ऊपर स्वयं ज्योतिःस्वरूप, परमानन्दघन, सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, भूमातत्त्व ही हो जाता है । वस्तुतः तो सभी प्राणी वह हैं ही । केवल उस समय स्वरूप की अनुभूति होती है और स्वरूपानुभूति से होती है कृतकृत्यता । आवश्यकता है केवल अधिकारी की ।

———

विषय-विमर्श

शास्त्र में शास्त्रकार अनेक विषयों का समावेश करता है, किन्तु मुख्य प्रतिपाद्य विषय एक ही होता है। प्रतिपाद्य विषय अंगी, साध्य एवं मुख्य होता है, अन्य विषय अंग, साधन और गौण होते हैं। अन्य अनेक विषयों का वर्णन स्वाभाविक होता है, क्योंकि इससे प्रतिपाद्य विषय सम्पुष्ट हो जाता है। गीता शास्त्र में भी इसी शैली से प्रतिपादन किया गया है। गीता का तात्पर्य परम पुरुषार्थ मोक्ष है और मोक्ष होता है, एकमात्र ज्ञान से। इसलिये ज्ञान ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। किन्तु ज्ञान के साधन भक्ति, योग तथा कर्म आदि होते हैं, इसीलिए इनका भी वर्णन किया गया है। पर अनेक विद्वानों ने भ्रम से साधनों को ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय मान लिया। जिस प्रकार एक ही वस्तु रक्त, पीत, हरित, श्याम तथा श्वेतादि शीशे से रक्त, पीतादि रंग की दिखाई पड़ती है, वैसे ही विभिन्न बुद्धियों के अनुसार विद्वानों को भी गीता का प्रतिपाद्य विषय भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ा।

एक विद्वान् ने बड़े समारोह पूर्वक गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रवृत्तकर्म' ही सिद्ध किया है। इसके समर्थन में अनेक युक्तियाँ तथा प्रमाण भी प्रदर्शित किये हैं। उनका कहना है—'यदि हमें गीता के उपदेश का रहस्य जानना है, तो उपक्रमोपसंहार और परिणाम को अवश्य ध्यान में रखना पड़ेगा। भक्ति से मोक्ष कैसे मिलता है? ब्रह्मज्ञान या पातञ्जल योग से मोक्ष की सिद्धि कैसे होती है? इत्यादि, केवल निवृति मार्ग या कर्मत्यागरूप संन्यास-धर्म सम्बन्धी प्रश्नों की चर्चा करने का कुछ उद्देश्य नहीं था। भगवान् श्रीकृष्ण का यह उद्देश्य नहीं था कि अर्जुन संन्यास-दीक्षा लेकर और वैरागी बन कर भीख माँगता फिरे या लँगोटी लगाकर और नीम के पत्ते

खाकर मृत्युपर्यन्त हिमालय में योगाभ्यास साधता रहे। अथवा भगवान् का यह भी उद्देश्य नहीं था, कि अर्जुन धनुष–वाण फेंक दे और हाथ में वीणा तथा मृदंग लेकर कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि में उपस्थित भारतीय क्षात्र समाज के सामने भगन्नाम का उच्चारण करता हुआ, बृहन्नला के समान और एक बार अपना नाच दिखावें। अब तो अज्ञातवास पूरा हो गया था और अर्जुन को कुरुक्षेत्र में खड़े होकर और ही प्रकार का नाच नाचना था। गीता कहते कहते स्थान-स्थान पर भगवान् ने अनेक प्रकार के कारण बतलाये हैं और अन्त में अनुमान दर्शक अत्यन्त महत्व के **'तस्मात्'** ('इसलिए') पद का उपयोग करके अर्जुन को यही निश्चितार्थक कर्म-विषयक उपदेश दिया है, कि **'तस्माद्युध्यस्व भारत'** (गी० २।१८)—इसलिये हे अर्जुन तू युद्ध कर, **'तस्मादुतिष्ठ कौन्तेय युद्धायकृतनिश्चयः'** (गी० २।३७)—इसलिए हे कौन्तेय। तू युद्ध का निश्चय करके उठ, ...और अन्त में (गी० १८।७२) भगवान् ने अर्जुन से प्रश्न किया कि 'हे अर्जुन ! तेरा अज्ञान–मोह अभी तक नष्ट हुआ कि नहीं ?' इस पर अर्जुन ने सन्तोष जनक उत्तर दिया—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

—गीता अ० १८, ७३

"अच्युत ! स्वकर्तव्य सम्बन्धी मेरा मोह और सन्देह नष्ट हो गया है, अब मैं आपके कथनानुसार सब काम करूँगा।' यह अर्जुन का केवल मौखिक उत्तर नहीं था, उसने सचमुच उस युद्ध में भीष्म-कर्ण-जयद्रथ आदि का वध भी किया।' अन्त में वह निष्कर्ष लिखते हैं—'इससे यही बात सिद्ध होती है, कि प्रवृत्ति धर्म ही का ज्ञान गीता का प्रधान विषय है, और अन्य सब बातें उस प्रधान बिषय ही की सिद्धि के लिये कही गई हैं अर्थात् वे सब आनुषंगिक हैं। अतएव गीता धर्म का रहस्य भी प्रवृत्ति विषयक अर्थात् कर्म विषयक ही होना चाहिये।'

किन्तु विद्वान् लेखक की युक्तियाँ तथा निष्कर्ष आपातरमणीय होने पर भी स्वीकार करने में संकोच होता है, क्योंकि शास्त्र के विरुद्ध हैं। भगवान् मनु प्रवृत्त तथा निवृत्त कर्म का विश्लेषण करते हुये कहते हैं :

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामिति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतानत्येति पञ्च वै ॥

(मनु० १२।८८-९०)

"—प्रवृत्त तथा निवृत्त दो प्रकार का वैदिक कर्म है, सांसारिक तथा स्वर्गिक सुख का कारण प्रवृत्त कर्म है और निःश्रेयस (मोक्ष) का कारण निवृत्त कर्म है।' 'इस लोक तथा स्वर्गादि लोक के प्रवृत्ति का कारण होने से काम्यकर्मा को 'प्रवृत्त कर्म' कहा जा सकता है और मोक्ष के लिये ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म को 'निवृत्तकर्म' कहते है।' प्रवृत्तकर्म का उत्तमरीति से सेवन करने पर देवों का साम्य प्राप्त होता है और निवृत्तकर्म के अनुष्ठान से पञ्चभूतों का अतिक्रमण कर मोक्ष पाता है।" इस विश्लेषण से, अर्जुन के कथन से और भगवान् के उपदेश से यही सिद्ध होता है, कि कामनायुक्त कर्मानुष्ठान करने से सांसारिक सुख ही मिलते हैं और वह नाशवान् होते हैं, भले ही इन्द्र का पद क्यों न हो। स्वर्गादि सुख-क्षीण होने पर पुनः मृतलोक में जन्म और कर्म का प्रवाह चल पड़ता है, यही तो प्रवृत्तकर्म है। इसीलिये अर्जुन इन सुखों को नहीं चाहता। भगवान् भी कहते हैं: **'ते तंभुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते"** (गी० ९।२१)'—वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर इस मृत्युलोक में लौट अाते हैं, इस प्रकार वैदिक कर्मों का आश्रय लेने वाले कामकामी पुरुष गमनागमन पाते है।' इसी कारण भगवान् स्थान-थान पर कामना, फल तथा आसक्तिरहित कर्म का उपदेश करते हैं। **'मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'** (गी० २।४७)—तुम कर्मफल का कारण मत वनो और अकर्म में भी **आसक्त न** होओ, **'योगस्थः कुरुकर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय। सिद्ध्यासिद्धोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।'** (गी० २।४८)—धनञ्जय! योगस्थ होकर, आशा त्यागकर और सिद्धि-असिद्धि में सम होकर कर्म करो, क्योंकि समता ही योग है, **'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय। बुद्धौशरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥'** (गीता २।४९) —धनञ्जय! बुद्धियोग कर्मों से सकाम कर्म निकृष्ट हैं, इसलिए तुम बुद्धियोग की शरण जाओ, क्योंकि फल–तृष्णायुक्त सकाम कर्म करने वाला कृपण दीन–है, **'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्'** (गीता ३।४३) —महाबाहो! कामरूप दुर्जय शत्रु का त्याग करो, इत्यादि स्थानों पर कामनापूर्वक कर्मों को निकृष्ट, त्याज्य तथा नाशवान् कहा है और नैष्कर्म्य का ही उपदेश दिया है। नैष्कर्म्य ज्ञान का साधन है, इसीलिए वह निवृत्त कर्म है। अतएव गीता में निवृत्तकर्म का ही प्रतिपादन है, प्रवृत्तकर्म का नहीं।

भगवान् श्रीकृष्ण के निर्देशपरक वाक्य से गीता का विषय निश्चित करना भी उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि **'तस्माद्युध्यस्व भारत'** (गी० २।१८)–इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध कर, इसके समान अन्य अनेक वाक्य भी हैं, जिसमें कर्म से अधिक योगादि का प्रतिपादन और निदश दिया गया है। उदाहरणार्थ—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक: ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।
(गीता ६।४६)

"—तपस्वियों और ज्ञानियों से भी योगी अधिक है, कर्मियों से भी योगी अधिक श्रेष्ठ हैं, इसलिये हे अर्जुन ! तुम योगी बनो ।" इसमें सबसे श्रेष्ठ योगी कहा गया है और योगी बनने का आदेश भी भगवान् देते हैं । श्रेष्ठ योगी की स्पष्ट परिभाषा भगवान् बतलाते हैं :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गेतनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत: ।।
(गी० ६।४७)

"—समस्त योगियों में भी जो योगी श्रद्धापूर्वक मुझमें अन्त:करण को समाहित कर मुझे भजता है, उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूं ।" आगे स्वय भगवान् अपने वास्तविक तत्व का वर्णन करते हुये कहते हैं :

अह कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा ।
(गी० ७।६)

"—सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति तथा विनाशक मैं हूं ।"

मत्त: परतर नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगणा इव ।।
(गी० ७।७)

"—धनंजय ! मुझ परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई जगत् का कारण नहीं है, मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् तथा जीव सूत्र में मणियों की भाँति ग्रथित हैं ।" जिस प्रकार भगवान् रुद्र, आदित्य आदि ईश्वरों से श्रेष्ठ सर्वाधिष्ठान, सर्वव्यापक परमात्मतत्व को ही भजनीय बतलाते हैं, उसी प्रकार आर्त, जिज्ञासु. अर्थार्थी एवं ज्ञानी भक्तों में भी ज्ञानी भक्त को सबसे श्रेष्ठ और अपना आत्मा ही कहते हैं । **तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते** (गी० ७-१७) '—चारों में ज्ञानी भक्त सदा मुझमें स्थित है, वह एक मुझमें अनन्य भक्तिवाला होने से श्रेष्ठ है', **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्** (गी० ७।१८) '—किन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, यह मेरा निश्चय है ।' इस प्रकार वास्तव में ज्ञानी ही योगी है और ज्ञानयोग उसका योग है । **'तस्माद्योगी भवार्जुन'** (गी० ६।४६)—इसलिये अर्जुन ! तुम योगी बनो, इस कथन से ज्ञानयोग सम्पन्न बनने का निर्देश होने से गीता का विषय ज्ञान सिद्ध होता है ।

उपासना तथा कर्म के समुच्चय का निर्देश भी भगवान् देते हैं—**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च** (गी० ८।७) "—इसलिए तुम सब समय मेरा स्मरण

(चिन्तन) करो और युद्ध करो।" आगे पातंजलयोग का भी इसी प्रकार निर्देश मिलता है—**तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन** (गी० ८।२७) '—इसलिये हे अर्जुन ! तुम सब समय योगयुक्त होओ।' भजनीय ईश्वर का भजन करने के लिये भी भगवान् कहते हैं :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(गी० ९।३४)

"—तुम मुझमें मनवाले हो, मेरी भक्ति करो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो, इस प्रकार मुझमें चित्त लगाकर, मेरे परायण हुये तुम मुझ आत्मा को ही प्राप्त हो जाओगे।" गीता के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण वेदान्तविहित सम्यग्दर्शनस्वरूप ज्ञान का निर्देश देते हैं :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्वामि मा शुचः॥
(गी० १८।६६)

"—तुम सम्पूर्ण धर्माधर्मों का परित्याग कर एक मेरी ही शरण जाओ, मैं सब पापों से तुम्हें मुक्त कर दूंगा, तुम शोक मत करो।" इसमें स्पष्ट निष्कर्मभाव का प्रतिपादन मिलता है। अत: गीता का मुख्य प्रतिपाद्यविषय कर्म नहीं हो सकता। कर्म बाह्य तथा स्थूल हैं और उपासना आन्तर तथा सूक्ष्म, उपासना से भी आन्तर तथा सूक्ष्म ज्ञान है, इसलिये ज्ञान सबसे श्रेष्ठ है। भगवान् ने पहले कर्म का निर्देश दिया, फिर उपासना (योग या भक्ति) का और अन्त में ज्ञानोपदेश देते हुये सर्वकर्मों का परित्याग बतला कर गीता का उपसंहार किया। अतएव गीता का प्रतिपाद्य विषय साधनरूप से कर्म तथा उपासना है और साध्य है ज्ञान। ज्ञान ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय सिद्ध होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि गीतोपदेश में अर्जुन ने स्वधर्माचरणरूप धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध का मार्ग ही अपनाया। न तो हाथ में वीणा तथा मृदंग लेकर भगवन्नामोच्चारण करते हुये बृहन्नला के समान नाच कर भक्ति का प्रदर्शन किया और न संन्यास-दीक्षा लेकर भीख ही माँगी। किन्तु इस परिणाम से यह निष्कर्ष निकालना कि सम्पूर्ण गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्म ही है, सर्वथा अनुचित है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है, कि अर्जुन का अधिकार मुख्यत: कर्म ही का था। क्योंकि 'कार्पण्य-दोष' अनात्मज्ञदोष अर्जुन में सामान्य जनों की भाँति था ही, पर **'धर्मसंमूढ'** भी विशेषरूप से वह था। सामान्य से विशेष बलवान् होता है, इसलिये पहले विशेष-दोष—निवारण कर्तव्य हो जाता है और पश्चात् सामान्यदोष। जैसे सभी पुरुष शरीर को 'मैं' मानते हैं—यह आत्मा का सामान्य अज्ञान है। कोई एक पुरुष शरीर को

'मैं' मानता हुआ भी शरीर के वस्त्र को 'मैं' मानने लगता है—यह उसका विशेष अज्ञान है। विशेष से सामान्य आच्छादित हो जाता है, इसीलिये विशेष बलवान् कहा जाता है। पहले वस्त्र से 'मैं' भावना का निराकरण होने के पश्चात् शरीर से 'मैं' भावना का निराकरण सम्भव होगा। यही बात आत्मज्ञान और धर्मज्ञान के सम्बन्ध में भी है। पहले धर्मज्ञान तथा धर्माचरण कर्तव्य होता है, फिर आत्मज्ञान। क्योंकि निष्काम स्वधर्माचरण से ही ज्ञान की योग्यता आती है। इसी अभिप्राय से भगवान् का कहना है—**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते** (गी० ३।४) '—कर्मों का आरम्भ किये विना मनुष्य निष्कर्म भाव को नहीं पाता।' **सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते** (गी० ४।३३) '—हे पार्थ ! सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं।' इस प्रकार स्थान-स्थान पर गीता में प्रथम सोपान कहा गया है कर्म और अन्तिम सोपान ज्ञान।

आचार्य शिष्यों को एक ही उपदेश देते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न संस्कारों के अनुसार शिष्यगण उपदेश का पृथक्-पृथक् भाव ग्रहण करते हैं। संस्कारानुसार उनके लिये वही भाव ग्राह्य हो सकते हैं, किन्तु आचार्य का भी वही तात्पर्य था—यह कहना सर्वथा संगत नहीं हो सकता। क्योंकि कोई शिष्य किसी अंश को प्राधान्य देता है और कोई अन्य अंश को। यद्यपि शिष्य के लिये ग्राह्य अंश ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह उसी का अधिकारी है, तथापि आचार्य का तात्पर्य साधन अंश से मुख्य साध्य विषय पर्यन्त उपदेश करना होता है। साधन में विकास क्रम होता है। जैसे प्रथम श्रेणी के पश्चात् द्वितीय और द्वितीय के पश्चात् तृतीय, इसी प्रकार वैदिक सकाम कर्म, पुनः निष्काम कर्म, वैराग्य, विवेक, इन्द्रियनिग्रह, भक्ति और अन्त में ज्ञान साधन पर सभी साधनों की समाप्ति होती है। सभी साधनों का साध्य अन्तिम साधन ज्ञान है। ज्ञान से ही मोक्ष होता है, और मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। ज्ञान का सर्वाधिक महत्व है, यही श्रेय है और इसीलिये गीता का मुख्य प्रतिपाद्य भी यही है।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' में एक आख्यायिका है। प्रजापति के तीन पुत्र थे—देव, मनुष्य और असुर। तीनों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया और प्रजापति से उपदेश देने की प्रार्थना की। प्रजापति ने देवों को 'द' उपदेश किया और पूछा—'समझ गये ?' देवों ने कहा—'समझ गये, आपने हमसे 'दमन' करने के लिये कहा है।' प्रजापति ने उत्तर दिया—'ठीक है, तुम समझ गये।' मनुष्यों को भी प्रजापति ने 'द' अक्षर का ही उपदेश दिया और पूछा—'समझ गये'। मनुष्यों ने कहा—'समझ गये, आपने हमें 'दान' करने का उपदेश दिया है'। प्रजापति ने उत्तर में कहा—'ठीक, समझ गये'। असुरों की प्रार्थना पर प्रजापति ने उनसे भी 'द' अक्षर ही कहा और प्रश्न किया—'समझ गये क्या ?'। असुरों ने कहा—'समझ गये आपने हमसे 'दया' करने के लिये कहा है'। 'ठीक है, समझ गये' प्रजापति ने उत्तर दिया। प्रजा-

पति का एक ही 'द' अक्षर के उपदेश से तात्पर्य था—दमन करो, दान दो और दया करो। किन्तु विभिन्न स्तरों के अधिकारी होने से तीनों ने एक-एक अंश ही ग्रहण किया और अधिकारानुसार प्रजापति ने भी अनुमोदन किया। मनुष्यों को दान करते देख कर यदि कोई कहे कि 'प्रजापति के 'द' का तात्पर्य एकमात्र दान ही था, क्योंकि परिणाम में दान देखा जाता है', तो यह सर्वथा असंगत ही होगा। इसी प्रकार अर्जुन को युद्ध कर्म करते देख यह कहना कि गीतोपदेश का तात्पर्य प्रवृत्ति कर्म ही है, सर्वथा असंगत और अनुचित है।

कुछ विद्वान् गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'भक्ति' कहते हैं। उनका कथन है "पाण्डुपुत्र अर्जुन को युद्धार्थ प्रोत्साहन देने के बहाने परमपुरुषार्थ मोक्ष के साधनरूप से वेदान्त में वर्णित, ज्ञान-कर्म के द्वारा साध्य, स्वविषयक भक्तियोग को प्रकट किया।" इन शब्दों से यह प्रकट किया गया है कि ज्ञान तथा कर्म साधन हैं भक्ति के और साध्य है भक्ति। भक्ति से ही परमपुरुषार्थ मोक्ष सिद्ध होता है और इसीका वेदान्त भी समर्थन करते हैं। वह उपासना (भक्ति) को अङ्गी और ज्ञान-कर्म को अङ्ग मानते हैं। उपासना ही वह उपाय है जिससे श्रीनारायण प्राप्त होते हैं। उनका कहना है—"नारायण की प्राप्ति के उपायरूप उनकी उपासना का वर्णन करने के लिये उपासना के अङ्गरूप प्रत्यागात्मा के यथार्थ आत्मदर्शन का जो आत्मज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठान से सिद्ध होता है, वर्णन किया गया।" उपासना का स्वरूप बतलाते हुये वह कहते हैं—"स्मरण किया जाने वाला विषय अत्यन्त प्रिय होने से जो स्वयं भी अत्यन्त प्रियरूप है, इस चिन्तन-प्रवाह को ही उपासना शब्द से कहा जाता है, उसी को 'भक्ति' कहते हैं।"

'वेदान्त में मुख्यतः भक्ति का प्रतिपादन है और कर्म तथा ज्ञान भक्ति के साधन हैं'—यही उनकी कल्पना है। वेदान्त में तो मुख्यतः ज्ञान विषय ही प्रतिपाद्य है। कर्म तथा उपासना ज्ञान के साधन कहे गये हैं और ज्ञान साध्य। ज्ञान से ही ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य होता है एवं ऐक्यज्ञान से ही मोक्ष। इसके विपरीत कोई भी कल्पना हो, अशास्त्रीय है। वेद में तीन काण्ड प्रसिद्ध हैं—कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्ड ही वेदान्त या उपनिषद् के नाम से कहा जाता है और यही अन्तिम काण्ड है। 'भागवत' एकादश स्कन्ध में कहा गया है—'जो पुरुष वैराग्यशील हैं और कर्म तथा फल का त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। इसके विपरीय जो काम परायण, फलासक्त और जिनका चित्त वैराग्यशील नहीं है, वे कर्मयोग के अधिकारी हैं। जो पुरुष न तो अत्यन्त वैराग्यशील हैं और न अत्यन्त कामासक्त हैं एवं पूर्वजन्म के शुभकर्म से जिन्हें भगवान् की लीला-कथा में श्रद्धा है, वे भक्तियोग के अधिकारी हैं। उन्हें भक्तियोग से सिद्धि प्राप्त हो सकती है :

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णाचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगो ऽस्य सिद्धिदः ।।
(भा० ११।२०।७-८)

इस वर्णन से सिद्ध होता है, कि उपासना कर्म तथा ज्ञान के मध्य है और इसके अधिकारी भी मध्यम श्रेणी के हैं । ज्ञान अन्तिम स्थिति है और इसके अधिकारी भी अत्युच्च श्रेणी के होते हैं । इसी स्थिति से ज्ञानस्वरूप पर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । साक्षात्कार होने पर जन्म-मरण, शोक-मोह आदि—बन्धन से सर्वदा के लिये मुक्ति हो जाती है, वह स्वयं पर ब्रह्म ही हो जाता है । वस्तुतः तो वेद के तीनों काण्डों का तात्पर्य एक मात्र ज्ञान ही है, किन्तु कामासक्त पुरुषों की बुद्धि वैषयिक विषयों से इतनी अच्छादित रहती है, कि वह इस तात्पर्य को समझ ही नहीं पाते । इसीलिये सकाम कर्मों का वर्णन पहले किया गया है, कामना के प्रलोभन से पुरुष की प्रवृत्ति इसमें होती है, फिर इसके अनुष्ठान से शनैः-शनैः कामना का निवारण हो निष्काम कर्मों का अनुष्ठान होने लगता है । निष्काम अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से होने पर चित्त शीघ्रतापूर्वक निर्मल होने लगता है, तब वैराग्योदय और भक्ति की प्रधानता होती है । भक्ति से सम्पूर्ण कलुष धुल जाते हैं, चित्त निर्मल और एकाग्र हो जाता है तब ज्ञानोदय की योग्यता आती है । ज्ञानोदय होने पर अज्ञानतम का विनाश होता है, स्वरूप का साक्षात्कार होता है और मुक्ति करामलकवत् प्रतीति होती है । इस प्रकार सम्पूर्ण वेदों का ब्रह्मज्ञान में ही पर्यवसान है । इसी आशय को ये श्लोक अभिव्यक्त करते हैं :

वेदा ब्रह्मात्मविषया त्रिकाण्डविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ।।
(भा० ११।२१।३५)

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयो विवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्य रोचनम् ।।
(भा० ११।२१।२३)

"—वेदों के तीनों काण्डों—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड—का विषय है ब्रह्म और आत्मा की एकता अर्थात् ज्ञान, किन्तु मन्त्रदृष्टा ऋषि इस गुप्त विषय को स्पष्ट नहीं करते अतः वह परोक्षवादी हैं और परोक्षकथन मुझे (भगवान् कृष्ण को) भी प्रिय है । "काम्य श्रुतियाँ मनुष्यों के लिये स्वर्गादि फल को परम पुरुषार्थ नहीं कहतीं, किन्तु कामनाशील पुरुषों के लिये अन्तःकरण-शुद्धि के द्वारा मोक्ष की विवक्षा से कर्मों में रुचि उत्पन्न करने के लिये ही फल का वर्णन करती हैं, जैसे बालक को कटु ओषधि पिलाने के लिये शर्करा का लोभ दिखाया जाता है ।" इस प्रकार जब कर्म प्रधान कर्म-काण्ड का विषय एक मात्र ज्ञान ही है, तब ज्ञानकाण्ड

वेदान्त के लिये तो कहना ही क्या ! वह तो मुख्यत: ज्ञान का प्रतिपादक ही है। भागवत में वेदान्त के विषय और प्रयोजन इन शब्दों में कहे गये है :

सर्व वेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैक प्रयोजनम् ॥
(भा० १२।१३।१२)

"—सम्पूर्ण वेदान्तों का जो सार स्वरूप हैं, वह है ब्रह्म और आत्मा की एकता, अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व में स्थिति का एकमात्र प्रयोजन है मोक्ष।" इस प्रमाण से असंदिग्ध रूप से यह निश्चित होता है, कि वेदान्त का एकमात्र विषय है ज्ञान और ज्ञान का फल है मोक्ष ।

स्वयं उपनिषदों में ही एकमात्र ज्ञान से पर ब्रह्म स्वरूप मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है । '**ईशं तं ज्ञात्वामृताभवन्ति**' (श्वे० ३।७)—उस परमेश्वर को जान कर जीव अमर हो जाते हैं. **तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था** विद्यतेऽनाय (श्वे० ३।८)—उस प्रकाश स्वरूप का ज्ञान होने पर पुरुष मृत्युन्को पार कर लेते हैं, इसके अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं है, '**ज्ञात्वा शिव शान्तिमत्यन्तमेति**' (श्वे० ४।१४)—शिव को जानकर पुरुष परम शान्ति प्राप्त करता है, **ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै:**' (श्वे० ४।१६)—देव के एकत्वज्ञान से पुरुष सम्पूर्ण बन्धनो से मुक्त हो जाता है, **ब्रह्मंद ब्रह्मंव भवति**' (मु० ३।२।९)—ब्रह्मज्ञान होने पर पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है, **ब्रह्मविदाप्नोति परम्**' (तै० २।१)–ब्रह्मज्ञानी परमब्रह्म को पा लेता है, **तदात्मावमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वममवत्**' (ब्र० १।४।१०)—उस जीव-संज्ञक ब्रह्म ने गुरु के उपदेश से अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ, यह जानकर ज्ञान के प्रभाव से वह पूर्णब्रह्म हुआ, इत्यादि स्थान-स्थान पर उपनिषदों में ज्ञान ही के द्वारा मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है । जहाँ उपासना का प्रसंग है, वहाँ उसका फल ऐश्वर्य-प्राप्ति या कल्पित उपास्य के गुणों के अनुसार फल अथवा सालोक्य, सामीप्य आदि मुक्ति का वर्णन है । किन्तु गमनागमनरहित सद्योमुक्ति का कथन उपासना से कहीं भी नहीं मिलता । ब्रह्म मन, वाणीं तथा इन्द्रियों का विषय नहीं है, क्योंकि मन, वाणी तथा इन्द्रियादिकों का वह प्रकाशक है, इसलिये उपासना का विषय भी नहीं हो सकता। इसी अभिपाय से उपनिषद् कहते हैं :

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
(के० १।५)

"जो मन से मनन नहीं किया जा सकता, जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, जिसकी लोक उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।" इन प्रमाणों तथा अन्य अनेक प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट कहा जा सकता है, कि मुक्ति एकमात्र ब्रह्म ज्ञान से ही होती है, भक्ति से नहीं ।

जहाँ भक्ति या उपासना से मुक्ति कथित है, वहाँ या तो उपास्यलोक की प्राप्ति, उपास्यस्वरूप की प्राप्ति, उपास्य की समीपता तथा उपास्य से सायुज्य का कथन है, अथवा परम्परा के अभिप्राय से मुक्ति का वर्णन किया गया है। इस भेद को समझ लेने पर किसी प्रकार भ्रम नहीं रहता। कर्म से भी मोक्ष का प्रतिपादन मिलता है, उसमें भी परम्परा से ही मुक्ति मिलती है, साक्षात् नहीं। तात्पर्य निष्काम कर्म से चित्त शुद्ध होता है, तब भक्ति या उपासना में पुरुष की प्रवृत्ति होती है। निष्काम भक्ति से चित्त की चंचलता विनष्ट होती है और विषयों में वैराग्य होता है, तब ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश होता है। ब्रह्मज्ञान होने पर साक्षात् मोक्ष मिलता है। इसलिये क्रममुक्ति कर्म तथा भक्ति से होती है, किन्तु साक्षात् मुक्ति होती है एकमात्र ज्ञान से इसी अभिप्राय से एक स्थान पर भक्ति को माता और ज्ञान-वैराग्य को पुत्र कहा गया है। क्योंकि विना माता के जैसे पुत्र नहीं हो सकता, वैसे ही विना भक्ति के ज्ञान—वैराग्य भी नहीं हो सकते। क्रम का वर्णन प्राय: सभी शास्त्रों में देखा जा सकता है। ''भागवत' में कहा है :

वासुदेवे भगवति भक्तियोग. समाहितः ।
सध्रीचीनेन वैराग्य ज्ञानं च जनयिष्यति ।।

(भा० ४।२९।३७)

''—वासुदेव भगवान् में एकाग्रतापूर्वक सम्यक् प्रकार से किया हुआ भक्तिभाव ज्ञान तथा वैराग्य का आविर्भाव कर देता है।'' गीता में स्वयं भगवान् कहते हैं :

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।

(गी० १०।१०-११)

भक्त्यामामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।

(गी० १८।५५)

''—उन निरन्तर तत्पर होकर प्रेमपूर्वक भजन करने वाले पुरुषों को मैं सम्यग्दर्शनरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वह मुझे प्राप्त हो जाते हैं।' 'उन भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये उनके अन्त:करण में स्थित अज्ञानजन्य अन्धकार को प्रकाश मय ज्ञानदीपक से नष्ट कर देता हूँ।' 'उपाधि से मैं जितना हूँ और निरुपाधि से जो हूँ, उसको तत्त्वत: ज्ञानलक्षणा भक्ति से जान लेता है, फिर मुझे तत्त्व से जानकर तदनन्तर मुझमें प्रवेश कर जाता है अर्थात् परब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है।'' इस प्रकार भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति का कथन गीता में भी किया गया हैं। इतने

विवेचन से यही निश्चय होता है कि वेदान्त, गीता तथा अन्यान्य शास्त्रों में कर्म तथा भक्ति साधन हैं ज्ञान के और साध्य है ज्ञान। ज्ञान से ही परमपुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि होती है, इसलिये गीता का भी वही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

श्रीमदाद्य शङ्कराचार्य के अनुसार गीता का प्रयोजन परम कल्याणस्वरूप मोक्ष है और मोक्ष होता है सर्वकर्म संन्यास पूर्वक आत्मज्ञान से। अतः गीता का मुख्य प्रतिपाद्य ज्ञान ही है। गीता के उपोद्घात् में आचार्य का कहना है : **'अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। तत् च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठारूपात् धर्मात् भवति'**—संक्षेप में इस गीताशास्त्र का प्रयोजन परमनिःश्रेयस अर्थात् कारण सहित संसार की अत्यन्त उपरति हो जाना है, वह सर्वकर्म संन्यासपूर्वक आत्मज्ञाननिष्ठारूप धर्म से होता है। कर्मनिष्ठा के सम्बन्ध में उनका कहना है : **'अभ्युदयार्थः अपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णाश्रमान् च उद्दिश्य विहितः स देवादिस्थानप्राप्तिहेतुः अपि सन् ईश्वरार्पणबुद्धया अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्जितः। शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वम् अपि प्रतिपद्यते।'**—जो प्रवृत्तिलक्षण धर्म, वर्ण तथा आश्रमों के उद्देश्यों से कथित है, वह यद्यपि सांसारिक उन्नति और स्वर्गादि की प्राप्ति का ही साधन है, तथापि फलकामनारहित ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करने पर अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु होता है। और शुद्धान्तःकरण पुरुष को ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्ति करा कर फिर ज्ञानोत्पत्ति का कारण होने से परम कल्याणरूप मोक्ष का भी हेतु होता है। इस प्रकार आचार्य ने कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा का तारतम्य बतलाया है। कर्मनिष्ठा साधन है ज्ञाननिष्ठा की। कर्मनिष्ठा के अन्तर्गत ही भक्ति का समावेश है, इसी लिये भक्ति स्वतन्त्रनिष्ठा नहीं मानी गई। भक्ति सेतु के समान है, कर्मनिष्ठा से ज्ञाननिष्ठा में आने के लिये भक्ति सेतु होकर आना पड़ता है। सेतु का एक किनारा नदी के इस तट पर होता है और दूसरा किनारा दूसरे तट पर। इसी प्रकार भक्ति का एक सूत्र यानी प्रारम्भिक भक्ति निष्काम कर्म से आरम्भ होती है और अन्तिम सूत्र यानी भक्ति की अन्तिम अवस्था (ज्ञान लक्षणा भक्ति) ज्ञान में समाप्त होती है। इस प्रकार कर्म तथा भक्ति का पर्यवसान ज्ञान में होता है। श्री शङ्कराचार्य का शास्त्रीय सिद्धान्त इतना सुनिश्चित, सयुक्तिक और सप्रमाणिक है कि इस पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी की अपेक्षा नहीं।

श्री शङ्कराचार्य के समय अनेक विद्वान् ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद गीता का सिद्धान्त मानते थे। गीता पर समुच्चयवादियों की टीकायें भी थीं। उनका कहना है : 'केवल सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक आत्मज्ञान-निष्ठामात्र से मोक्ष नहीं प्राप्त होता, किन्तु अग्निहोत्रादि श्रौत-स्मार्त-कर्मोसहित ज्ञान से मोक्ष होता है। **'अथ चेत्त्वमिमं**

धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि' (गी० २।३३)—यदि तुम यह धर्ममययुद्ध न करोगे, **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** (गी० २।४७)—तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है, **'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्'** (गी० ४।१५)—इसलिये तुम भी कर्म करो, इत्यादि भगवद्वाक्य कर्म का विधान भी करते हैं। हिंसादि दोषमय वैदिक कर्म भी अधर्म का कारण नहीं होता, क्योंकि गुरु, भ्रता तथा पुत्रादि की हिंसा करने वाला अत्यन्त क्रूर क्षात्रकर्म भी स्वधर्म होने से अधर्म का हेतु नहीं माना जाता। भगवान् द्वारा यह कहने पर **'ततः स्वधर्मं कीर्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि'** (गी० २।३३) स्वधर्म तथा कीर्ति का विनाश कर पाप के भागी बनोगे, इससे सुनिश्चित हो जाता है कि 'जीवन पर्यन्त' कर्म का विधान किया गया है। इसलिये वैदिक कर्मों में भी पशुहिंसारूप कर्म अधर्म नहीं हैं। अत: श्रुति तथा स्मृति शास्त्रों का सिद्धान्त है ज्ञान-कर्म का समुच्चय।'

किन्तु समुच्चयवादियों का कथन सर्वथा असंगत है, क्योंकि गीता में दो प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन किया गया हैं। एक निष्ठा कर्मयोगियों की और दूसरी ज्ञानयोगियों की। दोनों निष्ठाओं का कथन एक ही पुरुष के लिये एक समय में अनुष्ठान के लिये नहीं कहा गया है और न कोई कर हीं सकता है। गीता के दूसरे अध्याय में **'अशोच्यान्'** (२।११) से **'नत्वं शोचितुमर्हसि'** (२।३०) पर्यन्त परमार्थ तत्त्व का निरूपण किया गया है। इसमें आत्मतत्त्व को जन्मादि षट्विकारों से रहित अकर्ता कहा गया है, इस ज्ञानयोग का अधिकारी 'सांख्ययोगी' है। क्योंकि कर्तृत्व-अकर्तृत्व की नीर-क्षीरविवेक करनेवाली बुद्धि को 'सांख्यबुद्धि' कहते हैं और जिसमें यह बुद्धि हो वह 'सांख्ययोगी' है। इस विवेक से पूर्व पुरुष की बुद्धि आत्मा को कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि से युक्त मानती है। अत: मोक्षसाधनों के अनुष्ठान के लिये धर्म तथा अधर्म से युक्त जिस मार्ग को स्वीकार करती है, उसका नाम 'योग' है और इसीसे इस बुद्धि का 'योगबुद्धि' नाम है। इन कर्मियों को 'योगी' कहा जाता है। **'एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु'** (गी०२।३९)—तुमसे जो यह कहा गया, यह 'सांख्य बुद्धि' है, अब (इसके साधन-स्वरूप) 'योगबुद्धि' को सुनो, इस प्रकार स्वयं भगवान् ने दोनों बुद्धियों का पृथक्करण किया है।

किन्तु व्यामोहित अर्जुन पृथक्-पृथक् दोनों निष्ठाओं को सुनकर भी यह नहीं समझ सका, कि हमारे लिये कर्तव्यरूप कर्म का उपदेश भगवान् क्यों कर रहे हैं। जब इन्द्रियविग्रह और अन्त:करण प्रशान्त होने पर ही समाधि तथा परमशान्ति प्राप्त की जासकती है, तब फिर अशान्तस्वरूप घोरक्रूरकर्म करने के लिये उससे क्यों कहा जारहा है ? यह तो उसके साथ भगवान् घोर अन्याय कर रहे हैं, सुखद तथा कल्याणकारी मार्ग दिखला कर भी कण्टकाकीर्ण दुःखदायी मार्ग पर चलने का आग्रह

करते हैं। इसी प्रकार के अन्य अनेक कारणों को अपने मनमें सोंच कर अर्जुन प्रश्न करता है :

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।

(गी० ३।१-२)

"जनार्दन ! यदि आप कर्म की अपेक्षा बुद्धि को श्रेष्ठ मानते हैं, तो हे केशव ! मुझे इस हिंसारूप घोर कर्म में क्यों लगाते हैं ?' 'मिले हुये-से वचनों से आप मानों मेरी बुद्धि मोहित कर रहे हैं, उन दोनों मे से एक निश्चित कर मुझसे कहिये जिससे मैं कल्याण प्राप्त कर सकूं ।" अर्जुन के इन वाक्यों से जाना जा सकता है, कि भगवान् ने जो उपदेश दो निष्ठाओं का दिया, वह एक पुरुष के लिये एक साथ अनुष्ठान करने के लिये नहीं था। अन्यथा वह यह कदापि न कहता कि 'कर्म की अपेक्षा जब बुद्धि श्रेष्ठ है, तो मुझे कर्म में ही क्यों लगाते हैं ?, एक कल्याणदायिनी निष्ठा का ही मेरे लिये उपदेश करिये' । इसके उत्तर में भगवान् ने भी यह नहीं कहा कि 'हमने तो तुम्हारे लिये दोनों निष्ठाओं का समुच्चयरूप से अनुष्ठान के लिये कहा है, इसलिये दोनों निष्ठाओं का एक साथ अनुष्ठान करो' । इसके विपरीत भगवान् दोनों निष्ठाओं के अधिकारी भिन्न-भिन्न कहते हैं:

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।

(गी० ३।३-४)

"–निष्पाप अर्जुन! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा पूर्वकाल में मैंने कही है, ज्ञानयोग से सांख्यों की और कर्मयोग से कर्मयोगियों की।' 'कर्मों का आरम्भ किये विना मनुष्य निष्कर्म भाव को नही पाता और विना ज्ञानके संन्यास से भी निष्कर्मता-रूप सिद्धि नहीं मिलती।" इस उत्तर से भगवान् का संकेत है, कि आदिसृष्टि में मरीचि आदि प्रजापतियों को उत्पन्न कर उनके लिये धर्माधर्मलक्षणसम्पन्न प्रवृत्तिधर्म कर्मयोग का उपदेश दिया और सनक, सनन्दन आदि विरक्तों को निवृत्तिधर्म ज्ञानयोग का उपदेश दिया था। उसी उपदेश का वर्णन कुरुक्षेत्र में अर्जुन को दिया। अर्जुन इस समय कर्म का ही अधिकारी था, क्योंकि सकामकर्मों से जो पुरुष ऊपर उठकर निष्कामकर्मों का ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करता है, उसका चित्त वासनाओं से निर्मूल होकर शुद्ध हो जाता है। तब ज्ञान का अधिकारी होता है और उसी में निष्कर्मभाव उदय होता

है । अर्जुन अभी कामनामय कर्मों को ही करता था, अब भगवान् उसे निष्कामकर्मों की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे रहे थे । कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा में महान् अन्तर है, दोनों का मार्ग भिन्न-भिन्न है, इसलिये दोनों के अधिकारी भी पृथक्-पृथक् हैं । 'महाभारत' में शुकदेव के प्रश्न करने पर वेदव्यास जी ने इसका मार्मिक विवेचन किया है, वह कहते हैं:

> द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
> प्रवृत्ति लक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभाषितः ॥
> कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च प्रमुच्यते ।
> तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥
> कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान् षोडशात्मकः ।
> विद्यया जायते नित्यमव्यक्तं ह्यव्ययात्मकम् ॥
>
> (म० भा० शा० २४१।६-८)

"–जहाँ वेद प्रतिष्ठित हैं, वहाँ दो मार्ग माने जाते हैं: एक प्रवृत्तिलक्षण धर्म और दूसरा निवृत्तिपरायण धर्म ।' 'कर्मसे जीव बन्धन में पड़ता है और ज्ञानसे मुक्त होता है, इसलिये पारदर्शी यति कर्म नहीं करते ।'' कर्मसे मृत्यु के पश्चात् षोडशतत्त्वों से निर्मित मूर्तिमान् शरीर धारण कर जन्म लेता है, किन्तु ज्ञानसे नित्य, अव्यक्त, अविनाशी परमात्मा को ही प्राप्त होता है ।'' इस प्रकार कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग सर्वथा दो प्रकार के पुरुषों के लिये भिन्न-भिन्न मार्ग हैं और इनका फल भी भिन्न ही है। ज्ञानसे अज, निर्गुण, निराकार, विनाशरहित आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है और कर्म से पाप-पुण्यमय शरीर पाकर सुखदुःखमय जीवन धारण करता है ।

कर्म में कर्त्तृत्व, अनेकत्व तथा भोक्तृत्व बुद्धि का संयोग होता है और ज्ञान में अकर्तृत्व, एकत्व तथा अभोक्तृत्व बुद्धि का उदय होता है। अतः परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाली बुद्धियों का एक पुरुष में एक ही समय उदय होना सर्वथा असम्भव है । इस लिये कर्म-तथा ज्ञान का समुच्चय कभी हो ही नहीं सकता । यदि भगवान् को दोनों का समन्वय इष्ट होता तो सांख्यबुद्धि और योगबुद्धि इन दो बुद्धियों का वर्णन पृथक्-पृथक् न करते । उपदेशानुसार अर्जुन ने भी दोनों निष्ठाओं को पृथक्-पृथक् ही स्वीकार कर प्रश्न किया कि **'तदेकंवद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'** (गी०३।२)—उन दोनों में से एक निश्चित कर कहिये जिससे मैं कल्याण प्राप्त कर सकूँ । यदि अर्जुन ने भ्रमसे प्रश्न किया होता, तो भगवान् को कहना चाहिये था कि हमने ज्ञान-कर्म के समन्वय का उपदेश दिया है, इसलिये दोनों का एक साथ अनुष्ठान करो' । किन्तु इसके विपरीत भगवान् ने और भी स्पष्ट करते हुये कहा कि 'हमने पूर्व में दो प्रकार की निष्ठा कहीं हैं ।' ज्ञाननिष्ठा में कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तः-

करण के निग्रह पूर्वक समाधि की स्थिति प्राप्त होती है। समाधि में ब्रह्मात्मैक्यानुभूति होती है और ऐक्यानुभूति से परम शान्तिस्वरूपा मुक्ति हस्तामलकवत् प्रतीत होती है। अत: ज्ञाननिष्ठा परमपुरुषार्थ है, किन्तु इस निष्कर्मभाव को प्रत्येक पुरुष सामान्य रीति से नहीं पा सकता। इस स्थिति पर आने के लिये पहले कर्मयोगनिष्ठा पर चलना पड़ेगा। क्योंकि बिना अन्त:करण शुद्ध हुये मन का रुकना असम्भव है और अन्त:करण शुद्ध होगा निष्कामकर्मों से। अर्जुन का अन्त:करण अभी शुद्ध नहीं है, इसीसे भगवान् का कहना है कि **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'**(गी०२।४७)—तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है, **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते'** (गी०३।४)—कर्मों का आरम्भ किये बिना कोई पुरुष निष्कर्म भाव को नहीं पा सकता। इस प्रकार कर्मयोग प्राथमिक सोपान है और अन्तिम है ज्ञानयोग। अत: दोनों के पथिक भिन्न हैं।

महाभारत शान्तिपर्व में स्यूमरश्मि ने कपिलदेव से प्रश्न किया :

एकत्वेन पृथक्त्वेन विशेषो नात्र दृश्यते।
तद् यथावद् यथान्यायं भगवान् प्रब्रवीतु मे ।।
(म० शा० २७०।३७)

"भगवन्! ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा की एकता तथा पृथक्ता का भ्रम होने से इसका अन्तर समझ में नहीं आता, उसे आप यथावत् न्यायानुसार बतलाने की कृपा करें।" इसके उत्तर में कपिलदेव कहते हैं :

शरीरपक्ति: कर्माणि ज्ञानं तु परमा गति:।
कषाये कर्मभि: पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति ।।
(म० शा० २७०।३८)

"स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर को शुद्ध करने वाले हैं कर्म, किन्तु ज्ञान परम गति है। चित्त के रागादि दोष भस्म होने पर पुरुष रसस्वरूप ज्ञान में स्थित हो जाता है।" रागादि दोष सम्पन्न पुरुष का अधिकार है कर्मयोग में और रागादि दोष-रहित का ज्ञानयोग में। जिस प्रकार सदोष व्यक्ति और निर्दोष व्यक्ति एक ही नहीं हो सकता, वैसे ही कर्म तथा ज्ञान का समुच्चय भी नहीं हो सकता। गीता में ही ज्ञान और कर्म का विरोध बतलाया गया है :

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। (गी० ४।३७)
सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। (गी० ४।३३)
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु: पण्डितं बुधा:। (गी० ४।१९)
योगसंन्यस्तकर्माण ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।। (गी० ४।४१)

"अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठसमूह को भस्मकर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है ।' पार्थ ! सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं ।' 'ज्ञानाग्नि से जिसके सम्पूर्ण कर्म दग्ध हो गये हैं, ब्रह्मवेत्ता उसे 'पण्डित' कहते हैं ।' 'धनंजय ! ज्ञान से जिसके संशय निवृत्त हो गये हैं और कर्मयोग से कर्मों का त्याग जिसने किया है, ऐसे आत्म ज्ञानी को कर्म-बन्धन नहीं होता ।' ज्ञान का प्रकाश होने पर कर्मान्धकार क्या एक क्षण भी रह सकता है ? कदापि नहीं, जिस प्रकार तम-प्रकाश, सिंह-अज, मूषक-मार्जार एवं नकुल-सर्प का सहज वैर भाव है, वैसे ही ज्ञान और कर्म का भी विरोध है। सहस्र वर्षों का संचित अन्धकार भी एक क्षण के प्रकाश से विनष्ट हो जाता है, वैसे ही जन्म-जन्मान्तर के कोटि-कोटि संचित कर्म ज्ञानोदय होने पर क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में ज्ञान-कर्म का सहअस्तित्व मानना बुद्धि-दोष के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

आत्मज्ञानी का वर्णन गीता में भगवान् इन शब्दों में करते हैं :

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।

नैव तस्यकृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रयः ।।
(गी० ३।१७-१८)

जो पुरुष केवल आत्मा में रमण करता है, आत्मा में ही तृप्त रहता है और आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्यकर्म नहीं है ।' 'उस आत्मक्रीड पुरुष का कर्म करने से या न करने से कोई प्रयोजन नहीं है और ब्रह्मादि से स्थावर पर्यन्त किसी भी भूत का आश्रय नहीं लेता ।'' आत्म ज्ञानी कर्म तथा फल से सर्वथा निवृत्त हो जाता है, उसकी दृष्टि में एकमात्र ब्रह्म ही शेष रहता है, कर्म का अस्तित्व ही नहीं रहता । क्योंकि कर्म अज्ञानपूर्वक होते हैं और अज्ञान की सत्ता उसकी दृष्टि में नहीं रहती । जिस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक बालक पड़े-पड़े हाथ–पैर हिलाता है या नहीं हिलाता-दोनों स्थितियों में वह प्रसन्न और एकरूप रहता है, वैसे ही आत्मज्ञानी की शारीरिक चेष्टायें होती हैं अथवा नहीं होतीं, दोनों में वह सम तथा अकर्तारूप से स्थित रहता है । लोकसंग्रहार्थ कर्म करने पर भी वास्तव में वह कर्म नहीं होते और वह कुछ करता भी नहीं है।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।।
(गी० ४।२०)

"ज्ञान के प्रभाव से अहंकार तथा कर्म में फलासक्ति त्याग कर नित्यतृप्त और निराश्रय होने के कारण वह कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी वास्तव में कुछ नहीं करता" भगवान् भी ज्ञानस्वरूप और अकर्ता होने पर भी लोक-निर्माण करते हैं, किन्तु वास्तव में वह कुछ भी नहीं करते। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी दूसरों की दृष्टि में सब कर्म करता है, पर स्वयं कुछ नहीं करता। भगवान् इसी अभिप्राय से अपना उदाहरण रखते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्यकर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
(गी० ४।१३)

"सत्त्वादिगुणों तथा कर्मों के विभाग से चारों वर्णों की सृष्टि मैंने की है, यद्यपि मायिक दृष्टि से उनका कर्ता मैं हूं, तथापि वास्तव में मैं अकर्ता तथा अव्यय हूं-ऐसा ही तुम जानो।" जिस प्रकार मोक्षस्वरूप भगवान् के कर्म मोक्ष-सिद्धि के लिये ज्ञान के साथ समुच्चित नहीं हैं, वैसे ही आत्मज्ञानी के कर्म फलेच्छा और अहंकार रहित होने से ज्ञान के साथ समन्वित नहीं हो सकते। तात्पर्य अनात्मज्ञ हो या आत्मज्ञ किसी के भी ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता, अतः ज्ञान कर्म का समुच्चय अशास्त्रीय है।

इस प्रकार कर्म, भक्ति तथा ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। एकमात्र ज्ञान ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। एक दृष्टि ज्ञान पर डाल लेना समुचित होगा। गीता में ज्ञान का अत्यन्त सारगर्भित माहात्म्य कहा गया है, और ज्ञान क्या है ? इसका भी विवेचन फल सहित किया गया है। ज्ञान के सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(गी० ४।३८)

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(गी० ९।१)

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमुदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
(गी० ९।२)

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
(गी० ४।३५)

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।

(गी० ४।१८)

"ज्ञान के समान पवित्र करने वाला इस लोक में कोई दूसरा नहीं है, अधिकारी दीर्घकाल में स्वयं योग-सिद्ध उस ज्ञान को अपनी आत्मा में प्राप्त करता है। "तुम असूयारहित भक्त से मैं विज्ञान सहित इस गोपनीय ज्ञान को कहूँगा, जिसको जान कर संसार-बन्धन से मुक्त हो जाओगे।' 'यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा, गुप्त रखने योग्य सब भावों का भी राजा, पवित्र तथा उत्तम है, प्रत्यक्ष, अनुभवगम्य, धर्ममय, सुसुख से करने योग्य और विनाश रहित है।' 'पाण्डव ! जिस ज्ञान को पाकर तुम पुनः इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगे तथा जिस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखोगे और मुझ परमेश्वर में भी सब भूतों को देखोगे।' 'कर्म में जो अकर्म को देखता है अर्थात् क्रियाशील प्रकृति और उसके कार्य में जो विद्वान् निष्क्रिय आत्मा को देखता है और अकर्म में कर्म देखता है यानी आत्मा में प्रकृति और उसके कार्य को देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगी है और वह सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता है।" तात्पर्य ज्ञानी पुरुष आत्मा तथा परमेश्वर का एकरूप से दर्शन करता है और आत्मा या परमेश्वर में ही आदि कम्पन से विश्वब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी कर्मशील पदार्थों को देखता है एवं सभी पदार्थों में आत्मा को देखता है। जिस प्रकार चारों ओर परिव्याप्त सागर में तरङ्ग, फेन तथा बुद्बुद् देखे जाते हैं और तरङ्ग, फेन आदि में नीर देखा जाता है, सागर और तरङ्ग में जल-दृष्टि एक ही है, किञ्चित् मात्र भी सागर के जल और तरङ्ग के जल में अन्तर नहीं है, दोनों में नाम तथा रूप का ही भेद है, तत्त्वतः जल में कोई भेद नहीं। इसी प्रकार आत्मा, प्रकृति एवं परमात्मा में नाम तथा रूप का भेद है, वास्तव में कोई भेद नहीं, एक ही अद्वितीय तत्त्व है। इस ज्ञान-दर्शन की स्थिति होने पर तत्त्वतः अकर्ता, अभोक्ता, जन्म-मरणातीत, सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, साक्षी, चेतन, निर्गुण एवं विभुस्वरूप ही पुरुष होता है और मायिक दृष्टि से सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता। क्योंकि सभी कर्म उसी में हो रहे हैं और उससे भिन्न कोई दूसरा है नहीं। छठवें अध्याय में भगवान् का कथन है :

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।

(गी० ६-२९-३१)

"समाहित अन्तःकरणयुक्त और सर्वत्र समदृष्टि वाला योगी अपने आत्मा को सब भूतों में स्थित और आत्मा में सब भूतों को देखता है।' 'इसी प्रकार, जो मुझको (परमेश्वर को) सर्वत्र देखता है और मुझमें सम्पूर्ण जगत् को देखता है, उसके लिये मैं कभी अप्रत्यक्ष नहीं होता और वह भी मुझसे परोक्ष नहीं होता।' 'सब ब्रह्म ही है 'इस ऐक्य में स्थित जो पुरुष सब भूतों में स्थित मुझको भजता है, वह योगी सब व्यवहार करता हुआ भी मुझमें ही वर्तता है।'' 'इन श्लोकों का तात्पर्य यही है कि चाहे आत्मा में सब भूतों का दर्शन करे या परमात्मा में और इसी प्रकार सब भूतों में आत्मा का दर्शन करे या सम्पूर्ण विश्व में, दोनों एक ही बात है। एक में व्यष्टि-दृष्टि से कथन है, दूसरे में समष्टि-दृष्टि से। व्यष्टि और समष्टि का मायिक रूप हटाने पर एक ही विभु आत्मा शेष रहता है। जिस प्रकार घटाकाश और मठाकाश के मायिक रूप घट तथा मठ के हटाने पर एक ही महाकाश शेष रहता है, वैसे ही एक ही आत्मा शेष रहता है। वह आत्मा ही जीवात्मा की अपेक्षा परमात्मा कहा जाता है, जीव तथा परम विशेषण का बाध होने पर एक आत्मा ही बचता है। वही आत्मा जीव है, वही ईश्वर है और वही विश्वब्रह्माण्डरूप से कल्पित जगत् है। माया-द्वारा सभी कल्पना व्यावहारिक दृष्टि में हैं। पारमार्थिक दृष्टि में कोई कल्पना नहीं है, वहां ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का भेद नहीं है और न कर्ता, कर्म तथा करण का अस्तित्व। परिपूर्ण एकमात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा ही आत्मा है, न बन्धन है, न मोक्ष। यही ज्ञान है।

किन्तु व्यष्टि शरीरधारी पुरुष जब आत्मस्थिति में नहीं होता तब उसकी स्थिति 'अज्ञानपूर्ण' होती है। नामरूपमय शरीर को ही जब अपना आत्मा मान लेता है, तब 'विपरीत ज्ञान' की स्थिति में पहुँच जाता है। फिर अपने को कर्ता, भोक्ता, सुखी-दुःखी, धनी-निर्धनी, सुन्दर-असुन्दर, गोरा-काला, पुरुष-स्त्री, पिता-पुत्र एवं ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि भावों से युक्त मानता है। शारीरिक सुखों की कामना, संकल्प करता है, कामना से संकल्प, संकल्प से कर्म, कर्म से फलोपभोग और भोग के लिये जन्म-मरण का अनादि प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। शुभकर्मों से शुभयोनि और अशुभ कर्मों से कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि की योनियों में जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। कभी भी दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता।

दुःखों का मूल स्रोत है अज्ञान। जब तक अज्ञानस्रोत नहीं सूखता, तब तक दुःखों की वाटिका हरी-भरी बनी रहती है। अज्ञान का निवारक एकमात्र ज्ञान है। जब शरीर और संसार से आस्था हटती है तथा एकमात्र आत्मा में स्थिति होती है और ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानानुभूति होती है, तब अज्ञान और अज्ञान-जनित कर्मों का उच्छेद होता है। 'यह सब और ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार के निश्चय और दर्शन का नाम ही 'ज्ञान' है। उपनिषद् में ज्ञान की परिभाषा की है :

'अभेददर्शनं ज्ञानम्' (मैत्रेय्यु० २।२) अभेददर्शन ही ज्ञान है। इसीसे **'सर्वंखल्विद ब्रह्म'** (बृ० ३/१४/१)—यह सब निश्चय ही ब्रह्म है, **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १।४।१०)—मैं ब्रह्म हूँ, **'तत्त्वमसि'** (छा० ६।८।७) – वह तू ही है, **'स त्वमेव त्वमेवतत्'** (कैव० १।१६)–वह तू ही है तू ही वह है, आदि वेदान्त वाक्यों में ब्रह्म, आत्मा तथा विश्व का एकत्व दिखाया गया है। गीता में भी **'वासुदेव: सर्वमिति'** (गी० ७/१९) —यह सब वासुदेव है, **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'** (गी० १३।२)–हे भारत ! तुम सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो, आदि से परमेश्वर, जीव तथा जगत् को एक ही कहा गया है। इस अभेददर्शन से भेदभ्रम निवृत्त हो जाता हैं और वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होकर परमपुरुषार्थ मोक्ष सिद्ध होता है। परम पुरुषार्थ गीता का लक्ष्य है, अत: गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ज्ञान ही सिद्ध होता है।

किन्तु ज्ञानाधिकारी वही है जिसका अन्त:करण शुद्ध हो, केवल आत्मा का अज्ञान हो। इस अज्ञान का निवारण ज्ञान से होगा। अन्त:करण शुद्ध करने के लिये अपेक्षा है कर्मयोग की। इसीलिये गीता में स्थान–स्थान पर कर्मानुष्ठान करने का आग्रह किया गया है। भगवान् का कथन है: **'यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'** (गी० १८/५)–यज्ञ, दान और तप ये तीनों बुद्धिमानों को पवित्र करने वाले हैं, **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि बिन्दति मानव:'** (गी० १८/४६)–ईश्वर को वर्णानुसार अपने कर्मों से पूजा कर मानव सिद्धि–ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त करता है **'योगिन:कर्मकुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'** (गी० ५/११)—योगी जन फलासक्ति त्याग कर अन्त:करण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं, **'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते'** (गी० ३/४)–कर्मों का आरम्भ किये विना मनुष्य निष्कर्मभाव को नहीं पाता, इत्यादि वाक्यों से ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति के लिये कर्मयोग का विधान मिलता है। कर्मयोग साधन है और ज्ञानयोग साध्य। इस प्रकार धर्मसंमूढ पुरुष के लिये कर्मयोग की निष्ठा है और आत्मसंमूढ पुरुष के लिये ज्ञानयोग की। पूर्व में दो प्रकार के अधिकारियों का वर्णन किया जा चुका है, उनमें एक कर्मयोग का अधिकारी है, दूसरा ज्ञानयोग का। इसी अभिप्राय से दो प्रकार की निष्ठा का वर्णन है। कर्मयोगी की निष्ठा कर्मयोग और ज्ञानयोगी की निष्ठा ज्ञानयोग से कही गई है। कर्मयोग के अनुष्ठान से ज्ञानयोग में जाकर ज्ञानयोग से परम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि होती है। मोक्ष ही अन्तिम गति है, मोक्ष के अनन्तर न तो कुछ कर्तव्य शेष रहता है और न कुछ प्राप्तव्य। मुक्तपुरुष जन्म-मरणातीत, दुःखादि द्वन्दों से रहित, अभय, शान्त, परमानन्दस्वरूप ही होता है। इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिये गीता में गौण रूप से कर्मयोग का वर्णन है और मुख्यरूप से ज्ञानयोग का। अत: सभी दृष्टियों से गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ज्ञान ही सिद्ध होता है।

प्रमाण-प्रकाश तथा सम्बन्ध-संगति

प्रमेय-सिद्धि प्रमाण के अधीन है। यदि प्रमाण निर्दोष है तो प्रमेय-दर्शन भी निर्दोष होगा और यदि प्रमाण सदोष है तो प्रमेय भी दोषयुक्त प्रतीत होगा। इसी प्रकार यदि प्रमेय सदोष है और प्रमाण शुद्ध है, तो प्रमेय दोषयुक्त अवभासित होगा एवं प्रमेय निर्दोष है तो निर्मल भासित होगा। जैसे शुद्ध सुवर्ण कसौटी पर परखने में शुद्ध और अशुद्ध सुवर्ण अशुद्ध प्रतीत होगा किन्तु कसौटी भी शुद्ध ही होनी चाहिए। इसी प्रकार जगत् का मूल कारण और प्राणियों का अन्तरात्मा शुद्ध, चेतन, सदानन्दमय है या जड़ तथा विनाशी ? इसे जानने के लिये भी आवश्यकता है प्रमाण की। प्रमाणों में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि—इन छः प्रमाणों की गणना होती है। ऐतिह्य प्रमाण भी पुराणकारों ने स्वीकार किया है। इन सातों प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द—इन तीन प्रमाणों में हो जाता है।

प्रमा-ज्ञान—जानने का असाधारण करण 'प्रमाण' है, जानने वाला 'प्रमाता' कहा जाता है और जानने योग्य वस्तु 'प्रमेय'। अहंकार प्रमाता, विषयाकार बुद्धि-वृत्ति प्रमाण और घटादि वस्तु प्रमेय कही जाती है। ब्रह्मात्मा किस प्रमाण का प्रमेय है ? इसके लिये प्रमाण-परीक्षा आवश्यक है। 'प्रत्यक्ष' प्रमाण में श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना एवं नासिका की गणना होती है। इनसे क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध प्रमेय की प्रतीति होती है। रक्त पीत, श्वेतादिवर्ण, ह्रस्व—दीर्घ माष और गोल, चौकोर, त्रिकोणादि आकार की परीक्षा नेत्र-प्रमाण से ही सम्भव है। इसी प्रकार शब्द आदि की प्रतीति श्रोत्र आदि प्रमाणों से होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण की गति प्रत्यक्ष वस्तु होने पर ही सम्भव है और भूत तथा भौतिक पदार्थ

पर्यन्त उसकी सीमा है। 'अनुमान' प्रमाण प्रत्यक्ष पर आश्रित है। किसी लिंग के आधार पर वस्तु की कल्पना 'अनुमान' प्रमाण में की जाती है। दूर-स्थान पर धूम-देखकर यह निश्चय होता है कि वहाँ अग्नि होगी, क्योंकि अग्नि से धूम निकलता है। सादृश्य ज्ञान 'उपमान' प्रमाण का लक्षण है। अश्व के सदृश खच्चर होता है। किसी व्यक्ति ने खच्चर न देखा था, दूसरे व्यक्ति ने अश्व दिखा कर बतलाया कि 'अश्व के समान खच्चर होता है'। 'शब्द' प्रमाण—तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है—१–अपौरुषेय, २–पौरुषेय और ३–आप्त। अपौरुषेय शब्द में मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद राशि की गणना होती है। वेद से अतिरिक्त पुराण, महाभारत, रामायण, स्मृति, दर्शन. सूत्र, ज्योतिष आदि शास्त्रों को पौरुषेय शब्द कहा जाता है। सत्यवादी माता-पिता, गुरु आदि के शब्द आप्त-प्रमाण माने जाते हैं। परिणाम देखकर कार्य की कल्पना 'अर्थापत्ति' प्रमाण है। स्थूल व्यक्ति को देखकर किसी ने प्रश्न किया 'तुम क्या भोजन करते हो ?' उत्तर में उसने कहा—'मैं भोजन ही नहीं करता'। किन्तु बिना भोजन स्थूलता सम्भव नहीं, इसलिये यह निश्चय होता है, कि यदि दिन में भोजन नहीं करता, तो रात्रि में अवश्य करता है। वस्तु की अप्रतीति 'अनुपलब्धि' प्रमाण है। कमरे में पुस्तक को न देखकर निश्चय करना, कि पुस्तक का 'अभाव' हैं। वृद्ध पुरुषों के वचन 'ऐतिह्य' प्रमाण है।

ब्रह्मज्ञान किस प्रमाण-द्वारा सम्भव है ? इसका उत्तर गीता में दो प्रकार से मिलता है। गीता प्रथम ब्रह्मात्मा को 'अप्रमेय' कहती है : **अनाशिनोऽप्रमेयस्य** (गी० २/१८)—'आत्मा विनाशरहित और अप्रमेय है तात्पर्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानने योग्य नहीं है'। **अप्रमेयम्** (गी० ११/१७) '—आप अप्रमेय हैं, **तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्** (गी० ११/४२)'–अच्युत ! उन समस्त अपराधों को मैं आप अप्रमेय–प्रमाणों से अज्ञेय-से क्षमा चाहता हूँ'। प्रमेय ही प्रमाणज्ञात होता हैं, किन्तु ब्रह्म तथा आत्मा अप्रमेय हैं, इसीलिये यह प्रमाण के विषय नहीं। उपनिषदों में भी ब्रह्म को अप्रमेय बतलाया गया है :

निर्विकल्पमनन्तं च हेतु दृष्टान्त वर्जितम्।
अप्रमेयमनाद्यं च ज्ञात्वा च परमं शिवम्॥

(ब्रह्मवि० ९)

"—विकल्परहित, अनन्त तथा हेतुदृष्टान्तवर्जित, अप्रमेय और अनादि शिव को जानकर पुरुष मुक्त हो जाता है।"

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः॥

(बृह० ४।४।२०)

"ब्रह्म का एक मात्र विज्ञानस्वरूप से ही अनुदर्शन कर्तव्य है, क्योंकि यह अप्रमेय, ध्रुव, निर्मल, आकाश से भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान् और अविनाशी है।" इस लिये ब्रह्म प्रमाणातीत है। नाम, रूप, जाति, वर्ण, लिंग, हेतु, द्रष्टान्त, सादृश्य, अभाव एवं शब्दादि होने पर ही प्रमाण का विषय होता है। किन्तु ब्रह्मात्मा इन सब से रहित है। **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्** (कठ० १।३।१५) '—शब्द, स्पर्श, रूप तथा व्ययरहित होने से प्रत्यक्ष प्रमाण के अयोग्य है'। **व्यापको ऽलिंग एव च** (कठ० २।६।८) '—वह व्यापक तथा अलिंग होने से अनुमान प्रमाण से भी नहीं जाना जा सकता'। **न तस्य प्रतिमा अस्ति** (श्वे० ४।१९) '—ब्रह्म की कोई उपमा नहीं है, **हेतुदृष्टान्तवर्जितम्** (ब्र० वि०) 'हेतु और दृष्टान्तरहित होने से सादृश्य का अभाव है, अत: उपमान प्रमाण का भी विषय नहीं। **यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रम्** (मु० १।१।६)'—वह अदृश्य, अग्राह्य तथा अगोत्र है, इस कारण शब्द प्रमाण भी योग्य नहीं। अन्यथा उपपत्ति का अभाव होने से अर्थापत्ति का विषय नहीं, सद्भाव होने से अनुपलब्धि और वाणी का अविषय होने से ऐतिह्य प्रमाण भी उपयुक्त नहीं हैं।

ब्रह्म ही आत्मा है। आत्मा ही प्रमाता, प्रमाण तथा प्रेमय के सद्भाव-असद्भाव का साक्षी है। आत्मा से ही अहंकार, मन, बुद्धि, इन्द्रिय एवं समस्त विषय पदार्थों का ज्ञान होता है। आत्मा चेतन, नित्य और भूमा है। प्रमाता आदि तथा अहंकार से विषय पर्यन्त सभी जड़, विनाशी तथा एकदेशीय हैं। चेतन ही जड़ का ज्ञाता होता है, जड़ चेतन का ज्ञाता नहीं होता। द्रष्टा कभी भी दृश्य नहीं हो सकता और दृश्य कभी द्रष्टा नहीं होता। नेत्र रूप का द्रष्टा है और रूप दृश्य। दृश्य रूप के द्वारा द्रष्टा नेत्र का दर्शन सम्भव नहीं। इसी प्रकार ब्रह्मात्मा समस्त विश्व तथा प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एवं विषयादि का द्रष्टा है, द्रष्टा होने से प्रमाणातीत है **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्** (बृ० ४।५।१५)'—अरे! विज्ञाता को किसके द्वारा जाने? प्रस्तुत श्रुति यही प्रतिपादित करती है कि जिसके द्वारा सब पदार्थों का ज्ञान होता है, उसे किसी के द्वारा नहीं जाना जा सकता।

"प्रत्यक्षादि प्रमाण जड़ होने पर भी अपौरुषेय शब्द प्रमाण वेद जड़ नहीं हैं। क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं और ज्ञान चेतन होता है। इस कारण चेतन वेद-प्रमाण से चेतन ब्रह्मात्मज्ञान अवश्यम्भावी है। "यदि ऐसा कोई कहे, तो उत्तर है कि चेतन प्रमाण और चेतन प्रमेय, दोनों चेतन होने में भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते। जब ज्ञाता तथा ज्ञेय एक रूप हो जाते हैं, तब कोई ज्ञानानुभूति नहीं होती। समाधि, सुषुप्ति तथा मूर्च्छावस्था में ज्ञाता-ज्ञेय-भेद न रहने से कोई अनुभूति नहीं होती। अत: चेतन प्रमाण से भी 'इदं' रूप से ब्रह्मात्म ज्ञान सम्भव नहीं।

यदि यह कहा जाय कि 'जब ब्रह्मात्म स्वरूप का ज्ञान किसी भी प्रमाण से सम्भव नहीं, तो पुरुष की मुक्ति की आकांक्षा तथा प्रयत्न मरु-मरीचिका जल के समान व्यर्थ हैं। वेद, शास्त्राध्ययन तथा तदनुकूल आचरण का भी कोई अर्थ नहीं। ऐसी स्थिति में चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष की वार्ता केवल वाग्विलास के अतिरिक्त और कुछ नहीं।'' ऐसी शंका को घ्यान में रख भगवान् गीता में समाधान करते हैं : **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्त कृद्वेदविदेव चाहम्** (गी० १५।१५) '—सब वेदों द्वारा एक मात्र मैं ही जानने योग्य हूं तथा वेदान्त सम्प्रदाय का कर्ता और वेदार्थवित् भी मैं ही हूँ।' **औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि** (बृह० ३।९।२६) '—उपनिषद्—प्रतिपादित पुरुष को पूछता हूँ' इन प्रमाणों से विदित होता है, कि सर्वान्तिर्यामी परब्रह्म, परमात्मा, एकमात्र वेदान्त से ही ज्ञेय है। इसके विपरीत वेदान्त में **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह** (तै०२।४) '—जहाँ से मनसहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है' **नैषा तर्केण मतिरापनेया** (कठ ०१।२।९) '–तर्क से भी उस ब्रह्म को कोई नहीं पा सकता', इस प्रकार वाणी, मन तथा तर्क से ब्रह्म अज्ञेय कहा गया हैं। आपात दृष्टि से विरोध प्रतीत होने पर भी वस्तुत: कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वेद के अतिरिक्त किसी भी प्रमाण से ब्रह्म ज्ञेय नहीं, इस अभिप्राय से वेदैकगम्य कहा गया है। ब्रह्म प्रत्यगभिन्न एवं निर्विशेष है, अत: किसी भी शब्द द्वारा कथन सम्भव नहीं, क्योंकि शब्द सविशेष और अपने से भिन्न का ही वर्णन करते हैं, इस अभिप्राय से अज्ञेय कहा गया है। फिर भी वेदों का प्रतिपाद्य निर्विशेष, प्रत्यगभिन्न, चेतन ब्रह्म ही है। निर्विशेष ब्रह्म का 'यह ब्रह्म है'–इस प्रकार कथन सम्भव नहीं, किन्तु वेद विशेष पद्धति-द्वारा इसका प्रतिपादन करते हैं। इस पद्धति को वेदान्त में 'अध्यारोप' और 'अपवाद' नाम से कहा गया है। जैसे रुई से सूत्र और सूत्र से वस्त्र बनता है, वस्त्र में विभिन्न रंग तथा आकार होते हैं। किसी वस्त्र को श्वेत धोती, किसी को पीत पगड़ी और किसी को लाल चादर कहते हैं। वस्तुत: सभी वस्त्र रुई के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं. किन्तु नाम तथा रूप–आरोपित कर 'श्वेत धोती' तथा 'पीत पगड़ी' आदि नामों से कहे जाते हैं। इनमें रुई को जिज्ञासा होने पर कहा जाता है–न रंग रुई है, न धोती और न सूत्र ही रुई है, किन्तु इन सबका अधिष्ठान रुई है, यह 'अपवाद' है। इसी प्रकार रुई में नाम-रूप की कल्पना 'आरोप' है। इस आरोप तथा अपवाद के द्वारा वेदान्त भी निर्विशेष ब्रह्म में सम्पूर्ण विश्व का निर्माण, आकाशादि नाम-रूप की कल्पना, विभिन्न मानव, पशु पक्षी आदि की स्थिति और सबका विलय भी ब्रह्म में ही बतलाते हैं। यह अध्यारोप है, इसका लक्ष्य है–निर्विशेष ब्रह्म-ज्ञान। इसी दृष्टि से **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छा० ३।१४।१) '–निश्चय ही यह सब ब्रह्म है,' **तत्त्वमसि** (छा० ६।८।७) '–वह ब्रह्म तुम हो', आदि वचन कहे गये हैं। इन वचनों की सार्थकता तभी है, जब सर्वाधिष्ठान ब्रह्म में बुद्धि-प्रवेश हो। नाम-रूपात्मक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के लिये **नेति नेति** (बृ० २।३।६) '—यह नहीं है, यह नहीं है', से कार्य तथा कारण का निषेध किया

गया है। यह अपवाद है, इसका भी लक्ष्य है–निर्विशेष ब्रह्म-ज्ञान। इस प्रकार निर्विशेष ब्रह्म में सविशेष जगत् की कल्पना और सविशेष-निराकरण-द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन वेदान्त करते हैं। अत: वेद ब्रह्मात्मज्ञान में प्रमाण हैं।

वेद वस्तु-प्राप्ति के समान ब्रह्म-प्राप्ति नहीं बताते, वह प्राप्त की ही प्राप्ति कराते हैं। क्योंकि सभी प्राणियों का आत्मा ब्रह्म होने से प्राप्त ही है, किन्तु अज्ञान तथा शरीर में तादात्म्याध्यास होने से प्रतीत नहीं होता। 'क्या तुम आत्मा को जानते हो ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है––'मैं नहीं जानता' यही अज्ञान है। इस अज्ञान के कार्य अहंकार तथा शरीरादि में आत्मभावना है, इससे जन्म-मरण की अनर्थकारी परम्परा आरम्भ होती है मूल अज्ञान निवारण करना ही वेद का कार्य है, अज्ञान-निवारण होने पर पुरुष अनर्थ बन्धन से मुक्त हो जाता है। अत: वेद अज्ञातज्ञापक हैं। मन्द अन्धकार में रस्सी सर्प प्रतीत होती है, सर्प-प्रतीति से भय, कम्प तथा रोमाञ्च आदि उत्पन्न हो जाते हैं। प्रदीप-प्रकाश-द्वारा रस्सी-दर्शन से सर्प-भ्रान्ति एवं भय, कम्पादि सभी निवृत्त हो जाते हैं। इसी प्रकार वेद-शब्द द्वारा अज्ञान-निवृत्ति एवं ब्रह्मात्म-दर्शन होता है. इससे जन्म-मरण परम्परा का उच्छेद हो जाता है। शरीरादि से आत्माभिमान की निवृत्ति और साक्षी चेतन ब्रह्म में आत्मानुभूति होने पर प्राणी निर्विशेष ब्रह्म हो जाता है, क्योंकि वही वह है। कोई नवीन वस्तु प्राप्त नहीं होती केवल, अज्ञान-निवारण और प्राचीन स्वात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। अत: वेद अज्ञान-निवारक एवं परम पुरुषार्थ-प्रदायक सिद्ध होते हैं।

वेदों के सम्बन्ध में स्मरणीय है, कि ये किसी पुरुष-द्वारा रचित नहीं हैं। ईश्वर भी इनका निर्माता नहीं, इसी कारण 'अपौरुषेय' कहे जाते हैं। ईश्वर प्रोक्त होने पर 'पौरुषेय' कहे जायँगे, क्योंकि ईश्वर भी 'पुरुष विशेष' कहा जाता है। ईश्वर-प्रणीत होने पर काल परिच्छिन्न तथा अनित्य भी कहे जा सकते हैं, ऐसी स्थिति में वेद स्वत: प्रामाण्य कोटि में न आ सकेंगे। इसीलिए वेद प्रामाण्यवादी पूर्वोतर मीमांसक वेद को अपौरुषेय, नित्य एवं स्वत: प्रमाण मानते हैं। जिस प्रकार ईश्वर नित्य है उसी प्रकार वेद भी नित्य हैं। क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान ही 'वेद' हैं, न कभी इनका निर्माण होता है, न विनाश। प्रात: सूर्योदय के समान कल्पारम्भ में वेदों का प्रकाश होता है और सायं सूर्यास्त के समान कल्पान्त में तिरोधान। न प्रात: सूर्य का निर्माण होता है, न सायं विनाश। कल्पारम्भ होने पर न वेदों का निर्माण होता है, न कल्पान्त होने पर विनाश। इसी कारण 'वेदान्त दर्शन' में वेद को नित्य माना है : **अतएव च नित्यत्वम्** (ब्र० सू० १।३।२९) ' –देवादि सम्पूर्ण विश्व का निर्माण वेद-शब्द से होता है, इस कारण वेद में नित्यत्व है'। **वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः** (मनु० १।२१)—'उस महेश्वर ने वेद-शब्दों से ही नाम-रूपादि की रचना की'।

जैसे इंजीनियर भवन-निर्माण के पूर्व, मन में भवन का आकार-प्रकार सुनिश्चित कर, तदनुकूल भवन-निर्माण करता है। वैसे ही ईश्वरीय ज्ञान वेद में जगत्-निर्माण के पूर्व ही जगत् की परिकल्पना होती है और उसी के अनुसार जगत्-निर्माण तथा घटनायें घटित होती हैं। इसी कारण वेद में नित्य इतिहास, सृष्टि-क्रम, ईश्वरीय ज्ञान एवं मानव-कल्याण के बीज संनिहित हैं। अतः वेद सर्वदोषविवर्जित, अकृत्रिम, नित्य एवं स्वतः प्रमाण हैं।

भारतीय संस्कृत-साहित्य का विपुल भण्डार वेद से अनुप्राणित है। गीता तो वेद के शीर्षस्थानीय उपनिषद्-रसामृत से ओत-प्रोत है। गीता के सम्बन्ध में निम्न उक्ति प्रसिद्ध है :

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्ध गीतामृतं महत्॥

'—सम्पूर्ण उपनिषदें गाय हैं, उनके दोहन करने वाले भगवान् कृष्ण हैं, पार्थ बछड़ा हैं और महान् गीतामृत दुग्ध-पान करने वाले श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न पुरुष हैं।' यद्यपि गीता पौरुषेय है, तथापि अपौरुषेय वेदान्त-सार होने से प्रामाणिक है। गीता की प्रामाणिकता असंदिग्ध होने पर भी गीतोपदेष्टा वेदादि शास्त्रों के प्रमाण का उल्लेख करते हैं। गीता वेद-विरुद्ध किसी भी कर्म को आचरणीय नहीं मानती। भगवान् की स्पष्ट घोषणा है :

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाण ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्मंकर्तुमिहार्हसि॥
(गी० १६।२३-२४)

'—जो वेदादि शास्त्र के विधान को त्याग कर कामना-युक्त व्यवहार करता है, वह न तो सिद्धि पाता है, न सुख और न परम गति'। 'इसलिये कार्य-अकार्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिये वेदादि शास्त्र ही प्रमाण हैं, अतः शास्त्राज्ञा जान कर स्वकर्म करो।' कोई भी कर्म शास्त्र-विधि रहित होने से पतन का कारण है, यही कहते हैं :

आशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः।
दम्भाहंकार संयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्धयासुर निश्चयान्॥
(गी० १७।५-६)

"—जो मनुष्य शास्त्र-विधि रहित घोर तप, दम्भ तथा अहंकार-संयुक्त होकर एवं काम, आसक्ति और बल से युक्त करते हैं।' 'वे अविवेकी मनुष्य शरीरस्थ इन्द्रियादि करण को और शरीरस्थ मुझ अन्तर्यामी को भी कृश करते हैं, उनको तुम आसुरी निश्चय वाले जानो।" आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य नरक तथा उससे भी अधम गति पाते हैं। **"ततो यान्त्यधमां गतिम्"** (गी० १६।२०)। अतः उत्तम गति तथा सुख के लिये शास्त्रीय मार्ग ही अनुकरणीय है।

वेदादि शास्त्रों द्वारा ही आत्मानात्म-विचार, जीव-जगत्-सम्बन्ध और जीवेश्वर-ज्ञान होता है। भगवान् कहते हैं :

ऋषिभिर्बहुधा गीत छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥
(गी० १३.४)

"—वशिष्ठादि ऋषियों-द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक अनेक प्रकार से कहा गया है, ऋग्वेदादि द्वारा भी पृथक्-पृथक् अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है और संशय-रहित निश्चित ज्ञानोत्पन्न करने वाले ब्रह्मसूत्र-पदों से भी कहा गया है।" उपासना के लिए भी भगवान् कहते हैं : **प्रणवः सर्ववेदेषु** (गी० ७।८) ' सब वेदों में मैं प्रणव हूँ', **वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च** (गी० ९।१७) "... जानने योग्य, पवित्र, ओंकार, ऋक्, साम तथा यजुर्वेद भी मैं ही हूँ"। तात्पर्य भगवान् श्रीकृष्ण वेदानुकूल स्वकर्म की प्रेरणा देते हैं। उपासना के लिए प्रतीकस्वरूप प्रणवादि बतलाते है और वेदान्तानुसार आत्मानात्म-विवेक का आग्रह करते हैं। वेदानुकूल होने से गीता परम प्रामाणिक और कल्याण-पथ की अखण्ड ज्योति है।

गीता में स्थान-स्थान पर उपनिषदों की ऋचाओं का उल्लेख है एवं उनके भावार्थ का भी यत्र-तत्र संग्रह किया गया है। उदाहरणार्थ कुछ गीता के श्लोक और उपनिषद्-वाक्यों को देखिए :

उपनिषद्	गीता
१. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (कठ० १।२।१८)	१. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो-नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (२।२०)
२. हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ (कठ० १।२।१९)	२. य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते। (२।१९)

उपनिषद्	गीता
३. श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रृण्वन्तोऽपिबहवो यं न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।। (कठ० १।२।७)	३. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदतितथैव चान्यः । आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।। (२।२९)
४. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहणेन ब्रवीम्योमित्येतत् ।। (कठ० १।२।१५)	४. यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।। (८।११)
५. आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् । तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। (अव० उप० ७)	५. आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् । तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। (२।७०)
६. एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया । (महो० ६।७३)	६. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति । (२।७२)
७. प्रजहाति यदा कामान्सर्वांश्चित्त गतान्मुने । (वरा० ४।२८)	७. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् । (२।५५)
८. योगस्थः कुरु कर्माणि नीरसो वाथ मा कुरु । (अक्ष्यु० ३)	८. योगस्थः कुरुकर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय । (२।४८)
९. न शुष्यति न क्लिद्यते न दह्यते न कम्पते न भिद्यते न च्छिद्यते । (आत्मोपनिषद्)	९. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः । (२।२३)
१०. इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः । (नार० परि० ३।७४)	१०. यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः । (२।५८)
११. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्य ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।(शरभो०२९)	११. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ।। (४।२४)
१२. यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योग सेवया । यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। (योगशिखो० ३।१४)	१२. यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योग सेवया । यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। (६।२०)

उपनिषद्	गीता
१३. सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्य मतीन्द्रियम् । यो० शि० ३।१५)	१३. सुखमात्यिन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्य-मतीन्द्रियम् । (६।२१)
१४. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते । (यो० शि० ३।१३)	१४. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।। (६।२२)
१५. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । (कैव० १०)	१५. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।। (६।२९)
१६. समलोष्टाश्मकाञ्चनाः । (भिक्षुकोपनिषद्)	१६. समलोष्टाश्मकाञ्चनः । (६।८,१४।२४)
१७. इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः । (संन्यासो० २।३०)	१६. इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत । (७।२७)
१८. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ।।(वरा०४।२६)	१८. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। (१२।१५)
१९. येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणाइव । (ब्रह्मोपनिषद्)	१९. मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव । (७।७)
२०. नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम् । (योग त० ३५)	२०. नात्युछ्रितं नातिनीचं चैलाजिन-कुशोत्तरम् । (६।११)
२१. निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः । (ना० प० ४।१३)	२१. निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् । (२।४५)
२२. यं यं वापि स्मरन् भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम् ।। (ना० प्र० ५।१)	२२. यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कान्तेय सदा तद्भावभावितः ।। (८।६)
२३. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ।। (वरा०४।२५)	२३. यस्यनाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। (१८।१७)
२४ क्षरः सर्वाणि भूतानि सूत्रात्मा ऽक्षर उच्यते । (यो० शि० ३।१५)	२४. क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । (१५।१६)

उपनिषद्	गीता
२५. मामेकं शरणं व्रज । (त्रिपाद्विभू० अ० ८)	२५. मामेकं शरणं व्रज । (१८।६६)
२६. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धि रेव च । (तेजो. ५।७६)	२६. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धि-रेव च । (८-४)
२७. न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । (कठ० २।५।१५)	२७. न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः । (१५।६)
२८. न किंचित्कर्तव्यमस्ति तदस्ति चेन्न स तत्त्वविद्भवति । (पैंग० ४।६)	२८. नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । (५।८)
२९. तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत्समि-त्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । (मु० १।२।१२)	२९. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व-दर्शिनः ।। (४।३४)
३०. ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगोद्विधा-मतः : (मिशि० २३)	३०. ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् । (३।३)
३१. यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन । (बृह० ४।४।२२)	३१. यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनी-षिणाम् । (१८।५)
३२. इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तुपरा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ।। (कठ० १।३।१६)	३२. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परंमनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धे परतस्तु सः ।। (३।४२)

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक उपनिषद् मनुस्मृति आदि के आधार पर गीता में विवेचन है, यही कारण है गीता की लोकप्रियता का ।

गीता में एकाध प्रसंग में ऐसा वर्णन है, जिसे देखकर अल्पज्ञ व्यक्ति यह धारणा बना लेते हैं, कि गीता में वेद की उपेक्षा, वेद-मार्ग-परित्याग का कथन और वेद निन्दा की गई है । यथा—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफल प्रदाम् ।
क्रियाविशेष बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। (गी० २।४३)

"पार्थ ! अज्ञानीजन कर्म, फलादि में प्रशंसक वेदवाक्यों में रत रहते हैं, पुष्पित वृक्षों जैसी शोभित रमणीय वाणी कहते हैं और कहते हैं कि कर्म, स्वर्गादि से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है' 'ऐसे कामपरायण पुरुष काम तथा स्वर्ग को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं, वे जन्मरूप कर्म-फल देने वाली ही वाणी कहते हैं, भोग तथा ऐश्वर्य को प्राप्त करने के अनेक साधन यज्ञादि का कथन करते हैं।' 'भोग तथा ऐश्वर्य में जो आसक्त हैं और क्रिया भेदों को बतलाने वाली वाणी से जिनका चित्त हर लिया गया है, ऐसे पुरुषों के अन्तःकरण में योग वा सांख्यविषयक निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं ठहरती।' 'वेद तीनों गुणों के कार्य संसार को प्रकाशित करते हैं, किन्तु हे अर्जुन ! तुम असंसारी हो, निर्द्वन्द्व, सदा सत्त्वसम्पन्न, योगक्षेम से रहित और आत्मवान् बन जाओ।" किन्तु इस वर्णन में वेद-निन्दा का कोई प्रसंग नहीं है। निन्दा उन अज्ञानियों की है, जो काम परायण हैं, भोगासक्त हैं और स्वर्ग ही जिनका परम पुरुषार्थ है। ऐसे पुरुषों की न समाधि में स्थिति होती है, न मुक्ति। स्वर्ग से पतन अवश्यम्भावी है, अतः विनाशशील स्थिति से अविनाशी आत्मलोक का पथ प्रशस्त करना ही इस प्रसंग का उद्देश्य है। कामना, कामोपभोग तथा ऐश्वर्य-प्राप्ति से मानसिक वृत्ति अनेकधा विभक्त होती है। जिस प्रकार खेत-सिंचन के लिए नदी से लाया गया जल मार्ग में ही इधर-उधर बह कर छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार मानसिक वृत्ति काम तथा भोगपरायण व्यक्ति की भौतिक सुखोपभोग में नष्ट हो जाती है। यदि नदी-जल ठीक मार्ग से खेत में सिंचन के लिये पहुंचता है, तो खेत की उर्वरा शक्ति बढ़ती है और उत्पादन में वृद्धि होती है। यही कार्य मानसिक वृत्ति का भी है, यदि कामोपभोगादि से वृत्ति विरत होकर आत्माभिमुख प्रवाहित होने लगती हैं, तो मायिक सुखोपभोग की भ्रान्ति मिट जाती है, अविद्या विनष्ट होती है और समाधि में आत्मानुभूति होकर परम पुरुषार्थ मुक्ति करामलकवत् प्राप्त होती है। यही कारण है कामना आदि के निषेध का। जो व्यक्ति वेद-वाक्यों का तात्पर्य स्वर्गादि ही सिद्ध करते हैं और उस कार्य में रत हैं, वह शोचनीय है, उन्हीं पुरुषों की इस प्रसंग में निन्दा की गई है। साथ ही वेद के कर्म काण्ड में फल का प्रलोभन देकर यज्ञादि कर्मों में रुचि उत्पन्न की गई है। वास्तविक उद्देश्य फल नहीं है, उद्देश्य है मन की शुद्धि। मानसिक शुद्धि होने पर स्वतः मानस-प्रवाह आत्माभिमुख हो जाता है और उससे पुरुष परम लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। कर्मकाण्ड में कर्म तथा फल का विवेचन है, वह तीनों गुणों के कार्य संसार तक ही सीमित है। इसके त्याग पर ही असंसारी आत्मा की प्राप्ति सम्भव है। इसी कारण **'निस्त्रैगुण्योभवार्जुन'** कहा

गया है। तीनों गुणों के कार्य संसार से रहित होने का उपदेश भी तो वेद द्वारा ही दिया जाता है, अतः वेद-निन्दा का कोई प्रश्न ही नही।

० ० ०

गीता प्रामाणिक है, यह सिद्ध होने पर भी शंका होती है कि गीता में जो दो प्रकार की निष्ठायें कही गई हैं, वह दोनों स्वतन्त्र हैं या उनका परस्पर सम्बन्ध हैं ? यदि दोनों स्वतन्त्र हैं, तो उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में एक पुरुष के लिये दोनों निष्ठाओं का कोई उपयोग नहीं। यदि दोनों की संगति है, तो उनमें क्या सम्बन्ध है ? इसे कहना आवश्यक है, तभी अधिकारी पुरुष की प्रवृत्ति होगी। साथ ही यह बतलाना भी आवश्यक है, कि साधक तथा साध्य में क्या सम्बन्ध है ? इस निर्णय के अधीन साधक की प्रवृत्ति साधन में होगी। अतः सम्बन्ध पर एक दृष्टि डालना समुचित होगा।

सम्पूर्ण गीता में कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा का विवेचन है। आरम्भिक द्वितीय अध्याय में दोनों निष्ठाओं का वर्णन सूत्र रूप से है।। **एषा तेऽभिहिता सांख्येबुद्धिः** (२।३९) '—यह सांख्य बुद्धि का आश्रय लेकर ज्ञाननिष्ठा कही गई', अब **योगेत्विमां शृणु** (२।३९) '—योगबुद्धि का आश्रय लेकर कर्मनिष्ठा सुनो'। **कर्मण्येवाधिकारस्ते···मा ते संगोस्त्वकर्मणि** (२।४७) '—तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है, फल में कभी तृष्णा नहीं होनी चाहिये, कर्म-फल का कारण मत बनो और अकर्म में भी आसक्त मत होओ', यहाँ तक कर्मयोग का वर्णन है। दूसरी ओर **निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्** (२।४५) '—निर्द्वन्द्व, सदा सत्वसम्पन्न, योगक्षेमरहित और आत्मवान् बन जाओ' का भी उपदेश है। किन्तु गति-स्थिति, दिन-रात्रि और तम-तेज के समान कर्म तथा ज्ञान का एक साथ अष्नुठान असम्भव है। यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, तो कर्म का उपदेश क्यों ? यही शंका अर्जुन ने तृतीयाध्याय के आरम्भिक दो श्लोकों में व्यक्त की। इसका समाधान भगवान् करते हैं :

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गी० ३।३)

निष्पाप अर्जुन ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा पूर्व में मैंने कही है, ज्ञानयोग से सांख्यों की और कर्मयोग से कर्मयोगियों की।' शुद्ध-अशुद्ध अन्तःकरण-भेद से दो प्रकार के साधनों का उल्लेख किया गया है। शुद्ध अन्तःकरण सम्पन्न पुरुषों के लिये ज्ञानयोग का विधान है और मलिन अन्तःकरण वाले व्यक्तियों के लिये कर्मयोग का। एक ही व्यक्ति के लिये दोनों का विधान नहीं है, क्योंकि ज्ञान तथा कर्म का एक साथ अनुष्ठान असम्भव है। हां, कर्म से शुद्धान्तःकरण होने पर

ज्ञान का अनुष्ठान हो सकता है। अत: ज्ञान और कर्म का साध्य-साधन सम्बन्ध है। साध्य-साधन अवस्था-भेद से एक ही निष्ठा दो प्रकार से कही गई है, इसी कारण 'निष्ठा' में एक वचन का प्रयोग है। **एकं सांख्यं च: योगं च य पश्यति स पश्यति** (गी० ५।५) '—जो सांख्य तथा योग को एक देखता है, वही यथार्थ देखता है', इसमें भी एक ही निष्ठा का प्रतिपादन है। जिस प्रकार एक पुस्तक में दो अध्याय होने पर भी उनमें पूर्वोत्तर संगति होती है, उसी प्रकार एक ही निष्ठा के दो विभाग हैं—कर्म तथा तथा ज्ञान। मोक्ष मार्ग में कर्म प्रथम सोपान है और द्वितीय ज्ञान। अत: पूर्वोत्तर संगति है। कर्मयोग साधन से अन्त:करण शुद्ध होने पर साध्य ज्ञानयोग में साधक प्रवेश करता है। ज्ञान से मुक्तस्वरूप परब्रह्म परमात्मा में अवस्थिति होती है। अत: ज्ञान-कर्म का साध्य-साधन सम्बन्ध है।

कुछ विद्वानों की मान्यता के अनुसार गीता में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों स्वतन्त्र मार्ग हैं, और दोनों से मोक्ष होता है। इसलिये ज्ञानयोग का कर्मयोग पूर्वाङ्ग नहीं है। साथ ही उनका कहना है—"यदि दोनों मार्ग एक से ही मोक्षदायक हैं, तो कहना पड़ेगा कि जो मार्ग हमें पसन्द होगा, उसे हम स्वीकार करेंगे। और फिर यह सिद्ध न होकर कि अर्जुन को युद्ध ही करना चाहिये ये दोनों पक्ष सम्भव होते हैं, कि भगवान् के उपदेश से परमेश्वर का ज्ञान होने पर भी चाहे वह अपनी रुचि के अनुसार युद्ध करे अथवा लड़ना-मरना छोड़कर सन्यास ग्रहण कर लें। इसीलिये अर्जुन ने स्वाभाविक रीति से यह सरल प्रश्न किया है, कि 'इन दोनों मार्गों में जो अधिक प्रशस्त हो, वह एक ही निश्चय से मुझे बतलाओ' (गी० ५।१) जिसके आचरण करने पर कोई गड़बड़ न हो।···भगवान् ने स्पष्ट उत्तर दिया है, कि सन्यास और कर्मयोग दोनों मार्ग नि:श्रेयस्कर अर्थात् मोक्षदायक हैं, अथवा मोक्ष-दृष्टि से एक ही योग्यता के हैं। तो भी दोनों में कर्मयोग की श्रेष्ठता या योग्यता विशेष है (विशिष्यते)' (गी० ५।२)।···इससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि गीता में सन्यास मार्ग की अपेक्षा कर्मयोग को ही श्रेष्ठता दी गई है"।

किन्तु ऐसा निष्कर्ष गीता का नहीं है, कर्मयोग गीता का गौण या साधन मार्ग है और मुख्य तथा साध्यमार्ग है ज्ञानयोग। इसका हम विचार कर चुके हैं, अत: पुन: विचार की आवश्यकता नहीं। गीता के पंचम अध्याय के प्रथम श्लोक में अर्जुन का प्रश्न है—हे कृष्ण ! आप कर्मों के संन्यास का और फिर कर्मयोग का उपदेश करते हैं, उन दोनों में से जो श्रेष्ठतर आपने सुनिश्चित किया हो, उसे मुझसे कहिये"। अर्जुन का प्रश्न ज्ञान सम्पन्न पुरुष के लिये है या ज्ञानरहित व्यक्ति के लिये ? ज्ञान सम्पन्न पुरुष के लिये तो हो नहीं सकता, क्योंकि 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार की निष्ठा से युक्त, एवं सदैव आत्मानन्द में निमग्न व्यक्ति, अज्ञानकृत अहंकारमूलक कर्मों का कभी स्वप्न में भी विचार नहीं कर सकता। **आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य**

कार्यं न विद्यते। (गी० ३।१७) '—जो आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है', अतः ज्ञानी के लिये तो प्रश्न हो ही नहीं सकता। अज्ञानी के सम्मुख कर्म संन्यास और कर्मयोग—दोनों मार्ग उपस्थित होते हैं, किन्तु एक ही समय दोनों से गमन सम्भव नहीं, क्योंकि दोनों में पूर्व-पश्चिम का विरोध है। संन्यास कर्मत्याग है और कर्मयोग में कर्म का विधान, अतः एक समय दोनों का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। यदि यह कहा जाय—"अर्जुन को पहले ही आत्मज्ञान का उपदेश दिया गया था, इसलिये अर्जुन ज्ञानी था, अतः ज्ञानोत्तर ही संन्यास या कर्मयोग का प्रश्न था।" तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में यह उपदेश व्यर्थ हो जाते हैं, **—न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते** (गी० ३।४) '—कर्मों का आरम्भ किये बिना मनुष्य निष्कर्म भाव को नहीं पाता', **कर्मण्येवाधिकारस्ते** (गी० २।४७) '—तेरा कर्म में ही अधिकार है', **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः** (गी० १८।४६) '—उस ईश्वर को वर्णानुसार अपने कर्मों से पूजा कर मानवसिद्धि-ज्ञान निष्ठा की योग्यता प्राप्त करता है'। **नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः** (गी० १८।११) '—देह में आत्माभिमान रखनेवाले अनात्मज्ञ द्वारा पूर्ण रूप से कर्मों का त्याग नहीं किया जा सकता', क्योंकि वह स्वाभाविक कर्मों से बँधा होता है। अर्जुन भी ऐसा ही था इसीलिये भगवान् कहते हैं :

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥
(गी० १८।६०)

'—कौन्तेय ! तुम अपने स्वाभाविक कर्मों से निबद्ध हो, अतः अविवेक से जो कर्म नहीं करना चाहते, वही कर्म विवश होकर करोगे।" इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अर्जुन ज्ञान निष्ठ नहीं था। महाभारत में वर्णित 'अनुगीता' में स्वयं अर्जुन का कथन है :

यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ॥
(म० अश्व० १६।६)

"—केशव आपने सौहार्दपूर्वक पहले जो ज्ञानोपदेश दिया था, मेरा वह सब ज्ञान विचलित चित्त होने से नष्ट हो गया" इससे स्पष्ट है, कि अर्जुन का चित्त चंचल तथा अशुद्ध था और यही कारण था उसके ज्ञान-ग्रहण न करने का। ब्रह्म में स्थिति तो थी ही नहीं, क्योंकि एक बार स्थिति होने पर फिर कभी विस्मृति नहीं हो सकती। उत्तर में भगवान् कहते हैं : **श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्**

(म० भा० अश्व० १८।६) '—उस समय मैंने तुमको अतीव गुह्य ज्ञान बतलाया था, **नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव** (म० भा० अ० १६।११) '—अर्जुन ! निश्चय ही तुम अश्रद्धालु हो और तुम्हारी बुद्धि दूषित जान पड़ती है', **स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने** (म० भा० अ० १६।१२) '—वह धर्म (गीतोक्त ज्ञान) ब्रह्मपदस्वरूप मोक्ष प्राप्त करने के लिये पर्याप्त था' भगवान् के उत्तर से भी स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन में आत्म-ग्रहण की योग्यता न थी। अतः अर्जुन न आत्मज्ञानी था, न विज्ञानी।

अर्जुन पाप-भय से कर्म-त्याग की ओर अभिमुख हो रहा था, उसे वास्तव में न तो वैराग्य था, न विवेक। विवेक-वैराग्य-विहीन व्यक्ति का संन्यास में अधिकार नहीं है, उसके लिए संन्यास भारस्वरूप ही ही होता है। इसीलिये भगवान् का कहना है :

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्म संन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥
(गी० ५।२)

"—संन्यास और कर्मयोग यद्यपि दोनों मोक्ष के साधन हैं, तथापि उन दोनों में (अविद्वान् के लिये) कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है।" जिस प्रकार वैद्य रोगी से कहे 'खिचड़ी और दूध दोनों पुष्टिकारक हैं, तथापि दूध से खिचड़ी अधिक उत्तम है'। रोगी की परिस्थिति के अनुकूल खिचड़ी को उत्तम कहा, वास्तव में तो दूध ही श्रेष्ठ है। किन्तु रोगी दूध पचाने में असमर्थ है, इस कारण उसके लिये खिचड़ी ही श्रेष्ठ है। इसी प्रकार अशुद्ध अन्तःकरण सम्पन्न व्यक्ति के लिये कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। यदि विवेक, वैराग्य, शम, दमादि साधन नहीं है, तो संन्यास से कोई लाभ नहीं। श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन पूर्वक ब्रह्मात्मैक्य में स्थिति होने से ही मुक्ति मिलती है। विवेकादि-शून्य होने पर संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है। क्योंकि निष्काम कर्म से ईश्वर-प्रसन्नता, ईश्वर-प्रसन्नता से इन्द्रिय-प्रसन्नता, इन्द्रिय-प्रसन्नता से अन्तःकरण-निर्मल और अन्तःकरण-निर्मल होने पर विवेक, वैराग्यादि की उत्पत्ति होती है, इससे आत्मज्ञान और आत्मज्ञान से मोक्ष होता है। इस प्रकार अज्ञानी के लिये संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ ही है। मलिन अन्तःकरण-व्यक्ति के संन्यास लेने पर भी ज्ञाननिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकती। कर्मयोग से अन्तःकरण शुद्ध होने पर ज्ञाननिष्ठा की योग्यता होती है, तभी संन्यास सहायक हो सकता है। यही भगवान् कहते हैं :

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥
(गी० ५।६)

"—हे महाबाहो ! कर्मयोगानुष्ठान के बिना संन्यास प्राप्त होना अत्यन्त दुर्घट है, अतः ईश्वरार्पण भाव से कर्मयोग तथा ईश्वर-स्वरूप का मनन करने वाला शीघ्र ही ब्रह्म (संन्यास) को पा लेता है।" इन शब्दों से भी ध्वनित होता है कि कर्मयोग साधन के द्वारा ज्ञानयोग प्राप्त होता है। अतः ज्ञान-कर्म में साध्य-साधन सम्बन्ध स्थिर है।

वेदान्त में भी कर्मयोग ज्ञान का साधन माना गया है :

ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।
(बृह० ४४।२२)

"—ब्राह्मणादि यज्ञ, दान एवं अनाशक तप से ब्रह्मज्ञान की इच्छा करते हैं।" इसी के आधार पर गीता में कहा है : **यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्** (गी० १८।५) '—यज्ञ दान एवं तप ये तीनों बुद्धिमानो को, पवित्र करते हैं", कर्मफल मे होना ही बुद्धिमानी है और जिसमें यह बुद्धि हो वही बुद्धिमान है। कामना तथा निष्काम आसक्ति-सहित कर्म फलोपभोग एवं बन्धनकारक होते हैं, किन्तु निष्काम तथा अनासक्ति पूर्वक कर्म अन्तःकरण-शुद्धि-द्वारा ज्ञानोत्पन्न में सहायक होते हैं। गीता में श्रौत-स्मार्त दोनों प्रकार के कर्मों से अन्तःकरण-शुद्धि कही गई है। ऊपर श्रौत कर्म का प्रमाण दिया गया, अब स्मार्त कर्म के सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गी० १८।४६)

"जिस ईश्वर से समस्त भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस ईश्वर को वर्णानुसार अपने कर्मों से अर्चन कर मानव सिद्धि-ज्ञान-निष्ठा की योग्यता प्राप्त करता है।"

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
(गी० ५।११)

"—योगी लोग केवल ईश्वरार्थ-कर्म देह से, मन से, बुद्धि से और इन्द्रियों से भी फलासक्ति त्याग कर अन्तःकरण-शुद्धि के लिये करते हैं **क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा** (गी० ४।१२) '—इस मनुष्य लोक में कर्म से शीघ्र ही सिद्धि होती है', 'मानुषे लोके' का अभिप्राय है, कि मनुष्य लोक में ही चातुर्वर्ण्य व्यवस्था, चार आश्रम और कर्म-विधि है, अतः अति शीघ्र सिद्धि-प्राप्त होती है। अन्य लोकों में इनका अभाव है, इसलिये सिद्धि-शीघ्र नहीं होती। अतः ईश्वरार्थ कर्म कर्तव्य हैं, फलार्थ-कर्म नहीं करने चाहिये। भगवान् ईश्वरार्पण कर्मों की प्रेरणा देते हैं :

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्यमत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ।।
(गी० १८।५७)

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
(गी० १८।५८)

"--विवेक बुद्धि पूर्वक सब कर्मों को मुझ ईश्वर के समर्पण कर तथा मेरे परायण होकर, बुद्धियोग के आश्रय से मुझमें निरन्तर चित्त-लगाओ।" 'मुझमें चित्त-लगाकर मेरी प्रसन्नता से तुम समस्त संसार के जन्म-मरण कारण से तर जाओगे।' कर्म-फल-त्याग से मुक्ति कैसे मिलती हैं ? इसका वर्णन भगवान् करते हैं :

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।
(गी० २।५१)

"समत्व बुद्धियुक्त पुरुष कर्म से उत्पन्न होने वाला फल-त्याग कर मनीषी अर्थात् ज्ञानी होकर, जन्म-बन्धन से मुक्त होकर दुःखरहित परम पद पा लेते हैं।" समत्व-बुद्धिपूर्वक निष्काम कर्म से ज्ञानोत्पन्न होता है और ज्ञान से मोक्ष। यद्यपि धर्म ज्ञान का बाह्य साधन है, तथापि योग-समता का समावेश हो जाने पर वही अंतरंग साधन हो जाता है। कर्मयोग में कर्म की प्रधानता होती है और योग की गौणता। अभ्यास के परिपाक होने पर कालान्तर में योग प्रधान हो जाता है और कर्म गौण। योग प्रधान होने पर शम, दमादि साधनों का विकास होता है और मन शान्त होकर आत्मदर्शन होता है। यही क्रम गीता में बार-बार अनेक प्रकार से कहा गया है, यथा :

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।
(गी० ६.३-४)

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।
ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।
(गी० ६।७-८)

"योग में स्थित होने वाले मुनि—कर्मफलत्यागी पुरुष के लिये ध्यानयोग पर आरूढ होने का साधन 'कर्म' कहा गया है, और योगारूढ के लिये स्थित रहने का

साधन 'शम' कहा गया है।' 'योगी जब शब्दादि विषयों में तथा नित्यादि कार्यों में कुछ भी प्रयोजन नहीं देखता, तब वह सर्व संकल्प संन्यासी 'योगारूढ' कहा जाता है।' 'मन आदि शरीर जिसने अपने वश में कर लिया है तथा प्रसन्न रहता है, वह परमात्मा को आत्मभाव से देखता हैं, वह शीतोष्ण, सुख-दुख तथा मानापमान में भी सम रहता है।' 'ज्ञान-विज्ञान से तृप्त अन्त:करण वाला अविचलित, इंद्रियजयी, और लोहा, पत्थर तथा सोने आदि में समदृष्टि रखनेवाला योगी 'समाधिस्थ' कहा जाता है।'

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है, कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों स्वतन्त्र निष्ठायें नहीं हैं। गीता में यह कहीं नहीं कहा गया है, कि कर्मयोग से ही मुक्ति होगी। केवल संन्यास से भी मुक्ति का कहीं प्रतिपादन नहीं है। मुक्ति एकमात्र ज्ञानयोग से कही गई हैऔर ज्ञान होता है शमादि आन्तरिक साधनों से, शमादि होते हैं ध्यानयोग से और ध्यानयोग का साधन है निष्काम कर्मयोग। इस प्रकार कर्मयोग आधार-शिला है, जिस पर ज्ञानयोग का अमर भवन खड़ा होता है। अत: ज्ञानयोग का पूर्वाङ्ग या साधन है कर्मयोग और कर्मयोग का उत्तरांग या साध्य है ज्ञानयोग।

साधन-दृष्टि से ज्ञानयोग तथा कर्मयोग पर विचार किया गया। अब साधक-दृष्टि से विचारणीय है जीव तथा ईश्वर का सम्बन्ध। जीव तथा ईश्वर के सम्बन्ध से पूर्व जीवेश्वर-स्वरूप पर एक दृष्टि डालना समुचित होगा। गीता में ईश्वर-स्वरूप तीन प्रकार के बतलाये गये हैं—१. निर्गुण निराकार, २. सगुण, निराकार और ३. सगुण, साकार। जीव के भी तीन रूप मिलते हैं—१. निर्गुण निराकार आत्मा, २. सगुण, निराकार जीव और ३. सगुण, साकार मानव आदि। ईश्वर के निर्गुण, निराकार स्वरूप का वर्णन निम्न श्लोकों में मिलता है :

> अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु:परमां गतिम्।
> यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धामपरमं मम ।। गी० ८/२१
> ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
> सर्वत्रगमचिन्त्यंच कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।। गी० १२/३
> ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
> अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।
> सर्वत: पाणिपादं तत्सर्वतो ऽक्षि शिरोमुखम्।
> सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।
> सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितिम्।
> असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।
> गी० १३/१२-१४
> अनादि निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्यय:।
> शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।गी० १३/३१

"—वह 'अव्यक्त' तथा 'अक्षर' कहा गया है, उसी को श्रेष्ठ गति भी कहते हैं, जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परम स्थान है।' 'जो पुरुष अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रव्याप्त, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और शाश्वत ब्रह्म की उपासना करते हैं।' 'जो ज्ञातव्य है, उसको मैं कहूँगा, जिसको जान कर पुरुष मुक्त हो जाते हैं, वह ज्ञेय तत्व ब्रह्म अनादिगत है तथा उसे न सत् कहते हैं न असत्।' '(क्षेत्रोपाधि से) ज्ञेय सब ओर हाथ-पैर वाला, सब ओर नेत्र, शिर तथा मुख वाला और सब ओर कान वाला है, लोक में वह सबको व्याप्त कर स्थित है।' 'सब इंद्रियों के गुणों से अवभासित प्रतीत होता है. किन्तु सर्वेन्द्रिय विवर्जित है, संगरहित, सबको धारण करने वाला अधिष्ठान, निर्गुण और सब गुणों का भोक्ता है।' 'कौन्तेय ! यह परमात्मा अनादि, निर्गुण तथा अव्यय है, अतः शरीरस्थ होने पर भीकुछ नहीं करता और लिप्त भी नहीं होता।" वस्तुतः निर्गुण, निराकार परमात्मा का शब्दों-द्वारा वर्णन असम्भव है। इसीलिये निषेधात्मक शब्दों से या क्षेत्रोपाधि के आश्रय से कथित होता है। इस प्रकार के वर्णन गीता में सर्वत्र मिलते हैं।

सगुण, निराकार स्वरूप का परिचय निम्न श्लोकों में दिया गया है :

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रेमणिगणा इव ॥
गी० ७/७

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥
गी० ९/१०

पितामहस्य जगतो माताधाता पितामहः।
वेद्यंपवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधान बीजमव्ययम् ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैवमृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ ९।१७-१९
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानिमायया ॥ १८।६१

"—धनंजय ! मुझ ईश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई जगत् का कारण नहीं है, मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् तथा जीव सूत्र में मणियों की भाँति गुथे हैं।' 'कौन्तेय ! मेरी अध्यक्षता से त्रिगुणमयी माया चराचर जगत् उत्पन्न करती है, इसी कारण समस्त जगत् सब अवस्थाओं में परिवर्तित होता है।' 'मैं ही इस जगत् का पिता-

माता, विधाता और पितामह हूँ, जानने योग्य, पवित्र ओंकार, ऋक्, साम तथा यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।' 'कर्मफल, भर्ता, स्वामी, साक्षी, वासस्थान, शरण और सुहृत् भी मैं ही हूँ, प्रभव तथा प्रलय मैं हूँ, स्थान, कर्मों का भण्डार और अविनाशी बीज भी मैं हूँ।' 'अर्जुन ! मैं ही सूर्य होकर तपता हूँ, वर्षा करता हूँ, जल का शोषण करता हूँ और पुनः वर्षा करता हूँ, अमृत तथा मृत्यु, सत् तथा असत् भी मैं ही हूँ।' 'अर्जुन ! सब भूतों के हृदय में ईश्वर स्थित है, कठपुतली को जैसे सूत्रधार घुमाता है, वैसे ही माया से ईश्वर सब भूतों को घुमाते हैं।'' शुद्ध ब्रह्म निर्गुण, परिपूर्ण, निरंश एवं चिद्घनानन्द है। उसी में अंश की कल्पना और एक अंश में मरु-मरीचिका जल के समान माया की कल्पना है। इस माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म, माया का अधिष्ठान और माया सहित ब्रह्म को 'ईश्वर' कहा जाता है, 'मायोपाधिक ब्रह्म' भी इसे कहते हैं। दण्ड-धारण से 'दण्डी' और गंगा-तट पर निवास से 'गंगावासी' के समान माया-सम्बन्ध से 'मायी', 'महेश्वर' आदि भी कहा जाता है। माया त्रिगुणमयी है, इसी कारण 'सगुण ईश्वर' कहा जाता है। यही ईश्वर जगत् का प्रलयोत्पत्ति कर्ता, भर्ता और कर्मफल प्रदाता है। यही अनन्त गुणगणों का अक्षय स्रोत, सर्वशक्ति सम्पन्न, सर्वज्ञ, न्यायकारी, दयालु और जीव का अंशी है। ईश्वर माया का स्वामी है, इसी से माया ईश्वर की आज्ञानुवर्तिनी है।

ईश्वर के सगुण, साकार स्वरूप स्वयं गीतोपदेष्टा श्रीकृष्ण हैं। सगुण, निराकार ईश्वर ही सगुण, साकार रूप में अवतरित होते हैं। इसका वर्णन करते हुये भगवान् कहते हैं :

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्म मायया ।।

गी० ४/६

''—यद्यपि मैं अजन्मा, अव्यय तथा आत्मा हूँ, सम्पूर्ण भूतों का ईश्वर भी हूँ, तथापि अपनी प्रकृति को अपने वश में कर, उसी स्वस्वरूत माया से जन्म लेता हूँ।'' ईश्वर किसी भी रूप में हों, अपने स्वरूप से कभी प्रच्युत नहीं होते और न स्वरूप-विस्मृति होती है, यही उनकी विशिष्टता है। उपर्युक्त कथन में ही 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा' से अपने निर्गुण, निराकार स्वरूप का स्मरण करते हैं। फिर सगुण, साकार औपाधिक स्वरूप का वर्णन 'भूतानामीश्वरोऽपि सन्' से करते हैं और अन्त में सगुण, साकार स्वरूप में अवतरित होने की विधि का कथन 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्म मायया' से कहते हैं। सभी जीव कर्म-परतन्त्र फलोपभोग के लिये जन्म लेते हैं और उनके जन्मप्रदाता ईश्वर हैं। किन्तु ईश्वर का जन्म स्वतन्त्र तथा संकल्प-मात्र से होता है। इसी से कहते हैं : **जन्म कर्म च मे दिव्यम्** (गी० ४।९)

'—मेरा मायामय जन्म और कर्म दिव्य है। सगुण, साकार स्वरूप में बन्धु, बान्धव तथा इष्ट-मित्र होते हैं। परस्पर स्नेह, वार्ता, शयन, भोजन और हास-परिहास भी होते हैं। स्वयं अर्जुन का कथन है :

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मयाप्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षंतत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।। ११/४१-४२

''—आपकी महिमा न जानकर एवं मित्र समझकर जो अपमानपूर्वक हठ से हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! आदि कहा है और प्रमाद तथा प्रणय से जो कुछ कहा है।' 'एवं विहार, शय्या, आसन और भोजनादि में अकेले अथवा बहुतों के मध्य हँसी के लिये भी जो आप मुझसे अपमानित हुये हैं, हे अच्युत ! उन समस्त अपराधों की मैं आप अप्रमेय से क्षमा चाहता हूँ।'' ईश्वर का साकार शरीर व्यष्टि भी है और समष्टि भी। समस्त विश्वरूप ईश्वर का समष्टि स्वरूप है, जिसे कोई भी बिना ईश्वर-कृपा नहीं देख सकता। व्यष्टि स्वरूप को भी कोई ही जानते हैं- कि 'यह ईश्वर है', अन्य सभी साधारण मनुष्य ही समझते हैं और कुछ लोग अद्भुत् कर्मों को देख-सुनकर पराक्रमी या महापुरुष कहने लगते हैं। वस्तुतः ईश्वर के तीनों स्वरूपों में कोई अन्तर नहीं है। स्वरूपतः आत्मा एक है, औपाधिक भेद से ज्ञान-शक्ति, क्रियाशक्ति और शरीरधारण में अन्तर होता है, किन्तु अपने स्वरूप में स्थिति, स्वरूप का सदैव स्मरण और उपाधि-भेद का सर्वदा भान रहता है।

ईश्वर की तरह जीव के भी तीन स्वरूपों का गीता वर्णन करती है। निर्गुण, निराकार शुद्ध आत्मस्वरूप का कथन इन शब्दों में देखिये :

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वाऽभवितावानभूयः।
अजो नित्यःशाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।
वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।। २।२०-२१
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।। २।२४-२५
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।५।१४
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषःपरः ।। १३।२२

"—यह अज आत्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी नष्ट होता है और न कभी उत्पत्ति का अनुभव कर अभाव को प्राप्त होता है, इसलिए मरता नहीं और न शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश ही होता है, अतः यह नित्य, शाश्वत और पुराण है।' 'पार्थ ! जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मारता और कैसे किसको मरवाता है।' 'यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, स्थिरस्वभाव, अचल और सनातन है, इसलिए छेदन, दाह, क्लेदन और इसका शोषण नहीं हो सकता।' 'आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है, इस प्रकार आत्मा को जान कर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।' 'देहादि का स्वामी आत्मा न तो कर्तापन को उत्पन्न करता है, न कर्मों से इष्टवस्तु को रचता है और न कर्मफल के साथ संयोग का अनुभव करता है, किन्तु स्वभाव ही बर्तता है।' 'उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहा जाने वाला पुरुष इस शरीर में अव्यक्त (प्रकृति) से परे है।" आत्मा के लक्षण और निर्गुण, निराकार, ब्रह्म के लक्षण ध्यान से देखने पर एक ही प्रतीत होते हैं। प्रकृति तथा प्रकृति के गुणों से सर्वथा अतीत, अकर्ता, अज, अविनाशी, अचिन्त्य और नित्य दोनों कहे गये हैं। दोनों ही ज्ञेय हैं, एकमात्र ज्ञान से ही ज्ञात होते हैं। वस्तुतः प्रसंगानुसार पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है, किन्तु दोनों एक ही हैं। एक ही चेतन तत्त्व का वर्णन शरीर-सापेक्ष दृष्टि से 'आत्मा' और जगत्-सापेक्ष दृष्टि से 'ब्रह्म' आदि शब्दों से किया गया है। वस्तुतः दोनों एक हैं—**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत** (गीता १३।२) '—हे भारत ! तुम सम्पूर्ण क्षेत्रों (शरीर) में क्षेत्रज्ञ (आत्मा) भी मुझको ही जानों, **वासुदेवः सर्वमिति** (गीता ७।१९) '—यह सब वासुदेव है।' इसी प्रकार उपनिषदों में **तत्त्वमसि** (छा० ६।८।७) '—वह तुम ही हो' **अहं-ब्रह्मास्मि**' (बृ० १।४।१०) '—मैं ब्रह्म ही हूँ, **वासुदेवो ऽहमेव** (वरा० २।३७) '—मैं वासुदेव ही हूँ', **स त्वमेव त्वमेव तत्** (कैव० १।१६) '—वह तुम ही हो, तुम ही वह हो', इत्यादि एकत्व प्रतिपादक महावाक्य मिलते हैं। भूमा तत्त्व ही आत्मा है, किन्तु अज्ञानवश इसकी प्रतीति नहीं होती। अज्ञानावरण का निवारण एकमात्र ज्ञान से होता है। बुद्धिवृत्ति जब विषयाकाररहित हो अपने अधिष्ठान आत्मा की ओर अभिमुख होती है, तभी आत्माकाराकारित होती है। इस ज्ञानवृत्ति से अज्ञानावरण का विध्वंस और शुद्ध आत्मस्वरूपानुभूति होती है। तभी कारणसहित सम्पूर्ण कर्म प्रदग्ध हो जाते हैं और जन्म-मरण-चक्र से निवृत्त हो, शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति होती है। इस प्रकार शुद्धस्वरूप का ऐकात्म सम्बन्ध है।

जीव के सगुण, निराकार स्वरूप के सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं :—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान् ।।
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।
(गी० १३।१९–२१)

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।
(गी० १५।९)

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।
(गी० १५।१०)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।
(गी० १५।७)

"—ईश्वर की दोनों प्रकृतियाँ, प्रकृति और पुरुष–जीव को तुम अनादि जानो, विकारों और गुणों को तुम प्रकृति से उत्पन्न जानो ।' 'कार्य शरीर और करण इंद्रियाँ इनके कर्तापन में हेतु प्रकृति है, पुरुष सुख-दुःखादि-भोगों के भोक्तापंन में कारण कहा जाता है ।' 'कार्य, करण रूप में परिणत होकर प्रकृति में पुरुष स्थित होकर अपना स्वरूप ही उसको मान कर प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है, गुणों में आसक्ति के कारण पुरुष उत्तम-निकृष्ट योनियों में जन्म लेता है ।' 'शरीर में स्थित जीव श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, और नासिका तथा छठे मन को आश्रय बना कर विषयों का सेवन करता है ।' 'उत्क्रमण, स्थित, भोग और सुखादि गुणों से युक्त आत्मा को मूढ़ नहीं देखते, किन्तु ज्ञान नेत्रों वाले देखते हैं ।' 'जीवलोक में जीव मुझ सनातन ईश्वर का ही अंश है, यह श्रोत्रादि इन्द्रियों की प्रकृति (गोलकों) में स्थित इन्द्रियों को तथा मन जिसमें छठा है, आकर्षित करता है ।" जीव ईश्वर का अंश है और ईश्वर अंशी । महाकाश के समान निर्गुण, निराकार परमात्मा है, उसी में मठाकाश के समान सगुण ईश्वर और ईश्वर में ही घटाकाश के समान जीव है । मठाकाशस्थानीय ईश्वर अनन्त माया शक्ति समन्वित है । माया से ही ईश्वर अहंकार, बुद्धि, मन, आकाश, वायु, तेज, जल एवं भूमि उत्पन्न करते हैं । इन्हीं तत्त्वों से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रगण, पृथिवी आदि तीन लोक तथा चौदह भुवन की रचना होती है । मानव, दानव, देव, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि के शरीर भी ईश्वर के अन्तर्गत हैं । मन, इन्द्रियादि में प्रतिबिम्बित आत्मा ही जीव कहा जाता है । ईश्वर मायोपाधिक है और जीव मन की उपाधि वाला । माया कारण है और मन कार्य,

इसी से श्रुति का कथन है—**कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः** (त्रिपाद्विभू० ४) '—यह जीव कार्योपाधि युक्त है और ईश्वर कारणोपाधि युक्त।' मन आदि समस्त कार्य ईश्वर-शासित हैं, इसी से मनोपाधि जीव भी ईश्वर के अधीन हैं। ईश्वर माया का शासक और सर्वज्ञ है, जीव शासित तथा अल्पज्ञ। जीव अपने आत्मस्वरूप को नहीं जानता, मन, इन्द्रियादि को ही भ्रम से स्वरूप समझता है। इनके भरण-पोषण के लिये दिन-रात्रि प्रयत्नशील रहता है, शुभाशुभ कर्म द्वारा शुभाशुभ योनियों में सुख-दुःखानुभव करता है। ईश्वरीय माया से मोहित होने के कारण, अपने आत्म-स्वरूप की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। भगवान् का कथन है:—

दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गी० ७।१४)

"—इस त्रिगुणमयी मेरी माया का अतिक्रमण करना अतीव कठिन है, जो मेरी शरण में आते हैं, वह माया से पार हो जाते हैं।" अंश तभी परिपूर्ण एवं सुखी होता है, जब अपने अंशी को पाता है। बिना ईश्वर-प्राप्ति के जीव कभी सुखी नहीं हो सकता, ईश्वर की प्राप्ति के लिये एकमात्र मार्ग है भक्तियोग। स्वयं ईश्वर कहते हैं:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(गी० ९।३४)

"—तुम मुझमें मन वाले हो, मेरी भक्ति करो, मेरा ही पूजन और मुझे ही नमस्कार करो, इस प्रकार मुझमें ही चित्त लगाकर, मेरे परायण हुए तुम मुझ को ही प्राप्त हो जाओगे।" इस प्रकार सगुण ईश्वर और अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा जीव का सम्बन्ध अंशी और अंश का है। जीव एकमात्र सर्वभाव से ईश्वर की शरण जाने पर ही उपाधि से मुक्त होकर आत्मस्वरूप में स्थित होता है। इसी से भक्ति का अत्यन्त माहात्म्य है।

जीव का सगुण, साकार रूप शरीर है, इसके सम्बन्ध में कहा है:—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
(गी० १३।१)

"—**कौन्तेय** ! यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है और जो इस शरीर को जानता है उसको ज्ञानी पुरुष क्षेत्रज्ञ कहते हैं।" पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण और अन्तःकरण चतुष्टय का निवास-स्थान शरीर है, शरीर का स्वामी जीव भी इसी

में रहता है। स्वभावानुसार जीव की भिन्न -भिन्न कर्मों में प्रवृत्ति होती है। जीव के सुखोपभोग के लिये कर्मेन्द्रियाँ विषय-संग्रह करती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोपभोग, तथा अन्त:करण सुख-दु:खानुभव करता है। यद्यपि प्राकृतिक क्षेत्र में प्राकृतिक विषयों का ही आदान-प्रदान, उपभोग और सुख-दु:ख का अनुभव होता है, तथापि जीव मोहित होकर स्वयं उपभोग और सुखदु:खानुभव का अभिमानी हो जाता है। कर्तापन और भोक्तापन के कारण अन्त:करण में राग-द्वेषादि के संस्कार बन जाते हैं। संस्कार और मरणकाल-समय-उदित भावना के अनुसार पुनर्जन्म होता है। यह क्रम अनादि काल से अनन्त काल तक चलता है। प्राणी क्षण भर भी विना कर्म के नहीं रह सकता, क्योंकि कर्ममय ही उसका जीवन है। इसीलिये गीता कहती है :

न हि कश्चित् क्षणमपि जातुतिष्ठत्य कर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।
(गी० ३।५)

"—कभी कोई भी अज्ञानी प्राणी क्षणभर के लिये कर्म किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि सभी प्रकृति के गुणों से विवश कुछ न कुछ करते ही हैं।" जीव की प्रकृति कर्म की ओर प्रेरित करती है, तब जीव कर्म करता है अपने सुखोपभोग के लिये और कर्म का स्वाभाविक परिणाम होता है दु:खमय जन्म-मरण की परम्परा। जब तक कर्म की धारा 'स्व' से 'पर' की ओर नहीं मुड़ती, तबतक जीव को वास्तविक सुख तथा शान्ति नहीं मिलती और जन्म-मरण की परम्परा का भी अन्त नहीं होता। यही कारण है, जिससे भगवान् कर्म की प्रेरणा बार-बार देते हैं। उनका कहना है :

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।
(गी० ३।९)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।
(गी० ३।१९)

"—ईश्वरार्थ कर्म से अन्य कर्म करने से मनुष्य-कर्मबन्धन में पड़ता है, अत: कौन्तेय ! फल तथा आसक्तिरहित हो, ईश्वर के निमित्त कर्म करो।" 'इस लिये तुम आसक्तिरहित होकर, नित्य कर्तव्य कर्म का सदा भलीभाँति आचरण करो, अनासक्त कर्म करने से अन्त:करण की शुद्धि-द्वारा पुरुष मोक्ष-प्राप्त कर लेता है।" अपने सगुण, साकार समष्टि तथा व्यष्टि रूप की ओर संकेत करते हुये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(गी० ११।५५)

"—पाण्डव ! जो मेरे लिये कर्म करता है, मेरे परायण है और मेरा भक्त है, संगरहित तथा सब भूतों में बैरभाव-विहीन है, वह मुझे पाता है ।" ईश्वर के साकार समष्टिरूप में ही जीव का साकार रूप स्थित है । समष्टिरूप से निरन्तर ईश्वर कर्म करते हैं, किन्तु स्वार्थ तथा कर्तापनके अभिमान-शून्य होने से सदैव अकर्ता ही रहते हैं । जीव भी कर्म करता है, किन्तु वह स्वार्थ तथा कर्तापन के अभिमान से युक्त है, इसी से बन्धन होता है । ईश्वर-द्वारा निश्चित कर्म फलाभिसन्धिरहित करने से वह कर्म ईश्वर के निमित्त हो जाते हैं । उनसे ईश्वर की प्रसन्नता होती है, ईश्वर के प्रसन्न होने पर मन की गति ईश्वर की ओर मुड़ जाती है और मन ईश्वर में तल्लीन होने से जीव ईश्वर को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार साकार ईश्वर से साकार जीव का सम्बन्ध सेव्य-सेवक है । अत: शरीर-द्वारा ईश्वर-सेवा और मन-द्वारा भक्ति निष्पन्न होने पर जीव का कल्याण सुनिश्चित है ।

कर्म शरीर प्रधान है, भक्ति मन प्रधान और ज्ञान बुद्धि प्रधान है । इसी कारण सगुण, साकार रूप से सगुण, साकार ईश्वर के निमित्त कर्म कर्तव्य हैं । सगुण, निराकार ईश्वर की भक्ति सगुण, निराकार मनोपाधिक जीव का कर्तव्य है और निर्गुण, निराकार आत्मस्वरूप का ज्ञान बुद्धि-द्वारा होता है । इस प्रकार जीव तथा ईश्वर का सम्बन्ध और उनके साधनो का सम्बन्ध गीता में प्रदर्शित है । ज्ञान तथा कर्म का सम्बन्ध साध्य-साधन और ईश्वर तथा जीव का सम्बन्ध प्राप्य-प्रापक है ।

————

परमार्थ-प्रयोजन

गीता जैसे सर्वप्रिय तथा जटिल ग्रन्थ का गीता के ही दृष्टिकोण से तात्पर्य निकालने में 'अनुबन्ध चतुष्टय' की निर्णायक भूमिका है। इन चारों में अन्तिम 'प्रयोजन' ही साध्य है, अन्य तीनों साधन।साध्य-प्राप्ति साधन के अधीन होती है,क्योंकि साधन का लक्ष्य साध्य ही है।सभी प्राणियों की चेष्टायें किसी न किसी प्रयोजन के लिए होती हैं,चींटी जैसा क्षुद्र प्राणी हो या हाथी जैसा विशालकाय जन्तु, बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करता। फिर मानव जैसे परिष्कृत बुद्धिसम्पन्न प्राणी की क्रिया तो विना उद्देश्य सम्भव ही नहीं। इसीलिये शास्त्र का उद्घोष है :

अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ (मनु० २/४)

"यहाँ अकाम पुरुष की कोई क्रिया कहीं देखने में नहीं आती, जन्तु जो कुछ करता है, वह सब काम की ही चेष्टा है।" मानव की सम्पूर्ण क्रिया एवं लक्ष्य का समावेश धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में हो जाता हैं। वस्तुतः इन चारों में अन्तिम मोक्ष ही साध्य है, अन्य धर्मादि तीनों साधन। मोक्ष का स्वरूप अविनाशी जीवन, अखण्ड ज्ञान और अनन्त आनन्द है। प्रत्येक प्राणी अमरत्व, ज्ञान और सुख के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। अविवेकी पुरुष अर्थ तथा काम का सञ्चय एवं उपभोग भी इसी निमित्त करते हैं, धार्मिकों के धार्मिक अनुष्ठान का लक्ष्य भी यही है और विवेकी जनों की उपासना तथा ज्ञान का उपयोग भी इसी मोक्ष के लिये ही है। विवेकी पुरुषों को पूर्णतः मोक्षस्वरूप का विवेक होता है, इसी कारण वह शुद्ध

मोक्षस्वरूप परमानन्द में स्थित हो जाता है। अविवेकी मानव अर्थ तथा कामोपभोग-जन्य सुख को ही मोक्ष मान लेते हैं और धार्मिक जन स्वर्ग-सुख को। अविवेकपूर्वक साध्यस्वरूप के निश्चय और तदनुकूल साधन के कारण इन दोनों का सुख अल्पकालिक होता है। किन्तु विवेकी पुरुष का साध्यस्वरूप और साधन शुद्ध होने से सुख सर्वकालीन तथा अक्षय होता है।

गीता में साधक की भूमिका अर्जुन में देखी जा सकती है और सिद्ध तथा साधनोपदेष्टा की पूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण में। अर्जुन शोक, मोह, भय तथा दुःखादि से व्यथित 'किंकर्त्तव्यविमूढ' हो गया था। उसने मार्ग-दर्शन के लिये भगवान् से प्रार्थना की और निःश्रेयस की अभिलाषा व्यक्त की। शोक, मोह, भयादि की निवृत्ति आत्मस्वरूपानुभूति के विना सम्भव नहीं। श्रुति स्पष्ट घोषणा करती है: **तरति शोकमात्मवित्** (छा० ७।३)'—आत्मज्ञानी शोक से तर जाता है', **तत्र को मोहःकः शोक एकत्वमनुपश्यतः** (ईशा० ७)—'उस समय एकत्वदर्शी को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है;' **द्वितीयाद्वै भयंभवति** (बृह० १।४-२)'–दूसरे से ही भय होता है'। इसीलिये भगवान् ने प्रथम आत्मस्वरूप का मार्मिक उपदेश दिया। किन्तु आत्मज्ञान की पूर्णता उसी पुरुष में सम्भव हैं, जिसमें स्वधार्मचरण की निष्काम प्रवृत्ति हो। इसी कारण स्वधर्मरूप साधन का उल्लेख भी किया। अर्जुन धर्माधर्म-स्वरूप में विमोहित था और आत्मस्वरूप से भी अनभिज्ञ था। इसीलिए स्वधर्म-परित्याग एवं शोक, मोहादि-ग्रसित था। उसे आवश्यकता थी स्वधर्म परिज्ञान की और अखण्ड, अनन्त, नित्य, निर्विकार, सुखस्वरूप आत्मज्ञान की। निष्कर्ष यह कि अर्जुन का प्रयोजन था स्वधर्मज्ञान और मोक्षस्वरूप में अवस्थिति।

अर्जुन स्वयं कहते हैं:

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यतेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम् ।।
(गी० २/७)

"—अज्ञान-दोष से मेरा स्वभाव आवृत्त होने के कारण मेरा अन्तःकरण **धर्म** का निश्चय नहीं कर रहा है, इस लिये मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित हितकर मार्ग हो, उसे कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, मुझे उपदेश करिये।" 'धसंमूढचेताः' से अर्जुन ने स्वीकार किया कि स्वधर्म का परिज्ञान मुझे नहीं है। इसीलिये स्वधर्मरूप कर्म का सभी दृष्टियों, सभी परिस्थितियों और अनेक युक्तियों से प्रतिपादन कर अन्त में भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।
(गी० ३/३५)

"—अच्छी प्रकार अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा गुणरहित भी स्वधर्म का अनुष्ठान कल्याण कारण है। स्वधर्म में मृत्यु का वरण करना भी श्रेयस्कर है, क्योंकि परधर्म भयप्रद है।" अर्जुन को स्वधर्म का परिज्ञान हुआ। वह अपने मनमें खेद तथा आश्चर्य करता है कि 'मुझ धर्मशील से स्वधर्म-परित्याग का दुष्कर्म कैसे हुआ? क्योंकि स्वधर्म-परित्याग की कल्पना कभी भी मन में नहीं उठी।' इसीलिये अर्जुन प्रश्न करता है :

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
(गी० ३।३६)

"—भगवन्! किस कारण से प्रयुक्त किया हुआ यह पुरुष स्वयं इच्छा न करता हुआ भी बलपूर्वक के समान पाप का आचरण करता है।" इस प्रश्न से अर्जुन अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहता है। क्योंकि उसका अभिप्राय है 'इच्छा न होने पर भी अधर्मरूप पापाचरण में बल पूर्वक जैसे किसी ने लगा दिया हो।' किन्तु भगवान् का उत्तर है **'काम एष'** (गी० ३।३७) '—यह काम ही है'। काम और इच्छा पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं। इस कारण तात्पर्य यही निकलता है कि इस पापाचरण का कारण इच्छा ही है, अनिच्छा नहीं। पूर्व-जन्म या पूर्व-काल की इच्छा तथा कर्म के उपभोग का जब समय आता है, तब इच्छा न करने पर भी शुभाशुभ भोग तथा कर्मों में प्रवृत्ति हो ही जाती है। यहाँ पर हम इतना ही देखना चाहते हैं, कि अर्जुन धर्मच्युत हो रहा था, क्योंकि उसे धर्मज्ञान और स्वधर्म में प्रवृत्ति के लिये ही भगवान् ने धर्मोपदेश किया।

आत्मज्ञान के बीज हैं—विवेक तथा वैराग्य। सम्पूर्ण साम्राज्य और ऐन्द्र पद के लिये विरक्ति-प्रदर्शित करते हुये अर्जुन कहते हैं—

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाऽधिपत्यम्॥ २।८

"—भूमि में निष्कण्टक सम्पूर्ण राज्य तथा इन्द्र-पद को भी पाकर मैं देह, इन्द्रियादि के संतापजनित शोक को दूर करने वाला कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ।" अर्जुन का शोक स्वर्गिक राज्य पाने पर भी नहीं जाने वाला है, क्योंकि अज्ञानजनित देहेन्द्रिय के अभ्यास से उत्पन्न हुआ है। 'छान्दोग्य उपनिषद् में इसी प्रकार नारद के भी उद्‌गार हैं। वह कहते हैं : **सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्**··· **सोऽहंभगवः शोचामि** (छा० ७।१।३)'—भगवन्! वह मैं केवल मन्त्रवेत्ता अर्थात् कर्मवित् ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं······(इसलिये) हे भगवन्! मैं शोक करता हूँ।' इसके उत्तर में भगवान् सनत्कुमार ने आत्मज्ञान का वर्णन किया तभी नारद शोक

निवृत्त हुये । इसी प्रकार अर्जुन के प्रश्न पर भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मज्ञान का विवेचन बार-बार किया और कहा **नाऽनुशोचितुमर्हसि** २।२५, '—तुम्हें (आत्मा को इस प्रकार जान कर) शोक नहीं करना चाहिये' , **नैवं शोचितुमर्हसि** २।२६,। **न त्वं शोचितुमर्हसि** २।२७, २।३०, '—तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये', 'तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये'। आत्मा जन्म-मरणरहित, शाश्वत, नित्य, सर्वव्यापक, स्थिर, अचल तथा सनातन है। पंचमहाभूतों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से आत्मा भिन्न है, इसलिये आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव और अविकारी है। 'अत: निर्द्वन्द्व, सदा सत्वसम्पन्न, योगक्षेम रहित और आत्मवान् बन जाओ' **निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्** २।४५। इस प्रकार शान्त तथा निष्क्रिय आत्मस्थिति कह कर भगवान् कहते हैं : **कर्मण्येवाधिकारस्ते** २।४७, **योगस्थ: कुरु कर्माणि** २।४८, '—तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है', 'योगस्थ होकर कर्म करो'। एक ओर निश्चल बुद्धि पूर्वक समाधिस्थ होने पर उपदेश और दूसरे ही क्षण चञ्चलतापूर्वक घोर युद्ध का आदेश ! अर्जुन की बुद्धि व्याकुल हो जाती है, उसे कुछ समझ में नहीं आता, वह कहने लगता है :

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥
(गी० ३/१)

"जनार्दन ! यदि कर्म की अपेक्षा आप बुद्धि को श्रेष्ठ मानते हैं, तो हे केशव ! मुझे इस हिंसारूप क्रूर कर्म में क्यों लगाते हैं ?" इसके उत्तर में भगवान् का कथन है—'इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा पूर्वकाल में मैंने कही है, ज्ञानयोग से सांख्यों के लिये और कर्मयोग से कर्मयोगियों के लिये' (गी० ३।३)। वही दोनों निष्ठा तुम्हारे प्रति कही गई है। किन्तु 'कर्मों का आरम्भ किये विना मनुष्य निष्कर्म भाव को नहीं पाता' (गी० ३।४) इसलिये ज्ञानयोग से पूर्व कर्मयोग-द्वारा मनो-भूमि को इस योग्य बनाना आवश्यक है, जिसमें ज्ञानयोग-अंकुरित, पल्लवित और फलित हो सके।

इस प्रकार गीता से सिद्ध होता है, कि कर्मयोग और ज्ञानयोग पृथक्-पृथक् स्तर के लोगों के लिये है। अर्जुन में दोनों प्रकार की सामान्य योग्यता थी , इसी-लिये दोनों योगों का वर्णन किया गया। किन्तु विशेष योग्यता थी कर्मयोग की ही। इसी कारण अर्जुन के लिये विशेष आदेशात्मक वाक्य कर्मयोग के ही हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित है कि गीता का तात्पर्य कर्मयोग ही है, क्योंकि स्थान-स्थान पर कर्मयोग को चित्तशुद्धिकारक और ज्ञानयोग से पहले कर्तव्य योग्य कहा है। इससे गीता का अन्तिम सिद्धान्त ज्ञानयोग है, कर्मयोग नहीं। क्योंकि ज्ञानयोग से ही निरतिशय दुःख-विनाश और निरतिशय सुख-प्राप्त होता है।

स्वधर्माचरण तथा आत्मज्ञान के फल का निर्देश भी गीता में स्थान-स्थान पर मिलता है। क्षत्रिय का स्वधर्म युद्ध है, उसके लिये बतलाया गया है--**हतो वा प्राप्स्यसिस्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्** २।३७ '--यदि युद्ध में मर जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त होगा, यदि विजयी होगे, तो पृथिवी का उपभोग करोगे'। यदि स्वधर्म-पालन कामना, राग-द्वेष, लाभ-हानि, मानापमान और सुख-दुःख आदि पूर्वक किया जाता है, तो इसका फल क्षणिक सुख ही होता है। धर्म का सर्वोच्च फल स्वर्ग-सुखोपभोग है, किन्तु पुण्य-क्षीण होने पर स्वर्ग से पतन अवश्यम्भावी है—**'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं बिशन्ति'** (गी० ९।२१)। यदि 'स्वधर्मानुष्ठान सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा जय-पराजय को समान समझकर करता है, तो पाप नहीं लगता'—**सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि** (गी० २।३८) इस प्रकार- अनुष्ठित स्वल्प धर्म भी महान् भय से रक्षा करता है—**'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'** (गी० २।४०)। फलासक्ति रहित कर्म करने से पुरुष अन्तःकरण-शुद्धि-द्वारा मोक्ष-प्राप्त कर लेता है--**'असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः'** (गी० ३।१९)। स्वधर्म-पालन से चित्त पवित्र होता है और पवित्र-चित्त में ही ज्ञान-प्रकाश सम्भव है, इसीलिये यज्ञादि-कर्मानुष्ठान का प्रतिपादन गीता करती है। यज्ञ, दान तथा तप--ये कर्म त्याज्य नहीं, इनको करना ही चाहिये, क्योंकि यज्ञ, दान तथा तप ये तीनों बुद्धिमानों (फलासक्ति रहित पुरुषों) को पवित्र करने वाले हैं--**'यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैवपावनानि मनीषिणाम्'** (गी० १८।५)। कामनारहित और सकाम कर्मों का पृथक्-पृथक् फल गीता वतलाती है :

> कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
> योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।
> (गी० ५।११)
>
> युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
> अयुक्तः कामकारेण फलेसक्तोनिबध्यते ।।
> (गी० ५।१२)

"—कर्मयोगी केवल ईश्वरार्थ कर्म देह से, मन से, बुद्धि से और इन्द्रियों से भी फलासक्ति-त्यागकर अन्तःकरण शुद्धि के लिये करते हैं।' 'ईश्वरार्थ कर्म करने वाला पुरुष कर्म-फल-त्यागकर नैष्ठिकी मुक्ति-पाता है और कामना से तथा कर्मफल से आसक्त अयुक्त पुरुष को बन्धन मिलता है।" इस प्रकार गीता स्वधर्म-परिपालन के फल दो प्रकार वतला रही है। आसक्ति तथा सकाम कर्म से नाशवान् फल और बन्धन होता है। फलासक्ति रहित ईश्वरार्थ कर्मों से अन्तःकरण निर्मल होता है, तब ईश्वर-भक्ति होती है, उससे ज्ञानोदय और ज्ञान से परम शान्ति मुक्ति-प्राप्त होती है।

आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में भी गीता के विचार मननीय हैं। ज्ञान की पवित्रता और फल का गीता वर्णन करती है :

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।
(गी० ४।३८)

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।
(गी० ४।३९)

"—ज्ञान के समान पवित्र करने वाला इस लोक में कोई दूसरा नहीं है, अधिकारी पुरुष कर्मयोग या समाधियोग-द्वारा दीर्घकाल में शुद्धान्तःकरण हो, उस ज्ञान को अपनी आत्मा में प्राप्त करता है।' 'श्रद्धालु, गुरु सेवादि में तत्पर तथा संयतेन्द्रिय व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान-प्राप्त कर शीघ्र ही मोक्षरूप परम शान्ति पाता है।'' 'पुरुष में जन्मान्तरीय सञ्चित कर्मराशि जब तक शेष हैं और निरन्तर कर्म इस जन्म में भी हो रहे हैं, तब तक मोक्ष होना असम्भव है। क्योंकि कर्मफलोपभोग के लिये जन्म-मरण-परम्परा अनिवार्य है ?' इस शंका का समाधान गीता एक ही प्रकार से करती है, और वह यह कि ज्ञानोत्पन्न होने पर सम्पूर्ण कर्म विनष्ट हो जाते हैं :

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।
(गी० ४।३७)

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।
(गी० ४।३३)

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।
(गी० ४।३६)

"—अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठ समूह को भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है (प्रारब्ध कर्मों के अतिरिक्त सञ्चित, आगामी और ज्ञान के साथ किये गये कर्मों को निर्बीज कर देता है)।' 'पार्थ ! सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं।' 'यदि तुम सब पाप करने वालों से भी अधिक पापकर्मा हो, तो भी ज्ञानरूप नौका के द्वारा सब पापों से तर जाओगे।' जिस पुरुष की बुद्धि एकमात्र ब्रह्म में स्थित है, ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ का उसकी दृष्टि में अस्तित्व नहीं है। उस पुरुष की मुक्ति इसी जीवन में होती है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। क्योंकि **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति** (मु० ३।२।९)

'––ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है' और ब्रह्म अजन्मा है, इसलिये ब्रह्मज्ञानी का जन्म नहीं होता। यही आशय गीता में इस प्रकार प्रदर्शित है :

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(गी० ५।१७)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
(गी० ५।१९)

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
(गी० ५।२०)

–''ज्ञान-द्वारा जिनके पापादि दोष निवृत्त हो गये हैं, वह तद्बुद्धि, तदात्मा, तन्निष्ठ और तत्परायण होकर अर्थात् जिनकी बुद्धि ब्रह्म में प्रवेश कर चुकी है, जिनका आत्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्म में ही शरीर के समान जिनकी दृढ भावना है और जो एकमात्र ब्रह्म में ही रमण करते हैं, वह अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता।'' 'जिनका अन्तःकरण समता में स्थित है, उन्होंने यहाँ जीवितावस्था में ही जन्म को जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष तथा सम है, इसलिये समदर्शी पुरुष ब्रह्म में ही स्थित है।' 'प्रिय वस्तु को पाकर जो हर्षित नहीं होता तथा अप्रिय पदार्थ में उद्वेग नहीं करता एवं जो स्थिरबुद्धि और मोहरहित है, वह ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में ही स्थित है।'' आत्मज्ञानी की दृष्टि में एकमात्र आत्मा का ही अस्तित्व है, संसार को वह आत्मा से पृथक् नहीं देखता। जिस प्रकार जल से बुद्बुद्, फेन, तरङ्गादि उत्पन्न होते हैं, जल में ही स्थित रहते हैं और जल में ही विलीन हो जाते हैं, इसलिये बुद्बुद् आदि जल से भिन्न नहीं, जल ही हैं। इसी प्रकार एक आत्मा से ही विभिन्न भूतों की उत्पत्ति होती है, आत्मा में ही स्थिति और आत्मा में ही परिसमाप्ति होती है, अतः आत्मा से पृथक् उनकी सत्ता नहीं, वह आत्मस्वरूप ही हैं। इस प्रकार आत्मदर्शनसम्पन्न ज्ञानी पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है और ब्रह्म में ही रमण करता है। गीता के शब्दों में देखिये :

यथा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्मसम्पद्यते तदा ॥
(गी० १३/३०)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गी० ६।२९)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।
(गी० ६।३०)

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।
(गी० ५।२४)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।
(गी० ३।१७)

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रयः ।।
(गी० ३।१८)

"—जिस समय भूतों के पृथक्-पृथक् भावों को एक आत्मा में ही स्थित देखता है और आत्मा से ही सम्पूर्ण विस्तार देखता है, उस समय ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।' 'समाहित अन्तःकरण से युक्त और सर्वत्र समदृष्टिशील योगी अपने आत्मा को सब भूतों में स्थित और आत्मा में सब भूतों को देखता है।' 'जो मुझको (ईश्वर को) सर्वत्र देखता है और मुझमें सम्पूर्ण संसार को देखता है, उसके लिये मैं कभी अप्रत्यक्ष नहीं होता और वह भी मुझसे परोक्ष नहीं होता।' 'जो पुरुष आत्मा में सुख-वाला, आत्मा में रमणशील तथा आत्मा ही जिसका प्रकाश है, वह योगी ब्रह्मभूत होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।' 'जो पुरुष केवल आत्मा में रमण करता है, आत्मा में ही तृप्त रहता है और आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, वह कृतकृत्य है।' 'उस आत्मक्रीड पुरुष का कर्म करने से या न करने से कोई प्रयोजन नहीं है और वह ब्रह्मादि से स्थावर पर्यन्त सभी भूतों में से किसी का भी आश्रय नहीं लेता।'' इस विवेचन से स्पष्ट होता है, कि ज्ञान से सम्पूर्ण दुःख, जन्म-मरण-परम्परा और बन्धन की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार ज्ञान से परम शान्ति, अनन्त सुख, अखण्ड ज्ञान और अविनाशी जीवन स्वरूप मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्त पुरुष का कोई कर्तव्य नहीं, क्योंकि उसका दृढ़ निश्चय होता है : 'जो करना था कर चुके और जो पाना था पा लिया।' मुक्त पुरुष यदि लोकानुग्रह-कामना से कर्म करता है, तो पुण्य नहीं होता और यदि कुछ नहीं करता, तो पाप भी नहीं होता। इस प्रकार शोक-मोहादि-निवारक ज्ञान ही है और परमानन्दस्वरूप मोक्ष-प्रदाता भी। अतः गीता का प्रयोजन यही है।

यद्यपि गीता में कर्म निष्ठा और ज्ञान निष्ठा के अतिरिक्त अन्य किसी निष्ठा का उल्लेख नहीं है, तथापि प्रसंगानुसार भक्ति तथा योग का भी वर्णन आया है। भक्ति या योग की कोई स्वतन्त्र निष्ठा नहीं। किन्तु भक्ति या योग को ज्ञान के साधन स्वरूप स्वीकार किया गया है। गीता के तेरहवें अध्याय में **'अमानित्वम्'** से **'अज्ञानं यदतोऽन्यथा'** पर्यन्त जो आत्मज्ञान के साधन 'ज्ञान' नाम से कहे गये हैं, उनमें मयि **चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी** १३।१० '—मुझ ईश्वर में एकत्वरूप समाधियोग से स्थित होकर भजन करना ही अव्यभिचारिणी भक्ति है', इस प्रकार ज्ञान नाम से भक्ति तथा योग का उल्लेख किया गया है। योग के सम्बन्ध में भी कहा है 'अन्तःकरण-शुद्धि के लिये योग का साधन करे' **—युञ्ज्याद्योगमात्म विशुद्धये** (गी० ६।१२)। योग में समाधिस्थ होने के पश्चात् ज्ञान की भूमिका आरम्भ होती है और तभी आत्मा तथा ब्रह्म में सब भूत और सब भूतों में ब्रह्मात्मा का दर्शन होता है। इसीप्रकार भक्ति-साधकों की चार श्रेणियों में ज्ञानी भक्त सबसे अंतिम और श्रेष्ठ कहा गया है। अनन्य भक्ति से ज्ञान-क्षेत्र में जब भक्त प्रवेश करता है, तब उसे परम शान्तिस्वरूपा मुक्ति मिलती है। यदि भक्त तथा योगी ज्ञान-क्षेत्र में प्रवेश का अनिच्छुक होता है और आग्रहपूर्वक उसी स्थिति में रहता है, तो मृत्यु के समय उसके प्राण सुषुम्ना-नाड़ी से निकल कर उत्तरायण-मार्गद्वारा ब्रह्मलोक जाते हैं। ब्रह्मलोक में अपने इष्ट स्वरूप को प्राप्त कर और उनसे ज्ञानोपदेश ग्रहण कर कल्पान्त में मुक्त होते हैं। इस प्रकार योगी तथा भक्त की भी क्रममुक्ति होती है। किन्तु, ज्ञानी की सद्योमुक्ति प्रसिद्ध है, अतः गीता का प्रयोजन इसी में है।

गीता का प्रयोजन परम शान्तिस्वरूपा मुक्ति है। इस दृष्टि से देखना चाहिये कि अर्जुन को आत्मज्ञान हुआ या नहीं? गीता के अन्त में भगवान् प्रश्न करते हैं: **कच्चिदज्ञान संमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय** (गी० १८।७२) '—धनंजय क्या तुम्हारा अज्ञानजनित संमोह प्रनष्ट हो गया?' इसके उत्तर में अर्जुन का कथन है:

> **नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।**
> **स्थितोस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥**
>
> (गी० १८ ७३)

"—अच्युत! आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति भी प्राप्त हो गई, अब मैं संशयरहित स्थित हूँ, आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।" अर्जुन के इस उत्तर से कई प्रकार-अर्थ निकाले जा सकते हैं। प्रथम अर्थ है कि आत्मस्वरूप के अज्ञान से जो मोह उत्पन्न हो गया था, वह नष्ट हो गया, क्योंकि उपदेश-श्रवण से आत्मस्वरूप की स्मृति हो गई। अब मैं कृतकृत्य हूँ, फिर भी क्षात्रधर्मानुसार लोक-

संग्रह के निमित्त आपकी आज्ञा से युद्धादि स्वधर्म-पालन करूँगा। दूसरा अर्थ यह निकलता है, कि आत्मस्वरूप में जो सामान्य मोह था और धर्म में जो विशेष मोह था, दोनों प्रकार के मोह विनष्ट हो गये। क्योंकि आत्मस्वरूप और धर्म की स्मृति हो गई है। इस कारण अब आत्मस्वरूप में स्थित हूँ और आज्ञानुसार स्वधर्मरूप युद्ध के लिए भी तत्पर हूँ। तीसरा अर्थ है—**धर्मसंमूढचेता:** (गी० २।७) —'मेरा चित्त धर्म का निश्चय करने में मोहित हो रहा है', यह जो पूर्व स्थिति थी, वह, धर्म-संमोह नष्ट हो गया। धर्म की स्मृति हो गई, अब सन्देह रहित हो गया हूँ आपके आदेशानुसार युद्ध करूँगा। वस्तुत: कौन अर्थ सही है ? यह तो अर्जुन ही जाने। किन्तु एक विद्वान् के अनुसार तीसरा अर्थ ही ठीक है। आचार्य शंकर तथा अन्य विशिष्ट विद्वानों के अनुसार प्रथम अर्थ ही सर्वथा उचित है। द्वितीय अर्थ का समावेश प्रथम में ही हो जाता है।

महाभारत-युद्ध-समाप्त होने पर अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थनापूर्वक कहा था 'केशव ! आपने सौहार्दवश पहले जो ज्ञानोपदेश दिया था, श्रेष्ठ पुरुष ! वह सब ज्ञान विचलित चित्त होने के कारण नष्ट हो गया है' —**यद् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात् । तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतस: ।।** (म० आश्व० १६।६)। इसके उत्तर में भगवान् ने 'अनुगीता' सुनाई। उसमें जीव की गति, योगादि साधन का कथन और आत्मज्ञान का सजीव चित्रण मिलता है। वहाँ पर भगवान् ने अर्जुन से प्रश्न किया :

कच्चिदेतत् त्वया पार्थ श्रुतमेकाग्रचेतसा ।
तदापि हि रथस्थस्त्व श्रुतवानेतदेव हि ।।
(म० आश्व १९।५५)

"—पार्थ ! क्या तुमने इस उपदेश को एकाग्र चित्त होकर श्रवण किया ? युद्ध के समय भी रथ में बैठकर तुमने इसी तत्त्व को श्रवण किया था।" आगे पुन: कहते हैं :

परा हि सा गति: पार्थ यत् तद् ब्रह्म सनातनम् ।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी ।।
(म० आ० १९।६०)

"—पार्थ ! जो सनातन ब्रह्म है, वही परम गति है। ज्ञानी पुरुष देह त्याग कर उस ब्रह्म में ही अमृतत्त्व को प्राप्त करते हैं और सदैव सुखमय हो जाते हैं।" अर्जुन का मन इस समय शान्त था, इस कारण सूक्ष्म तत्त्व में उसकी बुद्धि प्रवेश कर रही थी। यह अर्जुन के कथन से ही प्रकट होता है : **भवतो हि प्रसादेन सूक्ष्मे मे**

रमते मतिः (म० आ० ३५।१) '—इस समय आपकी कृपा से सूक्ष्म तत्त्वज्ञान-श्रवण में मेरी बुद्धि स्थिर हो रही है।" अन्त में भगवान् कहते हैं :

पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते ।
मया तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु ॥
(म० आ० ५१।४९)

"—महाबाहो! पहले भी युद्धकाल-उपस्थित होने पर यही ज्ञान तुमसे कहा था, इसलिये तुम इसमें मन लगाओ।" इस प्रसंग के अध्ययन से कई बातें स्पष्ट होती हैं। गीतोपदेश के समय अर्जुन का मन अतीव व्यग्र था, इस कारण ज्ञानोपदेश में बुद्धि स्थिर न हो सकी। इस समय सूक्ष्मज्ञान उनकी समझ में आ रहा है, इसे वह स्वयं स्वीकार करते हैं और जिस आत्मज्ञान तथा योगादि साधनों का उपदेश 'अनुगीता' में किया गया है, वही गीता में भी किया गया था। अतः मोक्ष-प्रतिपादक जिस प्रकार 'अनुगीता' है, वैसे ही मोक्ष का प्रदिपादन गीता में भी किया गया है। साथ ही युद्ध-काल में अर्जुन को गीता-ज्ञान न हुआ था, उसकी आत्मस्वरूप में स्थिति न थी, यह भी इस प्रसंग से स्पष्ट हो जाता हैं। क्योंकि यदि आत्मस्वरूप मे स्थिति होती, तो प्रश्न ही न होता और उसके नष्ट होने का प्रसंग भी न उठता। जब एक बार रज्जु में सर्प-भ्रम की प्रतीति नष्ट हो गई, तब फिर सर्प-भ्रम का होना सम्भव नहीं। इसी प्रकार देहेन्द्रिय में जब आत्म-भ्रान्ति निवृत्ति हो जाती है तब पुनः शरीरमें आत्म-भ्रान्ति असम्भव है। इसलिये अर्जुन का शरीराध्यास निवारण न हुआ था और न आत्मस्वरूप में स्थिति थी।

इस पर प्रश्न होता है कि 'यदि अर्जुन का अज्ञान विनष्ट न होता तथा आत्मा में स्थिति न होती, तो अर्जुन यह क्यों कहता कि 'मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्मृति भी प्राप्त हो गई है।' इसका उत्तर है, कि भगवान् ने जब प्रश्न किया—'क्या तुम्हारा अज्ञानजनित संमोह प्रनष्ट हो गया ?' तब अर्जुन ने उत्तर में कहा—'मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति भी प्राप्त हो गई ?' प्रश्न के अनुसार अर्जुन 'अज्ञान-जनित', 'संमोह' तथा 'प्रनष्ट' शब्दों का प्रयोग नहीं करता, केवल 'मोह' और 'नष्ट' शब्द ही कहता है। इससे प्रकट होता है, कि आत्मस्वरूप की भ्रान्ति सामान्य निवृत्ति हुई थी, विशेष नहीं अर्थात् आत्मज्ञान परोक्ष हुआ था, अपरोक्ष नहीं। धर्म-ज्ञान में जो विशेष मोह था, वह पूर्णतः नष्ट हो गया था, इसी लिये 'करिष्ये वचनं तव'—आपकी आज्ञा का पालन करूँगा, यह कहा। उस समय भगवान् अर्जुन को स्वधर्मरूप युद्ध में ही लगाना चाहते थे और इसमें उनको पूर्ण सफलता भी मिली। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुन को ज्ञान का सामान्य अधिकारी और कर्म का विशेष अधिकारी समझते थे। तभी **कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन** (गी०

२।४७)'—तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है, फल में नहीं', आदि वचन सार्थक होते है।

पाण्डुनन्दन अर्जुनको ज्ञान न हुआ था, इसमें एक प्रमाण और भी है। मरणोत्तर काल में स्वर्ग-गमन और नरक की दुःखानुभूति के वर्णन से भी सिद्ध होता है, कि ज्ञानानुभूति न थी। क्योंकि ज्ञानी पुरुष की मुक्ति होती है, स्वर्ग-नरक या जन्म की प्राप्ति नहीं होती। भीम, अर्जुन आदि नरक में थे, युधिष्ठिर को भी नरक-दर्शन के लिये ले जाया गया। जब वापस लौटने लगे तो भीम, अर्जुनादि का करुणक्रन्दन सुनाई पड़ा। युधिष्ठिर ने पूछा 'आप लोग कौन हैं?', तब उन्होंने उत्तर दिया प्रभो! मैं कर्ण हूँ, मैं भीमसेन हूँ, मैं अर्जुन हूँ—'**कर्णोऽहं भीमसेनोऽहं अर्जुनोऽहमिति प्रभो**' (म० स्व० २।४०)। युधिष्ठिर ने देवराज इन्द्र से नरक का कारण पूछा, तब इन्द्र ने कहा—'राजन्! तुमने गुरुपुत्र अश्वत्थामा के विषय में छल से कांम लेकर द्रोणाचार्य को पुत्र की मृत्यु का विश्वास दिलाया था, इसलिये तुम्हें भी छल से ही नरक-दर्शन कराया गया। जैसे तुम छलपूर्वक यहाँ लाये गये थे, उसी प्रकार भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रुपदकुमारी कृष्णा भी छल से नरक लाये गये थे':

व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति।
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव॥
यथैव त्वं तथा भीमस्तथा पार्थो यमौ तथा॥
द्रौपदी च तथा कृष्णा व्याजेन नरकं गताः॥
(म० स्व० ३।१५-१७)

मनुष्यों में शुभाशुभ कर्मों की राशियाँ संचित होती हैं, तदनुसार शुभाशुभ फलोपभोग अवश्यम्भावी हैं। इसलिये समस्त राजाओं को निश्चय ही नरक-दर्शन करना पड़ता है—'**अवश्यं नरकस्तात द्रष्टव्यः सर्वराजभिः**' (म० स्व० ३।१२)। इस अन्तिम गति से निश्चय होता है कि पृथापुत्र अर्जुन को आत्मस्वरूपानुभव न था। कुछ पापकर्म से नरक-भोग मिला और अधिकांश स्वधर्मरूप पुण्यकर्म से स्वर्ग में निवास हुआ।

अर्जुन के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण और भी है। अर्जुन 'नर' के अवतार थे। महाभारत शान्तिपर्व में स्वयं श्रीकृष्ण जी का कहना है:

त्वं चैवाहं च कौन्तेय नरनारायणौ स्मृतौ।
भारावतरणार्थं तु प्रविष्टौ मानुषीं तनुम्॥
(म० शा० ३४१।३७-३८)

"—कुन्तीनन्दन ! तुम और हम दोनों नर-नारायण नाम से प्रसिद्ध हैं, भूमि का भार उतारने के लिये हमने मानव-शरीर में प्रवेश किया है।" इस प्रमाण से श्रीकृष्ण नारायण के अवतार थे और अर्जुन नर के। मानव-शरीर में नरावतार अर्जुन ने जो शुभाशुभ कर्म किये उनका सुख-दुःखात्मक भोग स्वर्ग तथा मायामय नरक में उपभोग कर अपने मूलस्वरूप नर में प्रविष्ट हो गये। यद्यपि स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है, तथापि इसके पर्याप्त कारण हैं। महाभारत के अन्त में जनमेजय ने प्रश्न किया :

आहोस्विच्छाश्वतं स्थानं तेषां तत्र द्विजोत्तम।
अन्ते वा कर्मणां कां ते गतिं प्राप्ता नरर्षभा ॥
(म० स्व० ५।५)

"—द्विजोत्तम ! क्या (भीष्मादि को स्वर्गलोक में) सनातन स्थान की प्राप्ति हुई थी ? अथवा कर्मों का अन्त होने पर वे पुरुषश्रेष्ठ किस गति को प्राप्त हुये ?" इसके उत्तर में वैशम्पायन मुनि कहते हैं :

न शक्यं कर्मणामन्ते सर्वेण मनुजाधिप ।
प्रकृतिं किं नु सम्यक्ते पृच्छैषा सम्प्रयोजिता ॥
(म० स्व० ५।८)

तेनोक्तं कर्मणामन्ते प्रविशन्ति स्विकां तनुम् ।
वसूनेव महातेजा भीष्मः प्राप महाद्युतिः ॥
(म० स्व० ५।११)

"—राजन् ! कर्मों का भोग सम्पूर्ण होने पर सभी लोग अपनी प्रकृति-मूल कारण-को ही नहीं प्राप्त होते, जो मूल कारण को प्राप्त नहीं हैं, उनके लिये तुम्हारा यह प्रश्न सर्वथा उचित है।" 'वे सभी वीर कर्म-भोग के अनन्तर अपने मूलस्वरूप में प्रविष्ट हो गये थे, महातेजस्वी, परम कान्तिमान् भीष्म वसुओं के शरीर में प्रविष्ट हो गये।'

यः स नारायणो नाम देवदेवः सनातनः ।
तस्यांशो वासुदेवस्तु कर्मणाऽन्ते विवेश ह ॥
(म० स्व० ५।२४)

"—वे जो नारायण देवाधिदेव हैं, उन्ही के अंश वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण थे, जो अवतार का कार्य समाप्त होने पर पुनः अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो गये।" अर्जुन अपने मुलस्वरूप नर में प्रविष्ट हुये-इसका कथन यहाँ पर नहीं किया गया है। किंतु उनके लिये आया है, कि वह ब्राह्मविग्रहसम्पन्न भगवान् की आराधना में लीन थे :

''—अत्यन्त तेजस्वी वीरवर अर्जुन भगवान् की उपासना में लगे हुए हैं, कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ने मधुसूदन का उसी स्वरूप में दर्शन किया।'' इतने प्रसंग से विदित होता है, कि अर्जुन भी अपनी मूल प्रकृति 'नर' में प्रविष्ट होकर भगवान् की आराधना में तल्लीन हो गये। अथवा सामीप्य मुक्ति-प्राप्त कर अपने इष्टदेव की सेवा में निमग्न हो गये।

इस विवेचन का निष्कर्ष इतना ही है, कि अर्जुन को शुभाशुभ कर्मों के अनुसार मृत्यूपरांत शुभाशुभ फलोपभोग में प्रवृत्ति हुई और उपासना के अनुसार अपने इष्टदेव का सामीप्य प्राप्त हुआ। अथवा आधिकारिक पुरुष के समान अपना कार्य समाप्त कर पुन: पूर्वरूप 'नर' में प्रतिष्ठित हो गये। आत्मज्ञानानुभूति तो इसी जीवन में होती है और 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० १।४।७) 'मैं ब्रह्म ही हूँ', का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। फिर मृत्यूपरान्त उसका गमनागमन नहीं होता। स्पष्ट है कि अर्जुन इस स्थिति में न था। किन्तु यह सम्भव है कि अपने आधिकारिक स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर और प्रारब्ध-भोग के अनन्तर ज्ञान के प्रताप से मुक्त हों। प्रारब्ध-भोग अवश्यम्भावी है, जिस प्रकार हिंसक पशु-समझकर कोई व्यक्ति बन्दूक से निशाना लगाकर गोली छोड़े। पश्चात् उसे ज्ञान हो कि यह तो अहिंसक गाय है, अत: अवध्य है। किन्तु इस ज्ञान मात्र से बन्दूक का निशाना रुक नहीं जायगा, वह तो अपना लक्ष्य-वेध करेगा ही। इसी प्रकार जिन कर्मों से शरीर की उत्पत्ति हुई है, उनका फलोपभोग अवश्य मिलेगा, भले ही आत्मज्ञान हो गया हो। प्रारब्ध-क्षीण होने पर ज्ञान के प्रभाव से उसे मुक्ति अवश्य मिलेगी। अर्जुन में अभी प्रतिबन्ध शेष था, इसी कारण परोक्ष ज्ञान होने पर भी अपरोक्षज्ञानानुभूति न हुई थी। नर-रूप में प्रारब्ध-भोग-अशेष होने पर मुक्ति करामलकवत् प्रतीत होगी, इसमें सन्देह नहीं।

अर्जुन में गीता-ज्ञान किस रूप में फलित हुआ, इसके आधार पर गीता का तात्पर्य निकालना सदोष होगा। क्योंकि उपदेष्टा गुरु से उपदेश सुनकर सभी शिष्यों की प्रतिक्रिया तथा ज्ञान एक-सा नहीं होता। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सभी उपदेश ग्रहण करते हैं, भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया तथा ज्ञानाभिव्यक्ति होने पर उपदेश में भिन्नता नहीं आती। जल-वर्षा समान होने पर भी उर्वर भूमि में अन्नोत्पादन होता है, अनुर्वर भूमि में नहीं। इसी प्रकार जितना अन्त:करण शुद्ध होता है, उतना ज्ञानोदय होता है। गीताध्ययन से किसी व्यक्ति को कर्म की प्रेरणा मिलती है, किसी को भगवद्भक्ति में प्रेम होता है, कोई योग-साधन में प्रवृत्त होता है और कोई ज्ञानसम्पन्न होकर जीवन में ही कृतकृत्य हो जाता है, एक ही गीता विभिन्न अन्त:-करण वाले पुरुषों में भिन्न-भिन्न रूप में फलित होती है। क्योंकि साध्य-साधन-भेद से गीता में सभी का वर्णन है। जिस स्तर का पुरुष होता है, उसी के अनुसार साधन-

ग्रहण करता है। इसलिए किसी विशेष व्यक्ति पर गीता का क्या प्रभाव पड़ता है, इससे गीता का तात्पर्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

गीता का तात्पर्य समझने के लिये गीता, अनुगीता और इनके मूल उपनिषदों का गम्भीर अध्ययन कर्तव्य है। उपनिषदों में ब्रह्म तथा आत्मा की एकता का प्रतिपादन किया गया है और इस ज्ञान से ही मुक्ति मानी गई है। अनेक विद्वानों ने भी उपनिषदों का यही तात्पर्य स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में गीता का तात्पर्य इससे पृथक् होना सम्भव ही नहीं। उपनिषद् में कर्म-त्याग पूर्वक ज्ञान से मुक्ति कही गई है। किन्तु गीता कामना-त्यागपूर्वक ज्ञान से मुक्ति बतलाती है। गीता केवल कर्म-संन्यास से मुक्ति नहीं कहती, किन्तु कामना, राग-द्वेषादि रहित ज्ञान से मुक्ति का प्रतिपादन करती है। गीता का बाह्य कर्म-त्याग में आग्रह नहीं है, किन्तु मानसिक कर्म-फलासक्ति त्याग का आग्रह करती है। इसी प्रकार किसी आश्रम या वेश से भी गीता मुक्ति नहीं कहती, वह तो निर्मल बुद्धिपूर्वक 'ज्ञान' से मुक्ति बतलाती है। इस भाँति अधिकारी के भेदानुसार उपनिषद् और गीता के प्रतिपादन में कुछ अन्तर प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः अन्तर है नहीं। मुख्य तात्पर्य उपनिषद् तथा गीता का एक ही है और वह है ज्ञान-द्वारा मुक्ति। इसी में जीवन की सफलता है। मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ यही है, कि मरणधर्मा शरीर से अमरता-प्राप्त कर ले। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही जीव है, ज्ञानी द्वारा 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार का अनुभव प्राप्त होने पर अखण्ड, अनन्त, सर्वाधिष्ठान, सर्वव्यापक, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप में स्थिति हो जाती है। गीता का मुख्य प्रयोजन यही है।

———

२

कर्म-योग खण्ड

प्रस्तुत खण्ड की आधार शिला

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।'

—गीता अ० ३, ५

'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतम ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।'

—गीता अ० १८, ४१

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।'

—गीता अ० २, ४०

'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।'

—गीता अ० ८, ३

'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।'

—गीता अ० १८, ५

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।'

—गीता अ० १८, ४६

'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।

—गीता अ० २, ४८

'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदंगच्छन्त्यनामयम् ।।'

—गीता अ० २, ५१

'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।

—गीता अ० ३, २५

कर्म के विभिन्न स्तर तथा स्वरूप

गीता में कर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। कर्म के सम्बन्ध में तलस्पर्शी विश्लेषण, मौलिक आधार एवं तर्क संगत विचार जितने गीता में उपस्थित किये गये हैं, उतने अन्यत्र दुर्लभ हैं। धर्ममय तथा अधर्ममय कर्तव्याकर्तव्य का वर्णन इसमें संग्रहीत है। आत्मज्ञान के पूर्व कर्म का विधान कर्तव्यरूप से है, ज्ञान सहकृत कर्म का प्रतिपादन है एवं ज्ञानोत्तर काल में भी लोकसंग्रहार्थ कर्म का आग्रह है। गीता समस्त विषयों का केन्द्र-बिन्दु कर्म ही मानती है। कर्म-सूत्र में निबद्ध भक्ति, योग तथा ज्ञान कर्म के चतुर्दिक् परिभ्रमण करते हुये-से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सर्वाङ्ग गीता कर्म से ओत-प्रोत है।

यद्यपि गीता में सभी प्रकार की चेष्टाओं का समावेश 'कर्म' के अन्तर्गत ही माना गया है। क्योंकि, **न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्** (गी० ३।५) '—कोई प्राणी क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता', **शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धेदकर्मणः** (गी० ३।८) '—कर्म न करने से तो शरीर यात्रा भी न चल सकेगी'। इन वचनों में कायिक, वाचिक, मानसिक एवं प्राणन क्रियाओं का भी समावेश हो जाता है। तथापि गीता का उद्देश्य साधारण-कर्म-प्रतिपादन में नहीं है। वह उन कर्मों को महत्व देती है जिनसे प्राणी का उत्कर्ष एवं मोक्ष सिद्ध हो। इसी अभिप्राय से भगवान् का कथन है :

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्मचाखिलम् ।।
(गी० ७।२९)

'—जरा-मरण से मुक्त होने के लिये जो मेरा आश्रय लेते हैं, वह परब्रह्म को जानते हैं एवं सम्पूर्ण अध्यात्म तथा सब कर्मों को भी जानते हैं।' कर्म की परिभाषा कहते हैं : **भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः** (गी० ८।३) '—भूतों के उत्पन्न और वृद्धि करने वाला त्यागरूप यज्ञ 'कर्म' कहा जाता है।' यज्ञ, दान तथा हवनरूप वैदिक कर्म ही 'कर्म' शब्द से कथित हैं। इसी प्रकार वर्णाश्रमविहित धर्माचरण भी 'कर्म' नाम से कहे गये हैं। वैदिक कर्म यज्ञ में देवगण के निमित्त द्रव्य-त्याग किया जाता है, यही 'त्याग' है। यज्ञान्त में स्वाहाकार का प्रयोग करते हुये बैठ कर आसेचन पर्यन्त जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन्हें 'हवन' कहते हैं। दूसरे के प्रति श्रद्धापूर्वक स्वबस्तु का त्याग 'दान' है। इन तीनों में त्याग-अंश होने के कारण इससे प्राणियों की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती हैं। भगवान् मनु का भी यही मत है :

अग्नौ प्रास्ताहुतिःसम्यगादित्यमुपतिष्ठति ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।।
(मनु० ३।७६)

'— अग्नि में विधिपूर्वक दी हुई आहुति आदित्य-किरणों-द्वारा सूर्य में पहुँचती है, सूर्य से वर्षा होती हैं, वर्षा से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।' ईश्वर के निमित्त कर्तव्य-भावनापूर्वक कर्म 'यज्ञ' है, वही हृदय में कर्तव्यरूप से धारण करने पर 'धर्म' कहा जाता है। ईश्वरार्थ कर्म से प्राणी बन्धनयुक्त नहीं होता, **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः** (गी० ३।९) '—यज्ञार्थ अर्थात् ईश्वर के निमित्त कर्म के अतिरिक्त, अन्य कर्म करने पर मनुष्य कर्म-बन्धनयुक्त होता है।' आसक्तिरहित, निष्कामऔर ईश्वरार्थ कर्म ही मुक्ति के हेतु हैं।

श्रौत-स्मार्त कर्मों का विधान मनुस्मृति आदि शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णित है, गीता में तो संकेतमात्र मिलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के धर्मों का पृथक्-पृथक् वर्णन शास्त्रों में मिलता है, इसका मूल कारण है, गुण-कर्मजनित स्वभाव की भिन्नता। सत्त्व, रज तथा तमोगुण के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। सत्त्वगुण प्रकाशशील, रजोगुण क्रियात्मक और तमोगुण प्रतिबन्धक होता है। जिन पुरुषों में जिस गुण की अधिकता। होती है, उसी के अनुसार उनके कर्म होते हैं। कोई बुद्धिप्रधान तथा शान्त होता है, अन्य क्रूरकर्मा तथा पराक्रमी दूसरा संग्रहशील तथा सहिष्णु और कोई आलस्य तथा प्रमाद में ही निमग्न रहता है। इन गुण-कर्म से निर्मित प्राणी की

प्रकृति बन जाती है, जन्मान्तर में इसके अनुसार प्राणी के चेष्टायें सम्भव है। इसी कारण सर्वकर्म-फल-प्रदाता ईश्वर उन-उन प्रकृति के अनुसार जन्म देता है। प्राणी की प्रकृति की सार्थकता जिस जाति या योनि में होती है, उसीमें उसका जन्म होता है। जिसकी प्रकृति सत्त्वगुणमयी है तथा यागमय कर्मों के संस्कार होते हैं, उसका जन्म ब्राह्मण कुल में होता है। सत्त्वगुणमिश्रित रजोगुण जिसकी प्रकृति है तथा कर्म पराक्रमशील, उग्रतेज, दान और वैराग्य भी हैं, उसका जन्म क्षत्रिय जाति में होता है। तमोगुण मिश्रित रजोगुण स्वभावशील की संग्रह-प्रवृत्ति, पशु-पालन तथा व्यापारादि कर्मों में रुचि होने से, उसका जन्म वैश्य जाति में होता है। इसी प्रकार तमोगुणमयी प्रकृति तथा प्रमादि, मोहादि होने से पुरुष का जन्म शूद्र कुल में होता है। इस प्राकृतिक व्यवस्था-जाति-के मूल में स्वयं प्राणी के पूर्व जन्म के गुण तथा कर्म ही हैं, इसी कारण गीता में सर्वत्र जाति के साथ **'स्वभावजम्'** (गी० १८। ४२–४४) पद का प्रयोग किया गया है।

सभी जाति वाले पुरुषों का उत्कर्ष हो और अन्त में परमपद-प्राप्त करें, इसी निमित्त गीता तथा अन्य शास्त्रों में पृथक्-पृथक् धर्मों का निर्देश है। ब्राह्मण के लिये छः कर्मों का विधान भगवान् मनु करते हैं :

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
(मनु० १।८८)

'—वेदादि शस्त्रों का अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना तथा कराना एवं दान देना तथा लेना—ये छः कर्म ब्राह्मण के लिये निश्चित किये गये।' अध्ययन, यज्ञ तथा दान-इन कर्मों के द्वारा अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक मुक्ति होती है। शेष अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह से जीवन-निर्वाह होता है। गीता इनसे भी सूक्ष्म तथा आन्तरिक कर्मों का विधान करती है :

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानंविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
(गी० १८।४२)

'—शम, दम, तप, शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान एवं आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।' शास्त्रादि अध्ययन आदि कर्म से बुद्धि का विकाश होता है, इससे कामोपभोग में अरुचि और शरीरात्मभावना का मिथ्यात्व निश्चय

होता है। अनन्तर बुद्धि सूक्ष्म क्षेत्र में प्रवेश करती है, तब मन में शम, इन्द्रियो में दम, शरीर तथा प्राण में तप का आविर्भाव होता है। पश्चात् क्षमा, सरलता, श्रद्धा, विश्वास, ब्रह्मात्मज्ञान एवं ब्रह्मात्मानुभूति होती है। यही मानव-जीवन का परम-पुरुषार्थ है। 'भागवत' में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं :

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्त सुखाय च ॥
(भा० ११।१७।४२)

'ब्राह्मण का शरीर तुच्छ विषयोपभोगों के लिये नहीं है, वह तो जीवनपर्यन्त कृच्छ्रादि व्रत तथा तप करने और अन्त में अनन्त ब्रह्मानन्द स्वरूप मोक्ष-प्राप्त करने के लिये है।'

क्षत्रिय की प्रकृति के अनुसार कर्मों का विधान मनु जी कहते हैं :

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
(मनु० १।८९)

'—प्रजा-रक्षण, दान, यज्ञ, अध्ययन और विषयासक्तिरहित होना—ये संक्षेप से क्षत्रिय-कर्म हैं।' ब्राह्मण के समान यज्ञ, दान तथा अध्ययन कर्म आत्मोन्नति के लिये हैं और प्रजा-रक्षणादि कर्म जीवन-निर्वाह तथा समाज के निमित्त हैं। क्षात्र धर्म का गीता में इस प्रकार वर्णन है :

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम् ॥
(गी० १८।४३)

'—शूरता, तेज, धारणा शक्ति, दक्षता तथा युद्ध में अपलायन का स्वभाव, दान और अपनी शासन-शक्ति-प्रकट करने की प्रवृत्ति—ये सब क्षत्रिय जाति के स्वाभाविक कर्म हैं।' वैश्य-कर्मों को मनुस्मृति बतलाती है :

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
बणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेव च ॥
(मनु० १।९०)

'—पशु-रक्षा, दान यज्ञ तथा वेदाध्ययन, व्यापार का मार्ग, सूद और कृषि

कर्म-ये वैश्य-कर्म हैं।' वैश्य का विशेष स्वभाव है—धनसंचय से सन्तुष्ट न होना : **'अतुष्टिरर्थोपचयैः'** (भा० ११।१७।१८)। इसीलिये व्यापार-कर्म वैश्य के लिये हैं। गीता भी **कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्** (गी० १८।४४) से कहती है।

'—कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य ये कर्म वैश्य के स्वाभाविक हैं।' शूद्र-कर्म एक ही है : **परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्** (गी० १८।४४) '—शूद्र का एकमात्र स्वाभाविक कर्म है शुश्रूषा'। क्योंकि शूद्र की प्रकृति तमोगुणमयी होने से प्रमाद, मोह तथा अज्ञान का बाहुल्य रहता है एवं शौच,त्याग तथा शुद्धता का अभाव होता है। इसी लिये मनुमहाराज ने भी कहा है :

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥
(मनु० १।९१)

'ईश्वर ने शूद्र के लिये एक ही कर्म निश्चित किया—तीनों वर्णों की द्वेषरहित होकर शुश्रूषा करना।' चारों वर्णों के कर्म भिन्न हैं, किन्तु फलासक्तिरहित होने से सभी तप हैं। यही आशय मनु जी व्यक्त करते हैं :

ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥
(मनु० ११।२३६)

'—ब्राह्मण का तप आत्मज्ञान है, क्षत्रिय का प्रजा-रक्षण तप है, व्यापार वैश्य का तप है और शूद्र का तप सेवा है।' अपने-अपने कर्म से सभी वर्ण के पुरुष एक ही फल-प्राप्त करते हैं। तप से कल्मष-विनाश, पुण्य-संचय. अन्तःकरण निर्मल, ईश्वर-प्रेम का आविर्भाव, आत्मज्ञान में स्थिति और अन्त में मुक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार फल में सभी कर्म समान हैं। अतः ब्राह्मणादि सभी जातियों में नीच-उच्च का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, न कर्म-भेद का। आवश्यकता है इसके रहस्य जानने की और राग-द्वेषरहित तथा फलासक्तित्यागपूर्वक स्वकर्मानुष्ठान की।

कर्तव्य रूप से स्वकर्म ही जब धारण किया जाता हैं, तब वही 'धर्म' कहा जाता हैं। 'महाभारत' में धर्म की परिभाषा इस प्रकार है :

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्यात् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः सधर्म इति निश्चयः ॥
(म० शा० १०९।१०—१२)

'—प्राणियों के अभ्युदय के लिये ही धर्म का प्रवचन किया गया है, जो अभ्युदय से युक्त हो, वही धर्म है, यह शास्त्र का निश्चय है।' 'धारण करने से यह 'धर्म' कहा जाता है, धर्म ने ही प्रजा को धारण कर रखा है, जो धारण-गुण-युक्त है वही धर्म है, ऐसा निश्चय है।' 'प्राणियों की हिंसा न हो, इस लिये धर्म-प्रवचन किया गया है, अतः जो अहिंसा-युक्त है वही धर्म है, यह धर्म का निश्चय है।' यहाँ धर्म-परिभाषा तीन प्रकार की दी गई है, १ अभ्युदय, २ धारण और अहिंसा। अभ्युदय तथा अहिंसा धर्म-कार्य या फल कहे जा सकते हैं, धर्म नहीं। हाँ, कार्य से कारण का अनुमान अवश्य किया जा सकता है। किन्तु कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा जा सकता है, क्योंकि धार्मिक कार्य से हानि और अधार्मिक कार्य से लाभ भी होता देखते हैं, ऐसी स्थिति में धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना पड़ेगा। फिर भी यह समस्या वैसी ही बनी रहेगी, कि धर्म क्या है ? यदि धर्म का 'धारण' अर्थ स्वीकार किया जाय, तो प्रश्न होता है कि धर्म धारण किया जाता है या धर्म धारण करता है ? इसका उत्तर है—'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से निर्मित है, जिसके अर्थ दोनों प्रकार के होते हैं—१ धारण करने वाला होने से धर्म और २ जो धारण किया जाय, वह धर्म। धर्म की इस परिभाषा के अनुसार जन्मान्तरीय प्रकृति से निर्मित शरीर और तदनुसार शास्त्रीय कर्म धारण करना 'धर्म' है। अनुष्ठित धर्म ही प्राणी की रक्षा तथा उन्नति करता है, अतः प्राणी को धर्म भी धारण करता है, इसलिये 'धर्म' है। वास्तव में यही धर्म का स्वरूप है। धर्म प्राणी की रक्षा करता है, इसे गीता में इस प्रकार कहा है :

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।
(गी० २।४०)

'—इस धर्म का स्वल्प अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा करता है।' इस कारण कर्तव्य है :

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥
(गी० १८।४७)

'—अपना गुणरहित भी धर्म, दूसरे के भली प्रकार अनुष्ठित धर्म से श्रेष्ठतर है, क्योंकि स्वाभाविक कर्मों को करता हुआ पाप को प्राप्त नहीं होता।' इसके अनुसार ब्राह्मणादि जाति के स्वधर्म तथा पिता-पुत्र, नर-नारी एवं सेवक-स्वामी आदि के धर्म भिन्न-भिन्न होने पर भी 'स्वधर्म' ही कल्याणकारी है, परधर्म नहीं। सबके कर्तव्य-धर्म-भिन्न-भिन्न होने के कारण इसकी संज्ञा है—'विशेष धर्म'।

विशेष धर्म से अतिरिक्त 'सामान्य धर्म' है। इसके लक्षण हैं :

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६।९२)

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥
(मनु० १०।६३)

'—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रज्ञान, आत्मज्ञान, सत्य और अक्रोध-ये धर्म के दश लक्षण हैं।' 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच एवं इन्द्रिय-निग्रह-ये संक्षेप में मनु ने चारो वर्णों के धर्म कहे हैं।' सामान्य धर्म सभी वर्ण के व्यक्तियों एवं बाल-वृद्ध, नर-नारी सभी के लिये समानरूप से कर्तव्य है। यद्यपि विशेष धर्म से सामान्य धर्म सूक्ष्म और अन्तःकरण पर शीघ्र प्रभाव करने वाला है, तथापि सामान्य से विशेष बलवान् होता है। मान लीजिये, अहिंसापरायण व्यक्ति पर कुछ लोगों ने आक्रमण कर दिया या सिंह ने आक्रमण किया। प्राण-संकट उपस्थित होने पर उस व्यक्ति का क्या कर्तव्य है? यदि अहिंसा-धर्म का पालन करता है, तो मृत्यु होती है, यदि हिंसा का आश्रय लेता है, तो प्राण-रक्षा होती है, इस परिस्थिति में उसके लिये क्या धर्म है ? निश्चय ही प्राण-रक्षा प्रथम धर्म है, भले ही हिंसा का आश्रय लेना पड़े। पितामह भीष्म का यही निर्णय 'महाभारत' में मिलता है :

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयुः॥
(म० शा० १०९।३०)

'—जो मनुष्य जिसके साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये, यह धर्म है। कपटाचारी को कपट से ही वाधित करना चाहिये और सदाचारी से सदाचार का व्यवहार कर्तव्य है।' इसका तात्पर्य यही कि स्वयं किसी के

प्रति हिंसा का व्यवहार न करें, किन्तु यदि कोई हिंसा-द्वारा विनाश करना चाहता है, तो स्वयं हिंसा-द्वारा उसका विनाश करे। यहाँ की हिंसा अधर्म की श्रेणी में नहीं आती, इसे 'धर्म' ही मानना चाहिये। इसी लिये धर्म का निर्णय अत्यन्त कठिन है। स्वयं भीष्म जी कहते हैं :

यश्चतुर्गुणसम्पन्नं धर्मं ब्रूयात् स धर्मवित्।
अहेरिव हि धर्मस्य पद दुःखं गवेषितम्॥
(म०शा० १३२।२०)

'—जो वेदविहित, स्मृति-द्वारा अनुमोदित, सज्जनों-द्वारा सेवित एवं अपने को प्रिय लगने वाला हो, उसे चतुर्गुण-सम्पन्न धर्म कहा है, ऐसे धर्म का उपदेशक ही धर्मज्ञ है। सर्प के पद-चिह्न की भाँति धर्म-स्वरूप की गवेषणा अत्यन्त कठिन है।' सामान्य धर्मशील व्यक्ति पर संकट आने पर विशेष धर्म से ही रक्षा होती है, इसलिये सामान्य धर्म से विशेष धर्म प्रबल माना गया है। गीतके १६ वें अध्याय में १-३ श्लोकों में 'दैवीसंपद्' के नाम से सामान्य धर्म का परिचय दिया गया। सामान्य धर्म सूक्ष्म तथा आन्तरिक है, इसी कारण इनका प्रभाव तत्काल अन्तःकरण पर पड़ता है। इससे अन्तःकरण के वैषयिक संस्कार प्रक्षीण हो जाते हैं और अन्तःकरण-वृत्ति निरालम्ब होकर आत्माभिमुख हो जाती है। तभी अन्तःकरण में अखण्ड आत्मानुभूति होती है। आत्मानुभूति होने पर शोक, मोह, भय तथा बन्धन से मुक्ति होती है। अतः श्रेय-प्राप्ति का मूल 'धर्म' ही है।

सामान्य धर्म तथा विशेष धर्म के स्वरूप का किंचित् परिचय दिया गया। मुख्य यही धर्म है, किन्तु विशेष धर्म के अन्तर्गत नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा प्रायश्चित धर्म का समावेश है। वस्तुतः विशेष धर्म की शाखा-उपशाखायें इन्हें कह सकते हैं और समष्टि रूप से 'विशेषधर्म'। गीता में किसी न किसी रूप से इनका वर्णन मिलता है। शास्त्राध्ययन, यज्ञ तथा दान—जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है, नित्य कर्म की श्रेणी में आते हैं। नित्य कर्म को ही 'नियत कर्म' नाम से गीता में कहा है। भगवान् का कथन है :

नियतं कुरु कर्मत्वम्। (गी० ३।८)

'—तुम नित्य कर्म करो।'

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। (गी० १८।७)

'—नित्य कर्मों का त्याग नहीं बन सकता'।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्। (गी० १८/२३)

—'जो नित्य कर्म राग-द्वेष-त्यागपूर्वक तथा आसक्तिरहित किया गया हो।'

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। (गी० १८/५)

'—यज्ञ, दान तथा तप ये कर्म त्याज्य नहीं हैं, इन्हें करना ही चाहिये'।

इस प्रकार गीता में नित्य कर्मों का विधान मिलता है। इनके अतिरिक्त क्षत्रिय का प्रजा-पालन, वैश्य का व्यापार और शूद्र की शुश्रूषा भी नित्य कर्म हैं, इनका भी विधान गीता करती है।

'नैमित्तिक कर्म' वह है, जो किसी निमित्त विशेष को लेकर किये जाते हैं। यथा मकरसंक्रान्ति में प्रयाग-स्नान, सूर्य-ग्रहण में कुरुक्षेत्र और चन्द्र-ग्रहण पर वाराणसी में स्नान, दानादि। इसी प्रकार धन, जन, भूमि आदि के अपहरण तथा आक्रमण की स्थिति भी नैमित्तिक कर्म हैं, उस समय प्रत्याक्रणम इसी कोटि में आता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं :

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते। (गी० २/३१)

'—क्षत्रिय के लियें धर्ममय युद्ध के सिवाय दूसरा श्रेय नहीं है।'

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
(गी० २/३२)

'—पार्थ! बिना यत्न के प्राप्त स्वर्ग का खुला द्वारभूत यह युद्ध स्वर्ग-सुख की इच्छा वाले क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है।' युद्ध नित्य कर्म नही है, वह तो किसी निमित्त-द्वारा ही प्राप्त होता है, अतः 'नैमित्तिक कर्म' है।

'काम्य कर्म' किसी कामना से होते हैं। स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा एवं स्वर्गादि की कामनापूर्वक जो कर्म किये जाते हैं, वह इस श्रेणी में आते हैं। गीता में भगवान् कामना तथा काम्य कर्म का प्रतिषेध करते हैं। क्योंकि काम आत्मज्ञान का प्रतिबन्धक है, इससे अनात्मदेह में आत्मबुद्धि दृढ़ होती है, परिणाम में प्राणी का पतन अनिवार्य है। इसी कारण दिव्य स्वर्ग-सुख की भी भगवान् निन्दा करते हैं और उसे विनाशी बतलाते हैं :

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रैधर्म्यमनुप्रपन्नागतागतं कामकामा लभन्ते॥
(गी० ९।२१)

'—वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोग कर पुण्य-क्षीण होने पर इस मृत्युलोक में लौट आते हैं, इसी प्रकार वैदिक कर्मों का आश्रय लेने वाले कामकामी पुरुष गमनागमन को प्राप्त होते हैं।' कामना से क्या हानि है ? इसके उत्तर में उनका कहना है।

भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।
(गी० २।४४)

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।
(गी० २।४९)

'—भोग तथा ऐश्वर्य में जो आसक्त हैं और क्रियाभेदों को बतलाने वाली वाणी से जिनका चित्त हर लिया गया है, ऐसे पुरुषों के अन्तःकरण में योग वा सांख्य विषयक निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं ठहरती।' 'धनंजय! बुद्धियोगपूर्वक कर्मों से सकाम कर्म निकृष्ट हैं, इसलिये तुम बुद्धियोग की शरण जाओ, क्योंकि फल-तृष्णायुक्त सकाम कर्म करने वाले पुरुष कृपण-दीन हैं।' इस प्रकार काम्यकर्म का निषेधात्मक परिचय गीता में मिलता है।

'प्रायश्चित्त कर्म' वह है, जिससे दोष-दूर किया जाता है। नित्यादि विहित कर्म-त्याग होनेपर जो प्रत्यवाय होता है अथवा अगम्यागमन, गुरुद्रोह-कृतघ्नता, परधर्मानुष्ठान एवं देश, कालादि-वश जो पातक उत्पन्न होते हैं, उनके निवारण के लिए शास्त्रोक्त कर्म ही 'प्रायश्चित्त कर्म' हैं। कृच्छ्र, चान्द्रायणादि तप-द्वारा पातक-विनाश होते हैं, अथवा भगवद्भक्ति एवं ज्ञान से सभी अनुचित कर्म दग्ध हो जाते हैं। गीता में भगवान् का कथन है:

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानी हि न मे भक्तःप्रणश्यति ।।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।
(गी० ९।३०-३२)

'—यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्य भक्ति से मुझको भजता है, तो उसे शुभाचरणशील ही समझना चाहिये, क्यों कि वह उत्तम निश्चयवाला है'। 'वह शीघ्र ही धार्मिक चित्तवाला और नित्य शान्ति पा लेता है, कौन्तेय ! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता, यह तुम निश्चय ही जानो'। 'पार्थ ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा अन्य पशु, पक्षी जो भी पापयोनि हैं, वे भी मेरा आलम्बन लेकर उत्तम गति-प्राप्त करते हैं।' 'भागवत' में भी भगवान् का कहना है:

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानापि सम्भवात् ।

(भा० ११।१४।२१)

'—मेरी अनन्य भक्ति उन लोगों को भी पवित्र कर देती है, जन्म से ही जो चाण्डाल हैं।' अजामिल, गजेन्द्र आदि की आख्यायिकायें प्रसिद्ध हैं। जन्मजात पापयोनि तथा दुराचारियों को भी जब भगवान् की अनन्य भक्ति पवित्र कर देती है, तब अज्ञान तथा प्रमादादि-वश अनुचित कर्म-फल का निवारण भक्ति से हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

गीता कर्म, अकर्म तथा विकर्म-भेद कर्म के करती है। शास्त्रानुमोदित स्वधर्म ही 'कर्म' हैं, शास्त्रविपरीत कर्म 'विकर्म' और कोई भी चेष्टा न करना 'अकर्म' है। शास्त्र विरुद्ध स्वेच्छया विकर्म तथा विकर्मी पुरुष का गीता के सोलवें अध्याय में अत्यन्त मार्मिक वर्णन मिलता है। वहाँ कहा है:

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिताः ॥

(गी० १६।१३-१५)

'—इस समय मुझे यह द्रव्य मिला तथा मनोरथ पूर्ण करने के लिए और मिलेगा, यह मेरे पास है, भविष्य में पुनः और धन मिलेगा।' 'अमुक दुर्जय शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, अब दूसरे निर्बल शत्रुओं को भी मार डालूँगा, मैं ईश्वर हूँ, भोगी, सिद्ध, बलवान् तथा सुखी हूँ'। 'मैं धनी और कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूंगा और आमोद-प्रमोद करूँगा—इस प्रकार अज्ञान-मोहित रहते हैं।'

आशापाशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान् ।।
(गी०।१६।१२)

अनेक चित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।
(गी०।१६।१६)

'—सैकड़ों आशापाश से बद्ध, काम, क्रोध-परायण पुरुष काम भोग के लिये अन्याय-पूर्वक धनार्जन की चेष्टा करते हैं'। 'अनेक प्रकार के विचारों से भ्रान्त, अविवेक-जाल-ग्रसित तथा विषय-भोगों में आसक्त मनुष्य अशुद्धरौरव आदि नरकों में गिरते हैं।' विकर्मशील व्यक्ति के विचारों का संक्षिप्त परिचय तथा फल का निर्देश यहाँ किया गया है। स्वधर्मरूप कर्म का वर्णन पहले दिया जा चुका है। अकर्म तो वास्तव में ज्ञान की स्थिति है, जिसे आगे बतलाया जायगा।

इस प्रकार कर्म देश, काल, परिस्थिति, वर्ण, आश्रम अथवा सम्बन्ध के अनुसार अनेक प्रकार कहे गये हैं, किन्तु सभी का समावेश उपर्युक्त कर्म की श्रेणी में हो जाता है। एक ही कर्म सत्त्वादिगुणों के तारतम्य से एवं कर्ता आदि के गुणानुसार विभिन्न प्रकार का होता है। गीता के ही शब्दों में इसका भी संक्षिप्त परिचय कर लेना उत्तम होगा :

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।
(गी०।१८।२३-२५)

'—आसक्तिरहित, राग-द्वेष-त्यागपूर्वक और फलकामनाशून्य पुरुष-द्वारा जो नित्य कर्म किया जाता है, वह सात्त्विक है'। 'जो कर्म फलेच्छापूर्वक, अहंकारसहित तथा बहुत परिश्रमयुक्त किया जाता है, वह राजस कर्म है।' 'उत्तरकालीन अनर्थ, क्षय, हिंसा तथा अपनी सामर्थ्य का विचार न कर जो कर्म अज्ञान से किया जाता है, वहतामस कहलाता है।' सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। कर्ता, कर्म, करण एवं फलादि सभी सत्त्वादि

तीन गुणों से ओत-प्रोत हैं। कर्ता सत्त्वसम्पन्न होने से उसके करण तथा कर्म भी सात्त्विक होंगे, इससे फल भी सुखदायक सात्त्विक ही होगा। यदि कर्ता राजस तथा तामसगुण सम्पन्न होगा, तो कर्म, करण तथा फल भी राजस तथा तामस होंगे। इन से दुःख प्राप्त होता है, अतः इन्हें जान कर राजस तथा तामस गुणों से ऊपर उठ कर सात्त्विक गुणानुसार कर्म करने चाहियें। सत्त्वादि गुणानुसार कर्ता का परिचय इस प्रकार है:

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसंमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥
(गी० १८।२६-२८)

'—जो आसक्ति तथा अहंभावरहित, धृति एवं उद्यमयुक्त और सिद्ध-असिद्ध में निर्विकार है, वह कर्ता सात्त्विक है।' 'जो रागी, कर्मफलार्थी, लोभी, परपीडक, अशुद्ध और हर्ष-शोक युक्त है, वह कर्ता राजस है।' 'जो चञ्चल चित्तशील, संस्काररहित, स्तब्ध, कपटी, परिवृत्तिछेदी, आलसी, शोकयुक्त एवं दीर्घसूत्री है, वह कर्ता तामस कहा जाता है।'

कर्ता के करण हैं—शरीर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि। बुद्धि ही इनमें प्रधान है, यदि बुद्धि सात्त्विक होगी, तो कर्म भी सात्त्विक होंगे और बुद्धि राजसी तथा तामसी होगी, तो कर्म भी तदनुकूल होंगे। अतः बुद्धि के लक्षणों का कथन भी गीता करती है:

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धंमोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(गी० १८।३०-३२)

'—पार्थ! प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष को जो बुद्धि जानती है, वह सात्त्विक है।''पार्थ ! जिस बुद्धि से धर्म-अधर्म तथा कार्य-अकार्य को यथार्थरूप से नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।' 'पृथानन्दन ! तमोगुण से आवृत्ति बुद्धि अधर्म को धर्म और सब पदार्थों को विपरीत जानती है, वह बुद्धि तामसी है।'

शरीर, इन्द्रिय, प्राण एवं बुद्धि आदि का अधिष्ठान कूटस्थ आत्मा, निराकार, निर्विकार, निष्क्रिय, अखण्ड, अनन्त एवं शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप है। उसमें कामना कर्म एवं फल का किंचित् भी लेश नहीं। बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मा—चिदाभास—ही 'जीव' है, वही कर्ता तथा भोक्ता है। वस्तुतः तो आत्मा के प्रतिबिम्ब से बुद्धि में चेतनता आती है और अनेक जन्म-जन्मान्तरीय संस्कारों के अनुसार बुद्धि ही ज्ञान तथा कर्म में प्रवृत्त होती है। बुद्धि की सहायिका हैं-इन्द्रियाँ। नेत्रेन्द्रिय-द्वारा बुद्धि ही विषय पदार्थ के निकट जा विषयाकार रूप धारण कर विषयानुभूति करती है। श्रोत्र-द्वारा शब्दानुभूति, नासिका-द्वारा गन्धानुभूति, रसना-द्वारा रसानुभूति और त्वक्-द्वारा स्पर्शानुभूति बुद्धि ही करती है। पाणि, पाद, उपस्थ, गुदा एवं वाणी-द्वारा समस्त कर्मों का का संचालन तथा ज्ञान बुद्धि ही करती है। बुद्धि ही जीवको व्यामोहित कर सुख-दुःखात्मक विविध योनियाँ धारण करती है और वही ज्ञान-द्वारा जीव को सुख-दुःख तथा जन्म-मरण से निवृत्त कर मोक्षस्वरूप में स्थिति करा देती है। अज्ञानी पुरुष बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियादि में तादात्म्याध्यास कर शरीर के कर्मों को आत्मकर्म मान लेते हैं। परिणाम स्वरूप फल-भोगने के लिये अनेक नीच-उच्च योनियों में जन्म धारण करते हैं। किसी पुण्य-परिपाक से जब विवेक-उदय होता है, तब तादात्म्याध्यास की ग्रन्थि खुलती है। शरीर को पृथक् जड और आत्माको चेतन तथा अकर्ता जान कर शरीर-धर्मों के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से निवृत्त हो, शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित हो, जन्म-मरण, हर्ष-शोक और कार्याकार्य से सर्वथा मुक्त हो जाता है। गीता में इसी गम्भीर आशय को स्वल्प शब्दों में भगवान् प्रकट करते हैं:

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः॥

(गी० १८।१४-१५)

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।
(गी०।१५।९)

'—(समस्त कर्मों की सिद्धि में यह पाँच कारण हैं) अधिष्ठान यानी शरीर, कर्ता-जीव,करण (पाँचज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन तथा बुद्धि—ये बारह करण हैं), प्राणादि की अनेक प्रकार की चेष्टायें और पाँचवाँ कारण है दैव (चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुग्राहक सूर्यादि देव अथवा कर्म-फलदाता ईश्वर) ।' 'शरीर' इन्द्रियाँ-वाणी और मन के द्वारा जो कर्म मनुष्य करता है, धर्ममय हो या अधर्ममय, उन सब के उपरोक्त वह पाँच ही हेतु हैं ।' 'शरीर में स्थित जीव श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना और नासिका एवं मन (बुद्धि तथा अहंकार) को भोग के साधन बना कर विषयों का सेवन करता है ।' चक्षु का विषय है रूप, रूप का उपभोग चक्षु करते हैं। शब्द का भोग श्रोत्र करते हैं, इसी प्रकार अपने-अपने विषयों का उपभोग सभी इन्द्रियाँ करती हैं, आत्मा तो दृष्टा मात्र है। किन्तु मूढजन यही कहते और समझते हैं कि 'हम ही विषयों के भोक्ता हैं ।' इस अज्ञानजनित निश्चय से ही प्राणियों को दुःख होता है, क्योंकि आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता । आत्मा के अकर्तृत्व का प्रतिपादन भगवान् इस प्रकार करते हैं :

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात्न स पश्यति दुर्मति ।।
(गी० १८।१६)

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यत्यचेतसः ।।
(गी० १५।१०-११)

'—इस प्रकार शरीर आदि पाँच ही सम्पूर्ण कर्मों के करने में हेतु हैं। किन्तु जो पुरुष (आत्मानात्म विचारशून्य है) अकर्ता शुद्ध आत्मा को कर्ता मानता है—'मैं इस कर्म का कर्ता हूँ'—इस प्रकार देखता है, वह अज्ञानी असंस्कृत बुद्धि होने से आत्मतत्त्व को नहीं जानता, वह दुर्मति है ।' 'शरीरादि उपाधि के उत्क्रमण होने पर, बैठने पर, भोग भोगने पर और सुखादि गुणों से युक्त होने पर आत्मा को जाते हुये-सा, बैठते हुये-सा, भोग भोगते हुये-सा और गुणो से युक्त होते हुये-सा प्रतीत होनेपर भी ज्ञान नेत्रों वाले पुरुष वास्तव में आत्मा को निष्क्रिय ही देखते हैं, किन्तु विमूढ

जन आत्मा को कर्ता, भोक्ता देखते हैं।' 'समाहित चित्त योगी प्रयत्न करने पर अपनी शुद्ध बुद्धि में स्थित निष्क्रिय आत्मा को देखते हैं, तपादि-द्वारा जिन्होंने बुद्धि शुद्धि नहीं की है, वह अविवेकी प्रयत्न करने पर भी इस आत्मा को नही देख पाते।'

इस प्रकार विवेक-द्वारा जब आत्मा को शरीरादि से भिन्न अकर्ता समझ लिया जाता है और शुद्ध बुद्धि में इसी प्रकार प्रत्यक्षानुभूति होती है, तब पुरुष की 'अकर्म' में स्थिति होती है। अनन्तर सब कर्मों को करते हुये भी वह अकर्ता ही होता है, क्योंकि सम्पूर्ण कर्म सत्त्वादि गुणों के कार्य हैं और शरीरादि-द्वारा निष्पन्न होते हैं। शरीरादि भी सत्त्वादि गुणों के कार्य हैं, अतः गुण गुणों में ही व्यवहार होता है। विषय भी गुण और इन्द्रिय तथा बुद्धि भी गुण, परस्पर गुणों में ही तारतम्यानुसार भोक्ता-भोग्य भाव होता है। आत्मा इनसे पृथक् साक्षी, दृष्टा तथा अकर्ता स्वरूप से विद्यमान रहता है। प्राणी की जब आत्मस्वरूप में स्थिति होती है, उसी स्थिति को 'अकर्म' नाम से गीता कहती है। यही वास्तविक स्थिति है और इसी के लिये राग-द्वेषादिरहित स्वधर्मानुष्ठान की अपेक्षा है। गीतोक्त कर्म का लक्ष्य त्याग है। पहले कर्म-त्याग असम्भव है, इस कारण पहले कर्म-फल-त्याग करना चाहिये। पुनः राग-द्वेषात्मक आसक्ति-त्याग और सिद्धि-असिद्धि में समता की स्थिति प्राप्त करना चाहिये। इससे जब भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य-उदय हो तभी कर्म-संन्यास कर्तव्य है।

कर्म-संन्यास के सभी अधिकारी नहीं हो सकते। स्वधर्मानुष्ठान से ही अधिकार प्राप्त होता है। इसी लिये गीता कर्म का प्रतिपादन अत्यन्त समारोह पूर्वक करती है। निश्चय ही कर्म से मानव-जीवन पवित्र होता है और आत्मोन्नति के शिखर पर पहुँचने का एकमात्र साधन है। अतः कर्म के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है और ज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है।

—: ० :—

अनासक्त एवं ईश्वरार्थ कर्म ही कर्तव्य

गीतोक्त कर्म का क्षेत्र अतीव विस्तृत है। इसके अन्तर्गत स्वाध्याय, मनन, ध्यान, निश्चय, अहं, संकल्प-विकल्प, प्राणायाम, यज्ञ, याग, तप, दान, सेवा, देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श, रसास्वादु, मल-मूत्र-त्याग, बोलना, आदान-प्रदान एवं श्वास-प्रश्वास आदि सभी क्रियाओं का समावेश है। अन्तःकरण चतुष्टय, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा प्राणादि की धर्ममय-अधर्ममय सभी क्रियायें गीता के अनुसार कर्म हैं। सुविधा के लिये कर्मों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—श्रौत, स्मार्त तथा लौकिक। वेदाध्ययन, तप, यज्ञादि श्रौत कर्म हैं। स्ववर्णानुसार अध्यापन, रक्षण, व्यापार तथा सेवा आदि कर्म स्मार्त हैं। इसी प्रकार पारिवारिक सम्बन्ध, देश, समाज तथा देहादि के सम्पूर्ण कर्म लौकिक श्रेणी में आते हैं। सभी कर्मों का मूल है—कामना। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ के लिये ही कर्म करता है। शरीरादि में जिसका 'स्व' सीमित है, वह शरीरादि के निमित्त कर्म करता है। जिसका 'स्व' पुत्र, पत्नी. मित्रादि में सीमित है, वह इनके उद्देश्य से कर्म में संलग्न है। कोई जाति तथा समाज-कल्याणार्थ कर्म में रत है, क्योंकि उसका 'स्व' जाति तथा समाज में केन्द्रित है। इसी प्रकार जिसका 'स्व' देश तथा विश्व पर्यन्त व्यापक है, वह देश तथा विश्व-हित में ही कर्म करता है। व्यक्ति का 'स्व' संकुचित तथा विकसित हो सकता है, इसी के अनुसार हम 'स्वार्थी,' देश-सेवी,' 'परोपकारी,' 'विश्व-सेवी' आदि विशेषण व्यक्ति में लगाते हैं। स्वार्थ, देश-सेवा, परोपकार, विश्व-सेवा आदि विशेषण कर्म के साथ लगा सकते हैं, किन्तु वास्तव में सभी 'स्वार्थ' से भिन्न नहीं हैं। जिसे परोपकारी कहा जाता है, क्या वास्तव में वह

परोपकारी है ? वह परोपकार क्यों करता है ? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है, कि 'दूसरों के दु:ख-दूर करने के लिये' । इस पर प्रश्न होता है, कि दूसरों के दु:ख-दूर करने की इच्छा क्यों हुई? इसका अन्तत: यही उत्तर हो सकता है, कि दूसरे के दु:ख-देख कर स्वयं दु:खानुभूति होती है, इस लिये दु:ख-दूर करने में प्रवृत्ति होती है । इस-का तात्पर्य यही निकला कि अपना दु:ख-दूर करने के लिये कर्म में प्रवृत्ति हुई । अत: परार्थ कर्म भी 'स्वार्थ' के लिये ही हैं ।

अज्ञानी पुरुष देहेन्द्रिय-पोषणार्थ कर्म में प्रवृत्त होता है, उसकी दृष्टि होती है भोगमयी । पत्नी, पुत्र, धन, दान, मान आदि का संग्रह होता है भोग के लिये । लौकिक भोगों से भी जब कामना-तृप्ति नहीं होती, तब स्वर्गीय भोगों की कामना होती है । इस निमित्त यज्ञानुष्ठान करता है । मृत्यूपरान्त स्वर्गलोक में अलौकिक दिव्य सुखोपभोग करता है । यज्ञीय पुण्य-क्षीण होने पर स्वर्गलोक से पतन होता है । पुन: इस लोक में जन्म, कर्मानुसार भोग, कर्म और पुन: फ़लोपभोगार्थ विविध योनियों में जन्म-मरण तथा सुख-दु:ख आदि की परम्परा निरन्तर चलती रहती है । जन्म-जन्मान्तर के संचित पुण्य कर्म के फल से सत्संग, ईश्वर-भक्ति, विषय-भोग में विरक्ति, विवेकऔर मुक्ति की इच्छा होती है तब उसके कर्म कामना-रहित मुक्ति के लिये होते हैं । ईश्वर-प्राप्ति या मुक्ति की कामना 'कामना' की श्रेणी में नही आती । क्योंकि उस स्थिति में 'स्व' का पूर्णत: परित्याग होता है, अत: उस निमित्त कर्म भी नहीं होते । ईश्वरार्पण-भावना से, ईश्वर के निमित्त अथवा फलाशा-त्यागपूर्वक जो कर्म किये जाते है, वह कर्म 'निष्काम' कहे जाते हैं । वास्तव में तो 'यह कर्म मुक्ति के लिये कर रहा हूँ'—यह भावना भी न होनी चाहिये । 'हमारा कर्तव्य है'—इस भावना से कर्म करने चाहियें, तभी वह ईश्वरार्पण होते हैं । इससे ईश्वर की प्रसन्नता होती है, ईश्वर-प्रसन्नता से अन्त:करण प्रकाशित होता है । ज्ञानमय प्रकाश में अखण्ड, अनन्त, सच्चिद्घन, शुद्ध , मुक्तस्वरूप का दर्शन होता है । इससे कृतकृत्यता होती है ।सम्पूर्ण कर्मों का पर्यवसान इसी में होता है ।

कर्म के सम्बन्ध में श्रुति-स्मृति में अनेक प्रकार के विचार देखे जाते हैं । कहीं कर्म की प्रशंसा तथा अवश्य कर्तव्यता का प्रतिपादन है और कहीं कर्म की निन्दा तथा इसके त्याग का उपदेश है । उदाहरणार्थ कुछ प्रमाण दृष्टव्य है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

(ईशा० २)

'—इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करे, इस प्रकार तुझ मनुष्य के लिए इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, जिससे अशुभ कर्म-लेप न हों।' यह श्रुति जीवन पर्यन्त कर्म-करने की प्रेरणा देती है। अन्य श्रुति कर्म-त्याग बतलाती है :

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः।
(कैवल्यो० ३)

'—कर्म से अमृतत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता, न सन्तान से और न धन से, एकमात्र त्याग से ही अमृतत्त्व प्राप्त होता है।'

'महाभारत' में कहा है :

कर्म केचित्प्रशंसन्ति मन्दबुद्धिरता नराः।
ये तु वृद्धा महात्मानो न प्रशंसन्ति कर्म ते॥
कर्मणा जायते जन्तुर्मूतिमान् षोडशात्मकः।
पुरुषं ग्रसितेऽविद्या तद् ग्राह्यममृताशिनाम्॥
तस्मात्कर्मसु निःस्नेहा ये केचित्पारदर्शिनः।
विद्योमयोऽयं पुरुषो न तु कर्ममयः स्मृतः॥
(महा० आश्व ५१।३०-३२)

'—कुछ मन्दबुद्धिसम्पन्न पुरुष कर्म की प्रशंसा करते हैं, किन्तु वृद्ध ब्रह्मात्मज्ञानसम्पन्न पुरुष उन कर्मों की प्रशंसा नहीं करते'। 'कर्म से जीव षोडश विकारयुक्त स्थूल शरीर धारण करता है, वह पुरुष अविद्या-ग्रसित और देवों का उपभोग बनता है'। 'इसलिये जो कोई पारदर्शी पुरुष हैं, वे कर्मों में आसक्त नहीं होते, क्योंकि यह पुरुष (आत्मा) ज्ञानमय है, कर्ममय नहीं।' गीता में भी भगवान् का कथन है :

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
(गी० २।४०)

'—इस धर्म का स्वल्प अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा करता है।'

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
(गी० ३।८)

'—तुम विहित कर्म करो, क्योंकि कर्म न करने से कर्म-करना परिणाम में अच्छा है।' दूसरी ओर यह भी कहते हैं :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

(गी० १८।६६)

'—तुम सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर, एक मेरी ही शरण जाओ ।'

इस प्रकार शास्त्रों में कर्म का समर्थन है और विरोध भी । साधारण व्यक्ति की बुद्धि भ्रमित हो जाती है, कि वास्तविकता क्या है ? गीतोपदेश सुनकर अर्जुन की भी यही स्थिति हुई, तभी उसने प्रश्न किया—'जनार्दन ! यदि आप कर्म की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) को श्रेष्ठ मानते हैं, तो केशव ! मुझे इस हिंसारूप क्रूर कर्म में क्यों लगाते हैं' ? (गी० ३।१) । इसका समाधान जितना युक्तियुक्त गीता में मिलता हैं, उतना अन्यत्र दुर्लभ है । भगवान् कहते हैं —'जो पुरुष केवल आत्मा में रमण करता है, आत्मा में ही तृप्त है और आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है' (गी० ३।१७) । 'यह सब वासुदेव है—इस प्रकार जिसे ज्ञानानुभूति होती है, वह महात्मा है और अत्यन्त दुर्लभ पुरुष है' (गी० ७।१९), क्योंकि वह 'ज्ञानी पुरुष तो मेरा आत्मा ही है, यह मेरा निश्चय है' (गी० ७।१८)। किन्तु जो पुरुष ज्ञान की इस स्थिति मे नहीं हैं, उनके लिये कर्म परमावश्यकीय हैं । कर्तव्य कर्म से ही ज्ञान-भूमि का निर्माण होता है । 'विना कर्मारम्भ किये मानव निष्कर्म भाव (ज्ञान) को नहीं पाता, विना ज्ञान के संन्यास से भी निष्कर्मता सिद्ध नहीं होती' (गी० ३।४), क्योंकि 'सभी मनुष्य प्रकृति के गुणों से परतन्त्र कुछ न कुछ करते ही हैं, अतः अज्ञानी पुरुष क्षणभर भी विना कर्म किये नहीं रह सकते (गी० ३।५) । इसलिये प्रकृति–परतन्त्र होकर वैषयिक कर्मों की अपेक्षा यह श्रेष्ठतर है कि 'तुम विहित कर्म करो' (गी० ३।८) । क्योंकि जब तक शरीर है, तब तक विना कर्म किये एक क्षण भी नही रहा जा सकता । प्राणन क्रिया, मानसिक क्रिया, दर्शन तथा श्रवण क्रिया एवं मल-मूत्र-त्याग-क्रिया के विना क्या कोई रह सकता है ? इसी प्रकार भोजन-पान की क्रिया भी अनिवार्य है । अतः कर्म न करने से शरीर-यात्रा भी न चल सकेगी—"**शरीरयात्राऽपि च तेन प्रसिद्ध्येदकर्मणः** (गी० ३।८) इसलिये कर्म करना परमावश्क है ।

इस पर यदि कहा जाय कि 'कर्म करने से अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है—हिंसा, राग-द्वेष, पाप, वासना, परपीडा एवं जन्म-मरण-प्रवाह आदि की परम्परा

बनती है, अतः कर्म न करना ही अच्छा है।' इसके उत्तर में भगवान् गीता में कहते हैं :

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
(गी० १८।४८)

'—कौन्तेय ! सहज कर्म दोषयुक्त होने पर भी त्यागनीय नहीं हैं, क्योंकि सभी कर्म दोष से आवृत हैं, जैसेधूम से अग्नि आवृत है।' इसलिये 'स्वधर्म गुण रहित होने पर भी, परधर्मानुष्ठान से श्रेष्ठतर है, क्योंकि स्वाभाविक स्वधर्मरूप कर्म-करता हुआ पुरुष पाप को नहीं प्राप्त होता'—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥
(गी० १८।४७)

हिंसा के सम्बन्ध में 'महाभारत' में कहा है :

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगस्यानि कानिचित् ।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः ॥
(महा० शा० १५।२६)

'—इस जगत् में ऐसे सूक्ष्म जन्तु हैं, जिन्हें नेत्रों-द्वारा नहीं देखा जा सकता, किन्तु तर्क से सिद्ध हैं; इन जन्तुओं का नेत्रों के पलक हिलाने मात्र से ही विनाश हो जाता है।' अतः हिंसा-दोष के भय से कर्म-त्याग असम्भव तथा अनुचित है। राग-द्वेष तथा फलाशा पूर्वक कर्म करने से पाप, वासना और जन्म-मरण-प्रवाह में प्रवाहित होना पड़ता हैं, किन्तु राग-द्वेषादि-रहित कर्म करनें से अनर्थ-परम्परा में पुरुष नहीं पड़ता। अतः राग-द्वेषादिरहित कर्म कर्तव्य हैं और यही कर्म श्रेष्ठ हैं इसी भाव को अभिव्यक्त करते हैं :

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
(गी० १८।२३)

'राग-द्वेष-विवर्जित, आसक्तिरहित एवं फल कामना शून्य पुरुष-द्वारा जो कर्म किये जाते हैं, वह सात्त्विक (श्रेष्ठ) कर्म हैं।'

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गी० २।३८)

'—सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा जय-पराजय को समान समझकर, युद्ध के लिये चेष्टा करो, इस प्रकार करने से तुम्हें पाप नहीं लगेगा।' कर्म वास्तव में न बन्धन कारक हैं, न मुक्ति प्रदायक। राग-द्वेष, फलाशा तथा संकल्प पूर्वक कर्म करने से बन्धन होता है। वही कर्म, ईश्वर-प्रसन्नार्थ समर्पण बुद्धिपूर्वक करने से, क्रमशः मुक्ति प्रदायक होते हैं। यदि अबुद्धिपूर्वक स्वाभाविक कर्म होते हैं, तो न इनसे बन्धन होता है, न मुक्ति। अतः गीता पुरुष के कल्याण-कामना से उपदेश देती है :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गी० १८।४६)

'—जिस ईश्वर से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हुई है तथा जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस ईश्वर को वर्णानुसार स्वकर्म से पूजकर मानव सिद्धि (ज्ञाननिष्ठा की योग्यता) प्राप्त करता है।' तात्पर्य स्वकर्म अवश्य कर्तव्य हैं। यदि पुरुष स्वकर्म न करेगा, तो परकर्म करेगा, क्योंकि विना कर्म किये कोई नहीं रह सकता। ऐसा करने पर कई दोष उत्पन्न होंगे—पर कर्मानुसरण प्रथम दोष होगा, स्वकर्म-त्याग दूसरा दोष, अविहित आचरण तीसरा दोष और ईश्वर-आज्ञा-उल्लंघन चौथा दोष होगा। इसलिए स्वधर्मानुसार कर्म करना ही श्रेष्ठ मार्ग है, और वह भी ईश्वरार्पण बुद्धिपूर्वक।

स्वयं कर्म में न राग है, न दोष, न पुण्य है, न पाप। राग-द्वेषादि धर्म बुद्धि में होते हैं। एक ही विषय किसी को प्रिय होता है, दूसरे को अप्रिय। प्रिय होने से वह कर्म में प्रवृत्त होता हैं, जिसे अप्रिय है वह कर्म में नहीं प्रवृत्त होता। प्रियता के कारण विषय-भोग में आनन्द आता है और उसके रागात्मक संस्कार बुद्धि में अंकित होते हैं। इसी प्रकार द्वेषात्मक संस्कार भी बुद्धि में होते हैं। इन संस्कारों के कारण पुनः प्राणी राग-द्वेषात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है, अतः जन्म-मरण और सुख-दुःखादि

की अनादि परम्परा में प्रवाहित होता है। दुःखादि-परम्परा से मुक्त होने के लिये भगवान् का कहना है :

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गी० ३।१९)

'—इसलिये तुम आसक्ति-रहित नित्य कर्तव्य कर्म का सदा भली प्रकार आचरण करो, अनासक्तपूर्वक कर्म से अन्तःकरण-शुद्धि-द्वारा पुरुष मोक्ष-प्राप्त करता है।' क्योंकि 'यज्ञ, दान तथा तप अनासक्त पुरुष को पवित्र करने वाले हैं' (गी० १८।५)। आसक्तिपूर्वक देहादि-पोषणार्थ कर्म बन्धन-कारक हैं और अनासक्तिपूर्वक ईश्वरार्थ कर्म मुक्ति प्रदायक। इसलिये आदेश है :

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
(गी० ३।९)

'—'यज्ञो वै विष्णुः' (तै० सं० १।७।४) इस श्रुति के अनुसार 'निश्चय यज्ञ ही विष्णु है', विष्णु यानी परमात्मा के लिये जो कर्म किये जाते हैं, वह कर्म यज्ञार्थ हैं) ईश्वरार्थ नित्यादियज्ञ कर्म से अन्य काम्यादि कर्म-करने से मनुष्य कर्म-बन्धनयुक्त होता है, अतः कौन्तेय ! फल तथा आसक्तिरहित ईश्वर के निमित्त कर्म करो।' समस्त कर्मों में यज्ञ ही श्रेष्ठ कर्म है, यही 'शतपथ' १. ७. ४. ५ में कहा है : **यज्ञो वैश्रेष्ठ तमं कर्म** '—सब से श्रेष्ठ कर्म यज्ञ है'।

अग्नि देवों का मुख है। अग्नि में देवेश्वर के निमित्त स्रुवा आदि साधनों से हवि-त्याग करना 'यज्ञ' है और यह यज्ञ सब कर्मों में श्रेष्ठ है। किन्तु गीता में अन्य अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन मिलता है :

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।।

(गी० ४।२५-३०)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ।।

(गी० ४।२४)

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि ।　　　　(गी० १०।२५)

'—कुछ कर्मयोगी (१)दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों-द्वारा इन्द्रादि देवों का यजन करते हैं, दूसरे ब्रह्मवेत्ता (२)ब्रह्माग्नि में आत्मारूप हवि को आत्मा-द्वारा हवन करते हैं' । 'अन्य (३)संयमरूप अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन करते हैं, दूसरे (४)इन्द्रियरूप अग्नि में शब्दादि विषयों का हवन करते हैं' । 'अन्य योगी सर्व इन्द्रियों के कर्म तथा प्राण के कर्मों का हवन विवेक-विज्ञान से प्रज्वलित (५)आत्म-सयम योगाग्नि में करते हैं' । 'तीर्थादि पुण्य क्षेत्र में यज्ञ-बुद्धि से द्रव्य लगाना (६)द्रव्ययज्ञ है, चान्द्रायण, प्राजापत्य आदि अथवा यज्ञबुद्धि से उपवासादि करना (७)तपोयज्ञ है, प्राणायामादि-द्वारा चित्त को स्थिर करना (८)योगयज्ञ है, वेद-पारायण (९)स्वाध्याय यज्ञ और ज्ञानशास्त्र का परिशीलन यज्ञ-दृष्टि से करना (१०)ज्ञानयज्ञ है, अपनी अपनी निष्ठा में सभी तीक्ष्ण व्रत से यत्नशील रहते हैं' । 'कोई (११)अपानवायु में प्राणवायु का हवन करते हैं, दूसरे (१२)प्राणवायु में अपान का हवन करते हैं और कोई प्राण-अपान की गति रोककर (१३)प्राणायाम करते हैं' । 'अन्य परिमिति भोजनशील प्राणों को (१४)प्राणों में हवन करते हैं, ये सभी

पुरुष यज्ञों को जानने वाले और यज्ञों-द्वारा निष्पाप हो गये हैं'। '(ब्रह्मज्ञ पुरुष की दृष्टि में) हवन के स्रुक आदि ब्रह्म हैं, हवि ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है, कर्ता ब्रह्म है, हवन-क्रिया ब्रह्म है और उस ब्रह्मरूप कर्म मे जिसका चित्त समाहित हो चुका है, उसके द्वारा प्राप्तव्य फल भी ब्रह्म ही है'। 'यज्ञों में (१५) जपयज्ञ मैं हूँ"। इन पन्द्रह यज्ञों का वर्णन कर भगवान् कहते हैं :

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
(गी० ४।३३)

'—शत्रुदमन ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं।' वस्तुतः ज्ञानयज्ञ साध्य है, अन्य यज्ञ साधन। बिना साधन के साध्य नहीं प्राप्त होता, अतः यज्ञ कर्म के बिना मुक्ति असम्भव है। इसलिये भगवान् की उक्ति है :

नाऽयं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।
(गी० ४।३१)

'—कुरुश्रेष्ठ ! जो यज्ञानुष्ठान नहीं करता, उसे यह लोक भी नहीं मिलता, फिर अन्य लोक की बात ही क्या ?' तात्पर्य अयज्ञ पुरुष को मुक्ति-सम्पादन योग्य यह मानव-देह नहीं मिलती, फिर ब्राह्मशरीर या दैव-शरीर मिलना तो सम्भव ही नहीं। इस लिये परम कल्याणाकांक्षी पुरुष को ईश्वर-निमित्त विहित कर्मानुष्ठान अवश्यमेव कर्तव्य हैं।

वस्तुतः कर्म मानव को त्याग का उपदेश देता है और त्याग से परम शांति-रूपा मुक्ति प्राप्त होती है। 'यज्ञ' में ईश्वरार्थ हवि-पदार्थ का त्याग होता है, ब्रह्माग्नि में आत्मत्याग, संयमाग्नि में इन्द्रिय-त्याग, इन्द्रियाग्नि में विषय-त्याग, आत्म-संयम योगाग्नि में इन्द्रिय तथा प्राण के कर्मों का त्याग, तीर्थादि में द्रव्य-त्याग, तप में शरीरेन्द्रिय के अहंभावना का त्याग, प्राणायाम से चित्त-चांचल्य-त्याग, स्वाध्याय से अविवेक का त्याग और वेदान्त-अध्ययन से अज्ञान-त्याग होता है। निष्कर्ष यह कि सभी कर्मों का उद्देश्य है—त्याग। यदि त्याग का विनियोग स्त्री, पुत्र, परिवार एवं क्षुद्र शरीर-सुख के लिये किया जाता है, तो वह बन्धनकारक

होता है। वही त्याग यदि फलाशारहित ईश्वर के लिये हो, तो मुक्तिप्रदायक होता है।

सभी कर्मों का स्वरूप त्यागमय है। यदि ध्यानपूर्वक अपनी शरीर-रचना और कर्म की ओर देखा जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होगा, कि कर्म त्यागमय हैं। शरीर में वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ-द्वारा सभी कर्म सम्पन्न होते हैं, इसीलिये इनकी संज्ञा है—कर्मेन्द्रिय। कर्मेन्द्रियाँ जीव, अन्तःकरण एवं ज्ञानेन्द्रियों के निमित्त कर्म करती हैं, अपने लिये नहीं। रसना के लिये रसमय पदार्थों का संग्रह पाणि-द्वारा होता है, पाणि-द्वारा मुख में खाद्य-पदार्थ पहुँचता है, ज्ञानेन्द्रिय रसना-द्वारा ग्रहण किया जाता है और अन्तःकरण-द्वारा स्वादु-अस्वादु का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है, कि रसनाग्नि में खाद्यरूप हवि का हवन पाणि कर्मेन्द्रिय-द्वारा होता है। वाक् इन्द्रिय-द्वारा शब्द का हवन श्रोत्राग्नि में, अभिलषित रूप का हवन नेत्राग्नि में, गन्ध का हवन नासिकाग्नि में, और स्पर्श का हवन त्वगग्नि में होता है। कर्मेन्द्रियाँ विषय-पदार्थ-लाकर ज्ञानेन्द्रियों के समर्पण करती हैं, स्वतः भोग नहीं करतीं। खाद्य पदार्थ को शरीर में यथास्थान पहुँचाने का कार्य प्राण करता है, प्राण भी कर्ममय है। प्राण-द्वारा रक्त-संचार, प्राणन-क्रिया और जीवन-शक्ति शरीर में रहती है। शरीर से दूषित वायु प्राण ही बाहर निकालता है और शुद्ध वायु बाहर से अन्दर प्रवेश करता है। दूषित मल-मूत्र क्रमशः गुदा तथा उपस्थेन्द्रिय-द्वारा बाहर निःसरण होता है। इस प्रकार जीवन-संरक्षण, सम्बर्द्धन एवं शुद्धता का कार्य कर्मेन्द्रियों-द्वारा ही होता हैं। वाक् से शब्द-त्याग, हाथ से द्रव्यादि-त्याग, उपस्थ से मूत्र-त्याग, गुदा से मल-त्याग और पद से स्थान-त्याग किया जाता है। इस प्रकार कर्मेन्द्रियों-द्वारा निरन्तर त्यागमय कर्म निष्पन्न होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ विषय-भोग करती हैं, इससे ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ दोनों पुष्ट होती हैं। यही त्यागमय कर्म परस्पर उन्नति का मार्ग है। समष्टि में आधि-दैवत तथा आधिभौतिक का भी यही सम्बन्ध है। इसी ओर भगवान् का संकेत है :

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

(गी० ३।११)

'—तुम लोग यज्ञ-द्वारा इन्द्रादि देवों की उन्नति करो, वे देव वृष्टि आदि-

द्वारा तुम्हारी उन्नति करेंगे, परस्पर उन्नति करते हुए तुम लोग परम श्रेय—स्वर्ग या ज्ञान-द्वारा—मोक्ष-प्राप्त कर लोगे ।'

कर्मेन्द्रिय-द्वारा विषयों का आदान-प्रदान होता है और ज्ञानेन्द्रिय-द्वारा उपभोग । विषय-पदार्थ में शोभन-अशोभन, राग-द्वेष आदि करना बुद्धि के कार्य हैं । प्रबल राग-द्वेषात्मक संस्कार बुद्धि में अंकित होते हैं, इनसे कामना, संकल्प, कर्म और पुनः भोग की परम्परा चल पड़ती है । परिणाम में जन्म-मरण एवं सुख-दुःख प्राप्त होते हैं । अतः बन्धन का कारण अन्तःकरण ही है, इसीलिये कहा है :

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धस्य विषयासक्तं मुक्तै निर्विषयं स्मृतम् ।।

(ब्रह्मवि० उप २)

'—मनुष्यों का मन ही बन्ध-मोक्ष में कारण है, विषयासक्त मन से बन्धन और विषयरहित मन मुक्ति में कारण कहा गया है ।' विषयासक्त मन ही बन्धन का मूल है । किन्तु अविवेकी पुरुष कर्मेन्द्रियों को बन्धन का कारण समझ, उनके निग्रह का प्रयत्न करते हैं । ऐसे पुरुषों को भगवान् मिथ्याचारी कहते हैं :

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।

(गी० ३।६)

'—जो मनुष्य हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों को रोक कर, ज्ञानेन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता है, वह विमूढात्मा मिथ्याचारी कहा जाता है ।' 'किन्तु, अर्जुन ! जो पुरुष ज्ञानेन्द्रियों को मन से रोककर वाणी आदि कर्मेन्द्रियों से आसक्ति-रहित कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है :

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।

(गी० ३।७)

वास्तविक स्थिति यह है, कि कर्मेन्द्रियों-द्वारा विषयों का आदान-प्रदान,

ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा विषयोपभोग और अन्तःकरण-द्वारा विषयानुभूति होती है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित आत्मा न करता है, न भोक्ता, साक्षीमात्र है। किन्तु अविवेकवश अन्तःकरण के धर्म जब पुरुष अपने धर्म मानता है, तब 'मैं कर्त्ता हूँ,' मैं भोक्ता हूँ' आदि मानने लगता है। यही बन्धन का कारण है। जब विवेकी पुरुष विवेक-द्वारा आत्मा और प्राकृतिक अन्तःकरणादि को भिन्न-भिन्न जान लेता है, तब अपने को अकर्ता, अभोक्ता, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप देखता है और प्रकृतिजन्य पदार्थों में क्रिया देखता है, तभी मुक्त हो जाता है। अतः कर्म स्वयं बन्धनकारक नहीं हैं। पुरुष के लिये कर्म का विधान कर्म-निवृत्ति के लिये है। यही 'भागवत' में भी कहा है :

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥
(भा० ११।३।४४)

'—यह वेद परोक्षवादात्मक है, कर्मों की निवृत्ति के लिये कर्म का विधान करता है, जैसे बालक को मिठाई का लोभ देकर ओषधि देते हैं, वैसे ही स्वर्गादि का प्रलोभन देकर अनभिज्ञ को कर्म में प्रवृत्त करते हैं।' यही दृष्टिकोण गीता का है, वह भी कर्म-त्याग के लिये कर्म का आग्रह करती है। वह स्पष्ट स्वर्ग को विनाशी बतलाकर, कामनारहित,त्यागमय ईश्वरार्थ कर्म की प्रेरणा देती है। गीता का कथन है :

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कर्मकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गी० ५।१२)

'—ईश्वरार्थ कर्मशील योगी कर्म-फल-त्याग कर नैष्ठिकी मुक्ति पाता है, और कामना तथा कर्म-फल से आसक्त पुरुष बन्धन-पाता है।' गीता मुक्ति-पथ-प्रशस्त करती है। अतः त्यागमय कर्म का उपदेश बार-बार करती है।

यज्ञीय कर्मों में जिस प्रकार त्यागोपदेश संनिहित है, उसी प्रकार दान-कर्म में भी है। यद्यपि किस वस्तु का दान कर्तव्य है—इसका गीता में उल्लेख नहीं है, तथापि किस प्रकार का दान श्रेष्ठ है--इसका कथन है। 'देना कर्तव्य है—इस

बुद्धि से देश, काल तथा पात्र का विचार कर अनुपकारी व्यक्ति को जो दान दिया जाता है, वह दान सात्त्विक (श्रेष्ठ) कहा जाता है' (गी० १७।२०) । 'जो दान प्रत्युपकार तथा फलोद्देश्य के लिये क्लेशपूर्वक दिया जाता है, वह दान राजस (अधम) कहलाता है' (गी० १७।२१) । 'देश तथा काल का विचार न कर, असत्कार तथा अपमानपूर्वक अपात्र को, जो दान दिया जाता है वह तामस (अधमाधम) कहलाता है' (गी० १७।२२) । इस प्रकार गीता में फलाशा-रहित, श्रद्धापूर्वक एवं पात्रादि का विचार कर, कर्तव्य भावना से दान देना उत्तम माना गया है । मुख्यतः त्यागभावना दान में भी है । दान किस वस्तु का श्रेष्ठ है, इसमें विभिन्न मत हो सकते हैं, क्योंकि दाता तथा ग्रहीता की इच्छानुसार सभी दान श्रेष्ठ होते हैं । महाभारत में कहा है :

अतिदानानि सर्वाणि पृथिवीदानमुच्यते ।
अचला ह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामानिहोत्तमान् ।।
(म० अनु० ६२।२)

अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादन्नं विशेषेण दातुमिच्छन्ति मानवाः ।।
(म० अनु० ६३।६)

'—सब दानों में श्रेष्ठ पृथिवीदान कहा गया है, पृथिवी अचला तथा अक्षय है, इस लोक में समस्त उत्तम भोगों को देने वाली है ।' 'अन्न-दान के समान न कोई दान पूर्व में था और न भविष्य में होगा, इसलिये मनुष्य विशेषकर अन्नदान की ही इच्छा करते हैं ।' दान के सम्बन्ध में विशिष्ट पुरुषों के मतों का भी उल्लेख है—'राजा हरिश्चन्द्र का कथन है, कि सुवर्ण पवित्र, आयु-वृद्धिकारक तथा पितरों को अक्षय गति प्रदान करने वाला है' (म० अनु० ६५।२) । 'मनु का कथन है—जल-दान सबसे श्रेष्ठ है, अत कूप, वापी तथा तडागादि खोदवाना चाहिए' (म० अनु० ६५।३) । 'इन्द्र का मत है —गौओं का दुग्ध अमृत है, अतः जो दुग्ध-देने वाली गो का दान करता है, वह अमृत-दान करता है' (म० अनु० ६६।४६) । 'जो ब्राह्मण अपने शिष्य को धर्मानुकूल वेदवाणी का उपदेश करता है, वह भूमि तथा गोदान के समान फल पाता है' (म० अनु० ६९।५) । 'मनुस्मृति' में : **सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते** (मनु० ४।२३३)'—अन्नादि सभी दानों से वेद-दान का फल विशिष्ट कहा है' । क्योंकि वेद-द्वारा ही ईश्वर, धर्म, उपासना, आत्मज्ञान एवं लोक-परलोक आदि का ज्ञान होता है । दान में तो त्याग प्रत्यक्ष ही है ।

यज्ञ तथा दान के समान तप भी त्यागमय हैं। गीता में कायिक, वाचिक तथा मानसिक तीनों प्रकार के तपों का उल्लेख है :

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
(गी० १७।१४-१६)

'—देव, ब्राह्मण, गुरु तथा ज्ञानी का पूजन, शरीर की शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शरीर के तप हैं' । 'दुःख न देने वाला, सत्य, प्रिय और परिणाम में सुखकारी वाक्य तथा वेद का स्वाध्याय वाणी का तप है' । 'मन की निर्मलता, विषय-चिन्तन-रहित, संयम, मन का निग्रह और छल-कपट-रहित व्यवहार—ये सब मन के तप कहे जाते है ।' तप से देव आदि में अनादर का परित्याग, अशुद्धता, कुटिलता, भोग तथा हिंसा का त्याग होता है। दुःखमयी वाणी का त्याग, असत्य, अप्रिय तथा अहितकर वाक् का भी त्याग होता है, स्वाध्याय से वाणी की अपवित्रता तथा अविद्या का त्याग होता है। मानसिक तप से वासना-त्याग, विषय-चिन्तन, असंयम, चंचलता और छल-कपट का त्याग होता है। इस प्रकार तप से मन, वाणी तथा शरीर से सम्पूर्ण दोषों का त्याग हो जाता है। तब सुख, शान्ति, सन्तोष, निर्भयता एवं मुक्ति करामलकवत् प्रतीत होती है। सामाजिक दृष्टि से चारों वर्ण के पुरुषों के तप हैं:

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥
(मनु० ११।२३६)

'—ब्राह्मण का तप आत्मज्ञान है, क्षत्रिय का प्रजा-रक्षण तप है, वैश्य का तप व्यापार है और सेवा तप शूद्र की है ।' जब चारों वर्ण के पुरुष स्वार्थ-त्याग कर तथा स्वकर्तव्य समझ कर अपने-अपने कर्मों को समाजरूपी ईश्वर के अर्पण कर देते हैं'

तब वही त्यागमय कर्म तप होते हैं। सुवर्ण तपाने से जिस प्रकार शुद्ध होता है, उसी प्रकार तप से मानव निर्मल होकर, परमानन्दमयी स्थिति-प्राप्त कर लेता है।

सम्पूर्ण कर्मों का आधार है—श्रद्धा एवं शास्त्रीय विधि। यदि श्रद्धापूर्वक तथा शास्त्र-विधान से कर्म निष्पन्न होते हैं, तो पूर्णतः सफल होते हैं, अन्यथा निष्फल। इसीलिये गीता में दोनों पर विशेष बल भगवान् देते हैं :

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥
(गी० १७।२८)

'—पार्थ! श्रद्धा के विना यज्ञ, दान, शारीरिक तप तथा नमस्कारादि कर्म सब असत् हैं, क्योंकि उनका फल न परलोक में मिलता है, न यहाँ।'

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।
(गी० १७।३)

'—यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह स्वयं भी वैसा ही होता है।' यह बात और है कि किसी की श्रद्धा ईश्वर में हो, अन्य की देवों में, दूसरे की मृत प्रेतादि में, किसी की नास्तिकता में और किसी की स्त्री, पुत्र, परिवार या धन में हो, किन्तु श्रद्धा होती अवश्य है। सात्त्विक श्रद्धा ही श्रेष्ठ है। 'महाभारत' में भी कहा है :

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पाप विमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥
(म० शा० २६४।१५)

'—अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पाप-विनाशनी है, श्रद्धावान् पुरुष पापको वैसे ही परित्याग कर देता है, जैसे सर्प पुरानी केचुल को।' अतः यज्ञ, दान तथा तप श्रद्धापूर्वक करने से परम लाभ होता है। शास्त्रीय विधि के सम्बन्ध में गीता कहती है :

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

(गी० १६।२३–२४)

'—जो शास्त्र-विधान-त्यागकर कामना पूर्वक व्यवहार करता है, वह न सिद्धि पाता है, न सुख और न परम गति' । ' इसलिये कार्य-अकार्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है, अतः शास्त्र-विधि-जानकर स्वकर्म करो ।' क्योंकि जिस प्रकार रूप-दर्शन में नेत्र ही प्रमाण हैं, उसी प्रकार धर्म, कर्म, उपासना, ज्ञान एवं ईश्वर की सिद्धि में शास्त्र ही प्रमाण हैं । अतः शास्त्रानुकूल यज्ञ, दान तथा तप कर्तव्य हैं ।

यज्ञादि का फल भोजन करने पर तृप्ति के समान दृष्ट नहीं होता, इनका फल अदृष्ट है । शास्त्रानुसार करने पर भी प्रमादादिवश त्रुटि-होने से, कार्य-सिद्ध न होगा । अतः इसके निवारण के लिये भगवान् गीता में उपाय बतलाते हैं —'ओम्, तत, सत्—यह तीन प्रकार ब्रह्म का नाम है, पूर्वकाल में इस तीन प्रकार के नाम से ही ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुये' (गी० १७।२३) । 'इसलिये वेद-निष्णात विद्वानों की विधि-प्रतिपादित यज्ञ, दान तथा तप रूप क्रियायें ब्रह्म के 'ओम्' उच्चारण पूर्वक की जाती हैं' (गी० १७।२४) । 'मोक्षाभिलाषी पुरुष फलाकांक्षारहित यज्ञ, दान तथा तप की अनेक क्रियाओं का अनुष्ठान 'तत्' उच्चारण पूर्वक करते हैं' (गी०१७।२५) । 'पार्थ ! पुत्रोत्पन्न सद्भाव में, सदाचारसम्पन्नता में और विवाहादि मांगलिक कर्मों में 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है' (गी०१७।२६) । 'यज्ञ तप तथा दान में जो अवस्थिति है, वह भी 'सत्' कही जाती है और कर्म तथा ईश्वरार्थ कर्म भी 'सत्' हैं यही कहा जाता है ।' (गी० १७।२७)निष्कर्ष यह कि 'ॐ तत्सत्' ब्रह्म का नाम है और ब्रह्म पूर्ण है । इसलिये यज्ञादि की अपूर्णता भी ब्रह्म-नामोच्चारण से पूर्णता में परिवर्तित हो जाती है । सिन्धु में विन्दु मिलकर सिन्धु ही हो जाता है, वैसे ही अपूर्ण यज्ञादि भी पूर्ण ब्रह्म के संयोग से पूर्ण हो जाते है । अश्रद्धा, मंत्रोच्चारण की त्रुटि आदि से अङ्गवैकल्य होने पर भी, ब्रह्म-नामोच्चारण पूर्वक कर्म करने से सांग तथा पूर्णता होती है । अतः ब्रह्मज्ञानसम्पन्न पुरुष के यज्ञादि कर्म हों,

मुमुक्षु के हों या अज्ञानी पुरुषों के हों, सभी के लिये ब्रह्म-नामोच्चारण पूर्वक कर्म-करने का विधान है ।

इस प्रकार गीता में संक्षिप्त तथापि मार्मिक कर्म का विश्लेषण किया गया है । गीता में कामनासहित कर्मों का कोई स्थान नहीं है । कर्तव्य-भावना पूर्वक कर्म ही श्रेष्ठ माने गये हैं, क्योंकि कर्तव्य में ही 'त्याग' संनिहित है । त्याग से ही परम शान्ति, सन्तोष, निर्भयता एवं परम मुक्ति करामलकवत् प्राप्त होती है । अतः त्यागमय कर्तव्य कर्म का उपदेश गीता की विशिष्टता है ।

कर्मयोग एवं फल

कर्म की चरम स्थिति है 'योग'। योग के अर्थ हैं—जोड़, मेल, मिलाप, एकत्र, अवस्थिति आदि। 'पातञ्जलयोगदर्शन' में योग का लक्षण किया है : **योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः** (पा० १।२)'–चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है'। चित्त की वृत्तियों के उदय होने पर आत्मा वृत्तियों के स्वरूप वाला-सा प्रतीत होता है। जब वृत्तियों का निरोध होता है, तब आत्मा शुद्ध स्वरूप अवभासित होता है। तभी कैवल्य अवस्था-प्राप्त होती है, यही योग का अन्तिम फल है। **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्** (पा १।३) '—उस समय द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है'। आत्मस्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है। तात्पर्य बुद्धि के तादात्म्याध्यास होने से आत्मा बुद्धि के धर्मों को अपने धर्म समझने लगता है, तभी 'मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ' आदि मानता है। बुद्धि के निरोध होने पर अथवा बुद्धि के धर्मों को विवेक-द्वारा बाध कर देने पर आत्मा ही शेष रह जाता है, यही प्राणी का स्वरूप है। बुद्धि के सुख-दुःखादि धर्मों का त्याग करना ही 'योग' है। यही भाव गीता में प्रकट किया गया है :

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

(गी० ६।२३)

'—उन दुःखोंके संयोग के वियोग को 'योग' समझना चाहिये।' आशय यह है, कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक सुख-दुःख के संयोग से, वियोग ही 'योग' कहा जाता है। किसी प्रकार सुख-दुःख की प्रतीति न हो, ऐसी विशेष अन्तःकरण की स्थिति का नाम 'योग' है। कर्म-सूत्र के दो सिरे हैं, पूर्व किनारा है 'काम' और उत्तर किनारा है 'योग'। यदि कर्म का लक्ष्य होगा कामनापूर्ति, तो कर्म पूर्व की ओर भोगमय होकर, बन्धन-कारक होगा और यदि उसका लक्ष्य होगा शान्तस्वरूप आत्मा, तो वह उत्तर की ओर जाकर योग–द्वारा मुक्ति–प्रदायक होगा। वस्तुतः कर्म का लक्ष्य है आनन्द स्वरूप की प्राप्ति और यह होगा योग से। इसीलिये गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्म के साथ योग का समावेश किया है। उनका कहना है :

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गी० २।४८)

'—धनञ्जय ! योगस्थ होकर, आशा-त्याग कर और सिद्धि तथा असिद्धि में सम होकर कर्म करो, क्योंकि समता ही योग है।' ब्रह्मात्मा सम्पूर्ण द्वन्द्वरहित और एक है, इसलिये 'सम' है ! **निर्दोषं हि समं ब्रह्म** (गी० ५।१९) '—ब्रह्म निर्दोष तथा सम है', सम का भाव समत्व है, समत्व ज्ञान से जोड़ा जाता है, इसलिये इसे 'योग' कहते हैं। तात्पर्य सम ब्रह्म की भावना से जिसका अन्तःकरण युक्त है, वह योगस्थ है। अन्तःकरण की सम भावना से ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ज्ञान होता है, इस ज्ञान–योग से, इसे 'योग' कहा जाता है। किन्तु इस ज्ञानयोग के लिये अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि की अपेक्षा है। यहाँ पर तो इतना ही अभिप्रायहै, कि सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय और सिद्धि -असिद्धि आदि द्वन्द्वों–विषमताओं-से रहित होकर, एकमात्र सम भाव में स्थित हो कर्म कर्तव्य हैं। समत्व योग ही कर्मों में निपुणता है, यही कहा है :

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

(गी० २।५०)

'—समत्वयोग विषयक बुद्धि से युक्त पुरुष, इसी लोक में पुण्य-पाप-त्याग देता

है, इसलिये तुम योग की चेष्टा करो, कर्मों में समत्त्व बुद्धि योग है और यही योग कर्मों में कुशलता है ।' कामनापूर्वक कर्म पुण्य-पाप के जनक हैं । किन्तु समत्वयोग-द्वारा जो कर्म किये जाते हैं, उनसे न पाप होता है, न पुण्य । 'क्या वह कर्म निष्फल होते हैं ?' नहीं, क्योंकि समभावनापूर्वक किये गये कर्म 'सम'—ईश्वर—के निमित्त होते हैं । ईश्वरार्थ कर्मों का फल साधारण पुण्य या स्वर्गलोक का ऐश्वर्य नहीं, किन्तु उनका महान् फल होता है—अन्तःकरण की शुद्धि । क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध होने पर ज्ञानोदय होता है, ज्ञानोदय से पुण्य-पाप दोनों का परित्याग इसी जीवन में हो जाता है । कर्म-फल-त्याग होने पर मुक्ति अनिवार्य है, यही भगवान् कहते हैं :

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।

(गी० २।५१)

'—समत्त्व बुद्धियुक्त पुरुष कर्मजफलों को त्याग कर ज्ञानी होता है, ज्ञानी इसी जीवन में जन्म-मृत्यु-बन्धन से मुक्त होकर, दुःखरहित परम पद-पा लेते हैं ।'

योगयुक्त कर्म भी साक्षात् मुक्ति-प्रदायक नहीं हैं, किन्तु क्रमपूर्वक मुक्ति में हेतु हैं । मुक्ति अनुत्पाद्य है, नित्य है, प्राप्त है और अपना स्वरूप ही है । अज्ञान के कारण प्रतीति नहीं होती, अज्ञान-निवारण होने पर करामलकवत् प्रतीति होती है। अज्ञान-निवारण होता है एकमात्र ज्ञान से । ज्ञान किसी वस्तु का उत्पादक नहीं, केवल ज्ञापक है। मन्द अन्धकार में रस्सी सर्प प्रतीत होती है, प्रकाश-द्वारा अन्धकार-निवारण होने पर, रस्सी प्रतीत होने लगती है । प्रकाश से कोई नवीन वस्तु उत्पन्न नहीं हुई, अन्धकार-निवारण होने पर प्राचीन रस्सी का ही ज्ञान हुआ । इसी प्रकार ज्ञान-द्वारा अज्ञान-निवारण और आत्मस्वरूप मुक्ति का प्रकाशन मात्र होता है । किन्तु कर्म के फल हैं—उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य और विकार्य । मुक्ति इन चारों कोटियों से भिन्न नित्य सिद्ध है, अतः कर्म से मुक्ति प्राप्त नहीं होती । किन्तु कर्म परम्परा-सम्बन्ध से मुक्ति में सहायक हैं । जब फलाशारहित यानी 'ईश्वर प्रसन्न हों' या 'मुक्ति प्राप्त हो'—कामना से भी रहित कर्म किये जाते हैं और उनका 'योग' ईश्वर से होता है, तब इन कर्मों का फल होता है—अन्तःकरण की निर्मलता । निर्मल अन्तःकरण में महावाक्यजनित ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य-ज्ञान प्रकट होता है । ज्ञानाग्नि में अज्ञा-नान्धकार तथा तज्जनित सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं । जीवन काल में ही ज्ञानी पुरुष को मुक्ति की अनुभूति होती है । इसी प्रकार कर्मयोग से ज्ञान-प्राप्त करने का

क्रम है । गीता भी इसी तथ्य की ओर बार-बार ध्यान आकर्षित करती है । कुछ प्रमाण दृष्टव्य हैं :

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।

(गी० १८।५)

'--यज्ञ, दान तथा तप--ये तीनों कर्म बुद्धिमानों (फलकामनाशून्य पुरुषों) के विशुद्ध अन्तःकरण के हेतु हैं ।'

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।

(गी० ५।११)

'—योगी जन केवल ईश्वरार्थ कर्म देह से, मन से, बुद्धि से और इन्द्रियों से भी फलाशक्ति-त्याग कर अन्तःकरण-शुद्धि के लिये करते हैं ।' यज्ञादि से केवल बाह्य कर्म का कथन है, इसमें बाह्य एवं आन्तरिक सभी प्रकार के कर्मों का उपयोग अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कहा गया है ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

(गी० ६।३)

—'जो ध्यान-योग में स्थिति होने के इच्छुक पुरुष हैं, उनके लिये कर्मयोग साधन है ।' तात्पर्य कर्मयोग के अनुष्ठान-द्वारा जब मलिन अन्तःकरण किंचित् शुद्ध होता है, तब ध्यानयोग में स्थिति होने की योग्यता आती है । ध्यानयोग के लिये शुद्ध देश और स्थिर आसन की अपेक्षा है । शुद्ध देश तथा आसन पर स्थिति होकर मन तथा इन्द्रियों को वश में करे । किस लिये ?

युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।

(गी० ६।१२)

'--अन्तःकरण-शुद्धि के लिये योग का साधन करे ।' योग का लक्ष्य भी है --अन्तःकरण की विशुद्धि । क्योंकि जब तक अन्तःकरण वासना तथा वासनाजनित शुभाशुभ वृत्तियों से रहित नहीं होता, तब तक मन में एकाग्रता नहीं हो सकती

और बिना एकाग्रता के स्वरूप-दर्शन असम्भव है । जिन भक्तों का मन भगवान् में लगा है, इन्द्रियाँ भी भगवत्स्वरूप में लगी हैं और वाणी-द्वारा भी भगवान् के तत्त्व का वर्णन करते हैं, उनको भगवान् इसका फल देते हैं, बुद्धियोग **ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते (गी० १०।१०)** '–मैं वह सम्यग्दर्शनरूपा बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वह मुझे प्राप्त होते हैं' । निष्कर्ष यही, कि भक्तियोग से भी अन्तःकरण शुद्ध होने पर जब ज्ञान प्राप्त होता है, तभी परम शान्ति प्राप्त होती है । इन गीता के प्रमाणों से असंदिग्ध निश्चय होता है, कि कर्मयोग का फल चित्त शुद्ध होना ही है । गीता में ही नही, महाभारत तथा उपनिषदों में भी यही कहा है :

शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति ।।

(म०शा० २७०।३८)

'–कर्म स्थूल तथा सूक्ष्म देह की शुद्धि करनेवाले हैं, किन्तु ज्ञान परमगति है । जब कर्मों-द्वारा चित्त के रागादि दोष जल जाते हैं, तब मनुष्य रसस्वरूप ज्ञान में स्थिति हो जाता है ।'

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ।

(बृह ४।४।२२)

'––उस आत्मा को ब्राह्मण वेद के नित्य स्वाध्याय से, यज्ञ से, दान से तथा अनाशक तप से जानने की इच्छा करते हैं ।' चित्त-शुद्धि का हेतु संन्यास नहीं है । यदि बिना चित्त-शुद्धि के किसी ने संन्यास ले लिया, तो उसकी निष्कर्म भाव में स्थिति नहीं हो सकती । निष्कर्म भाव में स्थिति न होने से, संन्यास का कोई लाभ नहीं । क्योंकि, मोक्ष तो ज्ञान से होता है । इस लिये नैष्कर्म्य-स्थिति-प्राप्त करने के पहले कर्मानुष्ठान कर्तव्य है :

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।

(गी० ३। ४)

'--कर्मों का आरम्भ किये विना, मनुष्य निष्कर्म भाव को नहीं पाता और संन्यास से भी निष्कर्मतारूप सिद्धि नहीं मिलती।'

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

(गी० १८।४९)

'--जिसकी बुद्धि सर्वत्र आसक्तिरहित है, जो अन्तःकरण को वश में किये है और जिसकी तृष्णा नष्ट हो गयी है, वह संन्यास से सर्वश्रेष्ठ नैष्कर्म्य-सिद्धि-प्राप्त करता है।' तात्पर्य जब कर्मयोग से चित्त शुद्ध होता है, तब उस पुरुष की बुद्धि में स्त्री, पुत्र, धन, मानापमान तथा शरीर में आसक्ति नहीं रहती। अन्तःकरण के वश में वह नहीं रहता, स्वयं अन्तःकरण को अपने वश में रखता है और वैषयिक भोगों की तथा जीवित रहने की भी तृष्णा नही रहती। उस समय ज्ञान-द्वारा परम 'नैष्कर्म्य' अवस्था में स्थिति होती है। 'ब्रह्मात्मा ही निष्क्रिय है' —इस ज्ञान-द्वारा समस्त कर्म निवृत्त होने से, वह 'निष्कर्मा' है। उसके भाव का नाम 'नैष्कर्म्य' है। निष्क्रिय ब्रह्मात्मा में अवस्थिति होना ही 'नैष्कर्म्य - सिद्धि' है। तात्पर्य कर्मयोग से चित्त-शुद्धि, चित्त-शुद्धि से आसक्ति, ममता, तृष्णा आदि का अभाव, अनासक्ति से ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान से शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप ब्रह्मात्मा में अवस्थिति होती है।

'मैं ब्रह्म ही हूँ'--इस प्रकार एकत्वरूप से साक्षात् अनुभूति अत्यन्त कठिन है। इसलिये ज्ञानी पुरुषों की सजातीय-विजातीय, स्वगतभेदशून्य, सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, निर्गुण, निराकार, कूटस्थ, चेतन तत्त्व में जिनकी स्थिति है, वह तो ब्रह्मस्वरूप ही हैं। किन्तु अज्ञानी पुरुषों का भी परम कल्याण हो, इसीलिये भगवान् ने विविध प्रकार के साधनों का वर्णन किया है। गीता के बारहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं **अव्यक्ता हि गतिदुःखं देहवद्भिरवाप्यते'** (गी० १२।५) '—देहाभिमानी अज्ञानी पुरुषों को अव्यक्त भाव की प्राप्ति अत्यन्त कष्ट से होती है।' इसलिये :

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

(गी० १२।८)

'–तुम मुझ सगुण ईश्वर में ही मन को स्थापित करो और मुझमें हीं बुद्धि को स्थिर करो, शरीरान्त-होने पर मुझमें ही निवास करोगे, इसमें संशय नहीं ।' सगुण ईश्वर निराकारस्वरूप से, सम्पूर्ण विश्व में व्यापक हैं, वही विश्व निर्माता, पालक एवं विनाशक हैं । सम्पूर्ण प्राणियों के मुख ही उनके मुख हैं, बाहु, उदर, पैर आदि सब प्राणियों के उनके ही हैं । सूर्य-चन्द्र नेत्र हैं और इस स्वरूप का न आदि है, न अन्त । विश्वविराट् स्वरूप की मन, बुद्धि से निष्ठापूर्वक भक्ति करने से, अन्त समय ईश्वर को ही प्राप्त होता है । किन्तु इस महान् स्वरूप की उपासना करना भी अत्यन्त कठिन है । इसीलिये भगवान् विकल्प स्वरूप उससे निम्न स्तर का साधन बतलाते हैं :

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।।
(गी० १२।९)

'—धनंजय ! यदि तुम चित्त को मुझमें निश्चल स्थापित नहीं कर सकते, तो अभ्यासयोग से मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो ।' किसी बाह्य प्रतिमा आदि आलम्बन में मन-स्थिर करना अभ्यास है यानी भौतिक पदार्थ-वृत्ति का निरोध और ध्येयस्वरूप-वृत्तियों का निरन्तर प्रवाह 'अभ्यास' है । वैराग्यपूर्वक जब विजातीय प्रत्ययों का निरोध और सजातीय प्रत्ययों का निरन्तर प्रवाह होने लगता है, तब मन वासना रहित होकर स्थिर हो जाता है । इससे समाधि-सिद्धि होती है, इसीलिये इसे योग भी कहते हैं । इस 'अभ्यासयोग' के सिद्ध होने पर, सगुण ईश्वर की प्राप्ति और सगुण ईश्वर से निर्गुण ईश्वर की प्राप्ति का क्रम है । यदि यह भी साधन दुष्कर प्रतीत हो, तो :

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म परमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।।

(गी० १२।१०)

'—अभ्यास में भी यदि असमर्थ हो, तो मेरे लिये कर्म करने में तत्पर हो, मदर्थ कर्म करते हुए भी, तुम सिद्धिप्राप्त कर लोगे ।' अभ्यास आन्तरिक साधन है, किन्तु जो मनुष्य अतिमन्द बुद्धिवाले हैं, उनसे अभ्यास भी नहीं हो सकता । इसलिये उन्हें बाह्य साधन कर्तव्य हैं, जिस प्रकार सैनिक युद्धक्षेत्र में सब कर्म राजा के लिये

करता है अथवा व्यापारी का कर्मचारी सब कार्य अपने स्वामी के लिये करता है। व्यापार में हानि-लाभ से कोई सरोकार नहीं, क्योंकि उसके कर्म स्वामी के लिये होते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के निमित्त समस्त कर्म करने से, शुभाशुभ फलों का सम्बन्ध कर्ता से न होगा। इससे होगी चित्त-शुद्धि और चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञानरूपा सिद्धि-प्राप्ति होगी। किन्तु जो मनुष्य अत्यन्त मन्दबुद्धि हैं, उनसे यह साधन भी नहीं हो सकता। क्योंकि कर्म में कर्तृत्व और अहं-बुद्धि होने से, ईश्वरार्थ कर्म होना सम्भव नहीं। ऐसे मनुष्यों के लिये भगवान् और भी सरल साधन बतलाते हैं :

अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

(गी० १२।११)

'--यदि ऐसा करने में भी असमर्थ हो, तो मद्योग आश्रित होकर कर्म करो, संयतचित्त होकर सब कर्मों का फल त्याग करो।' जितने भी लौकिक-वैदिक कर्त्तव्य कर्म हैं, सब कर्मों को करने के अनन्तर, उन्हें ईश्वर के समर्पित कर देना 'मद्योग आश्रित' है। तात्पर्य सर्वकर्मसमर्पण यानी कर्मों का योग ईश्वर में करना। इस प्रकार कर्म-समर्पण से, सर्व कर्मों का फल भी त्याज्य हो जाता है। ईश्वर में सर्वकर्मसमर्पण करने से, परार्थ कर्म के समान उनके फल की कामना भी नहीं होती। अतः सर्व कर्म-फल-त्याग होने से, फल तथा कर्म में कर्तृत्व तथा अहं बुद्धि का अभाव हो जाता है। इससे चित्त राग-द्वेषरहित निर्मल और तुरन्त शान्त हो जाता है। इस प्रकार अत्यन्त मूढ व्यक्ति भी मुक्ति-पा लेता है। सबका निष्कर्ष यह है, कि ईश्वर-समर्पित कर्म मुक्ति का प्रथम सोपान, ईश्वरार्थ-कर्म दूसरा सोपान, अभ्यासयोग तीसरा सोपान, सगुण ईश्वर में अनन्ययोग चतुर्थ सोपानऔर निर्गुण ईश्वर में ऐकात्म्य-ज्ञानयोग-मुक्ति का पंचम सोपान है। प्रथम सोपान साधन और द्वितीय साध्य होता है। इसी प्रकार अन्तिम सोपान—ज्ञान—ही सबका साध्य है और ज्ञान से मुक्ति सिद्ध ही है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म में साध्यसाधन-सम्बन्ध स्थिर है।

कुछ विद्वानों का मत है—'गीता में कर्म, भक्ति, योग तथा ज्ञान—ये सब स्वतन्त्र साधन हैं। किसी एक के अनुष्ठान से मुक्ति प्राप्त होती है। इसलिये यह आवश्यक नहीं, कि एक के पश्चात् दूसरे का अनुष्ठान हो और दूसरे के अनन्तर तीसरे का।' प्रमाण स्वरूप गीता के वचन उपस्थापित करते हैं :

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वामनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(गी० २।५१)

'—समत्वबुद्धियुक्त बुद्धिमान् पुरुष कर्मज फलों का त्याग कर, जन्म-बन्धन से मुक्त हो, दुःखरहित परम पद-पा लेते हैं ।' इसमें कर्मयोगी के लिये कर्मानुष्ठान-मात्र से मुक्ति-पाने का उल्लेख है ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
(गी० ८।१३)

'—ओम् इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा चिन्तन करता हुआ, जो मरता है, वह शरीर-त्याग कर परम गति-पाता है ।' इसमें योगी के लिये परम गति-पाने का वर्णन है । भक्त के लिये भगवान् कहते हैं :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(गी० ९।३४)

'—तुम मुझमें मनवाले हो, मेरी भक्ति करो, मेरा ही पूजन और मुझे ही नमस्कार करो, इस प्रकार मुझमें चित्त लगाकर, मेरे परायण हुये तुम मुझ आत्मा को ही प्राप्त हो जाओगे ।' भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति इसमें स्वतंत्र रीति से कही गई है । इसी प्रकार ज्ञान से भी मुक्ति का प्रसंग है:

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥
(गी० ५।२०)

'—प्रिय वस्तु को पाकर जो हर्षित नहीं होता तथा अप्रिय पदार्थ में उद्वेग नहीं करता एवं जो स्थिर बुद्धि तथा मोहरहित है, वह ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में ही स्थित है ।' इस प्रकार गीता में चारों स्वतन्त्र मुक्ति के साधन हैं, इनमें साध्य-साधन-सम्बन्ध नहीं है ।'

किन्तु, इस प्रकार की मान्यता शास्त्र-परम्परा-विरुद्ध है, गीता भी शास्त्र-परम्परा की एक कड़ी है, अतः उपनिषदादिशास्त्र के विरुद्ध गीता नहींहो सकती । 'उपनिषदों' में स्पष्ट कहा है, कि कर्म से मोक्ष नहीं होता, एक मात्र ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है । कुछ प्रमाण दृष्टव्य हैं :

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः ।

(कैवल्यो० ३)

'—न कर्म से मोक्ष प्राप्त होता है, न संतान से और न धन से ही, किसी एक ने त्याग से ही अमरत्व प्राप्त किया है ।'

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ।।

(मु० उ० १।२।७)

'—जिनमें (ज्ञान की अपेक्षा) निकृष्ट कर्म आश्रित कहा गया है, वे (सोलह ऋत्विक्, यजमान तथा यजमानपत्नी) ये अठारह यज्ञरूप (यज्ञ के साधन) अस्थिर एवं नाशवान् कहे गये हैं । जो मूढ 'यहीं श्रेय है' इस प्रकार इनका अभिनन्दन करते हैं, वे पुनः-पुनः जन्म-मरण को प्राप्त होते रहते हैं ।'

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

(श्वे० उ० ६।१५)

'—उस (ब्रह्म) को जान कर पुरुष मृत्यु से पार हो जाता है । इससे भिन्न मोक्ष-प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है ।'

तमेवं विद्वानमृत इह भवति ।

(नृसिंह पूर्व० १।६)

'—उसको ही जानने वाला पुरुष इस लोक में अमर होता है ।' इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट उपनिषदों में कर्म से बन्धन और एक मात्र ज्ञान से ही, मोक्ष कहा । 'महाभारत' में भी यही कहा है :

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।।

(म० शा० २४१।७)

'—जीव कर्म से बँधता है और ज्ञान से मुक्त होता है। इसलिये पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते।' ईशावास्योपनिषद में आया है :

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ।।

(ईशा० ९)

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

(ईशा० ११)

'—जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या (उपासना) में हीरत हैं, वे मानों उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।' 'जो विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ ही जानता है, वह अविद्या से मृत्यु पार-कर विद्या से अमरत्व प्राप्त कर लेता है।' इसमें केवल कर्म की निन्दा की गई है, क्योंकि कर्म में वैगुण्य दोष से अनिष्ट की सम्भावना रहती है और कर्म जड भी हैं, बिना चेतन फलदाता के कर्म का फल मिल ही नहीं सकता। यहाँ विद्या से उपासना—देवताज्ञान—का ही ग्रहण किया गया है, क्योंकि ज्ञान तो निरपेक्ष मोक्ष का साधन है। जो कर्म-त्याग कर केवल उपासना में ही रत हैं, वह कर्मभ्रष्ट होने से पतित हैं और कल्पित उपासना से अहं की वृद्धि होती है इससे वह और भी निन्दनीय हैं। वस्तुतः जो कर्म तथा उपासना दोनों का एक साथ अनुष्ठान करते हैं, वह कर्म-बन्धन से तर कर, देवात्मभाव को प्राप्त होते हैं। यहाँ पर कर्म-उपासना का समुच्चयरूप से विधान है। यही शास्त्रीय मार्ग है। गीता में भी इसी मार्ग का अनुसरण किया गया है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः (गी० ३।९)'—ईश्वरार्थ कर्म से अन्य कर्म बन्धनकारक होते हैं।' इसीलिये अपने निमित्त कर्म बन्धनकारी कहे गये हैं। गीता में 'कर्मयोग', 'कर्मफलसमर्पण', 'कर्मसमर्पण' तथा 'अभ्यासयोग'

आदि का तात्पर्य यही है, कि ईश्वर में भक्ति और कर्म का समन्वय करते हुये जीवन-यापन करना चाहिये। कहीं पर कर्म प्रधान तथा भक्ति का स्थान गौण है, कहीं भक्ति प्रधान तथा कर्म गौण कहे गये हैं और कहीं पर कर्म तथा भक्ति समान रूप से माने गये हैं। यह मनुष्य के स्तर के अनुसार कहा गया है। भगवान् का कथन है :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(गी० ९।२७)

'–कौन्तेय ! तुम जो कर्म करते हो, जो खाते, जो हवन करते, जो दान देते और जो तप करते हो, वह सब मेरे अर्पण करो।'

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामिवैष्यस्यसंशयः ॥

(गी० ८।७)

'—इसलिये तुम मुझमें मन तथा बुद्धि को अर्पण कर, सब समय मेरा स्मरण करो और युद्ध करो, ऐसा करने से निस्संदेह मुझको ही प्राप्त हो जाओगे।' स्मरण भक्ति और युद्ध कर्म है, दोनों के साथ-साथ अनुष्ठान का निर्देश है। किन्तु ज्ञान का स्वतन्त्र विधान है :

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

(गी० १३।३०)

'—जिस समय भूतों के पृथक्-पृथक् भावों को एक आत्मा में ही देखता है और आत्मा से ही सारा विस्तार देखता है, उस समय ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।'

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रयः ॥

(गी० ३।१८)

'—उस आत्मक्रीड पुरुष का कर्म करने से या न करने से कोई प्रयोजन नहीं है और ब्रह्मादि से स्थावर-पर्यन्त सभी भूतों में किसी का भी आश्रय नहीं लेता।' इस प्रकार ज्ञानसम्पन्न पुरुष के लिये कर्मादि का सर्वथा अभाव कहा गया है। **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्** (गी० ७।१८) '—ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, यह मेरा निश्चय है'। तत्त्वज्ञानी पुरुष की आत्मा और ईश्वर की आत्मा में किंचित् भेद नहीं है। ज्ञानी की आत्मा ईश्वर की है और ईश्वर की आत्मा ज्ञानी की। ज्ञानी आत्मा में स्थित रहता है, उसे कर्मादि की अपेक्षा नहीं और अज्ञानी आत्मा को नहीं जानता तथा ईश्वर को भिन्न समझता है, इसलिये उसे कर्म तथा भक्ति की अपेक्षा है। ईश्वर में भक्तिपूर्वक कर्म समर्पण करने से, अज्ञानजनित राग-द्वेष के संस्कारों का प्रक्षालन हो जाता है, तब शुद्ध चित्त में ईश्वर, जीव तथा जगत् का विवेक होता है। **ददामि बुद्धियोगं तम्** (गी० १०।१०) '—वह समयग्दर्शनरूपा बुद्धियोग देता हूँ', यही विवेक है। इसके उदय होने पर अज्ञान तथा अज्ञान-कार्य विनष्ट हो जाता है। तब मुक्ति करामलकवत् प्रतीति होती है। कर्म, भक्ति तथा योग का फल चित्त-शुद्धि ही गीता में स्थान-स्थान पर कहा गया है। जहाँ कर्म से मुक्ति कही गई है, वहाँ पर यही तात्पर्य है कि चित्त-शुद्धि पूर्वक ज्ञान - द्वारा मुक्ति होती है। भक्ति या योग की भी यही स्थिति है। यदि ज्ञानोत्पन्न न हुआ हो और मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, तो कर्मयोगी स्वर्ग-सुख भोगने के उपरान्त पुनः जन्म लेता है। यदि सुखोपभोग की इच्छा होती है, तो श्रीमान् कुल में जन्म होता है और पुनः कर्मयोग में लगता है। यदि वैराग्यशील है, तो निर्धन कुल में, किन्तु योगी के यहाँ जन्म लेता है और पूर्व जन्म के संस्कारानुसार आगे कर्मयोग में प्रवृत्त होता है। धनवान् के यहाँ जन्म लेने वाले से, योगी के यहाँ जन्म लेने वाला शीघ्र ही मुक्ति का पात्र बनता है। भक्त या योगाभ्यासी पुरुष अपने इष्टदेव के लोक जाता है और वहीं ज्ञान - द्वारा मुक्ति का भागी होता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। ज्ञानी पुरुष का तो ज्ञानकाल में ही मोक्ष होना सिद्ध है, मृत्यु के उपरान्त उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, क्योंकि कोई भी कारण शेष नहीं रहते।

जो मनुष्य प्राकृत कर्म में रत हैं, वे मृत्यु के उपरान्त कर्मानुसार विविध योनियों में जन्म पाते हैं। अत्यन्त पापाचारी, स्वार्थी तथा परपीडक व्यक्ति रौरव आदि नरकों में कर्म-फल भोगते हैं। रक्त, मांस, पीव, मल-मूत्रादि के मध्य कठोर यातना उन्हें मिलती है। अनेक वर्ष पर्यन्त नरक-यातना के उपरान्त जघन्य कीट, पतंग, सर्प, व्याघ्रादि योनियों में जन्म होता है। जिन पुरुषों के शुभाशुभ कर्म

समान हैं, वे मनुष्य-योनि में जन्म पाते हैं और जिनके पुण्यमय कर्म अधिक हैं, वह देवलोकादि में सुखोपभोग करते हैं। पुण्य-क्षीण होने पर पुनः कर्म के लिये मानव-योनि मिलती है। इस प्रकार अज्ञानी पुरुष कर्म-सूत्र में आबद्ध कभी नीचे जाता है, कभी ऊपर। इस तथ्य का गीता में अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है :

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

(गी० १४।१८)

'—सात्त्विकभाव में स्थित पुरुष ऊर्ध्व (देवलोक) में जाते हैं, राजस मध्य—मनुष्य लोक—में और जघन्यगुण तामस में स्थित अधः—नरक तथा पशु आदि—में उत्पन्न होते हैं।'

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ ॥

(गी० १६।१६)

'—अनेक प्रकार के विचारों से भ्रान्त, अविवेकजालग्रसित तथा विषय-भोगों में आसक्त मनुष्य अशुद्ध रौरव आदि नरकों में गिरते हैं।' प्रत्येक कर्म का फलोपभोग अवश्यम्भावी है, किन्तु ईश्वरार्थ कर्म से बन्धन नहीं होता। वह कर्म मुक्ति की ओर अग्रसर होते हैं, ईश्वर-भक्ति तथा ज्ञान-द्वारा उनका पर्यवसान मुक्ति में ही होता है। अतः कर्म का परम्परा-द्वारा मोक्ष में विनियोग सिद्ध है।

कर्मयोग के जितने भी स्तर हैं, उनमें 'समत्त्वयोग' सबसे श्रेष्ठ है। आत्मा या ब्रह्म सम है और समभाव में स्थित होना 'समत्त्वयोग' है यानी आत्माकाराकारित मानसिक वृत्ति 'योग' है और 'मैं ब्रह्मात्मा हूँ'—यह 'ज्ञान' है। आत्माकाराकारित वृत्ति का निरन्तर तैलधारावत् प्रवाहित होना 'ज्ञानयोग' है। इसके लिये आवश्यक है प्रथम आत्म-ज्ञान-श्रवण की। क्योंकि नाशवान् तथा परिवर्तनशील देह में आत्माभिमान होने से, 'मैं शरीर हूँ', 'गोरा हूँ', सुखी-दुःखी हूँ' एवं 'यह कर्म किया, यह करूँगा और उत्तम फल भोगूँगा' आदि भावना दृढ़ हो जाती है। पुरुष स्वयं शरीर-रहित, वर्ण, जाति, सुख-दुःख, क्रिया, कर्म तथा फल से असंस्पृष्ट है। वह नित्य, ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है, साक्षी मात्र है, सर्वगत, स्थाणु, अचल

और सनातन है। उसमें न भाव है, न अभाव, इसलिये 'सम' तथा एक है। शरीर विषम, अनेक, क्षुधा-पिपासा, सुख-दुःख एवं जन्म-मरणशील हैं। स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर दृश्य हैं, आत्मा दृष्टा । इसलिये शरीर से आत्मा पृथक् है। इस विवेक-द्वारा शरीर से आत्मभावना निवृत्त हो, अपने स्वरूप में स्थित होती है, तभी मुक्ति सम्भव है। किन्तु यह आत्मतत्त्व सूक्ष्म, दुर्विज्ञेय एवं प्राणी का स्वरूप है। अतः इसके विज्ञान के लिये आवश्यक है अत्यन्त सूक्ष्म तथा निर्मल बुद्धि की। क्योंकि आत्मा आकाश से भी सूक्ष्म, निर्मल, अखण्ड तथा अनन्त है। जब बुद्धि भी इसी प्रकार की होगी, तभी आत्म-दर्शन सम्भव है। जब तक वासना, वासनाजनित राग-द्वेष, कामना, कर्म तथा सुखोपभोग से पुरुष ऊपर नहीं उठता, तब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता, न बुद्धि ही सूक्ष्म तथा स्थिर हो सकती है। 'बुद्धि सूक्ष्म तथा स्थिर कैसे हो' ? इसके लिये आवश्यकता है, अभ्यास और वैराग्य की। अभ्यास तथा वैराग्य भी अत्यन्त कठिन हैं, सर्वसाधारण की गति इसमें नहीं। साधारण पुरुष शरीरादि से कर्म करने का अभ्यासी है और कर्मफलोपभोग के लिये करता है। इस स्थिति से एकदम उलटा कर्म-रहित, शान्त तथा विषयोपभोग रहित होना असम्भव है। अतः ऐसे पुरुष के लिये गीता उसके अनुरूप मार्ग बतलाती है, भगवान् कहते हैं :

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

(गी० २।४८)

'—धनंजय ! योग में स्थित होकर कर्म करो, आशा का परित्याग कर तथा सिद्धि-असिद्धि में सम होकर कर्म करो, क्योंकि समता को ही 'योग' कहा जाता है।' तात्पर्य कर्म करो, उससे प्राप्त विषयों का सेवन भी करो, किन्तु कर्म फल में आसक्त मत हो और कर्म में सफलता हो या विफलता, इससे बुद्धि विचलित न हो। सफलता में हर्षित न हो तथा विफलता में दुःखित न हो, दोनों स्थितियों में बुद्धि समभाव में ही रहे। सफलता-विफलता तथा दुःख-सुख सभी प्रारब्धानुसार शरीर में आते-जाते रहते हैं, क्योंकि यह शरीर के धर्म हैं। इनके आने-जाने में भी बुद्धि बिचलित न हो। सदैव विवेक जाग्रत रहना चाहिये कि 'आत्मा एकरूप, सम, शान्त, अद्वितीय तथा नित्य है', तब विचलित तथा दुःखी होने का कोई कारण ही नहीं रहता। बुद्धिवृत्ति कर्म के फलाफल में सम हो जाती है। जब कर्म का कारण 'कामना' तथा कर्म का कार्य 'फल' इन दोनों में बुद्धि निर्विकार समभाव से स्थित

रहती है, तब कर्म निर्बीज हो जाता है। कामना में समत्व और फल में समत्व होने से मध्यकर्म भी समत्व की कड़ी से बँध जाता है। फिर कर्म भी समदृष्टि से ही होने लगते हैं। सम की भावना इतनी प्रबल हो जाती है, कि फिर सभी कर्म सममय ही दृष्टिगोचर होते हैं। तभी उसकी दृष्टि में :

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

(गी० ४।२४)

'–हवन के स्रुक् आदि ब्रह्म हैं, हवि ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है, कर्ता ब्रह्म है, हवनक्रिया ब्रह्म है, और ब्रह्मरूप कर्म में जिसका चित्त समाहित हो चुका है उसके द्वारा प्राप्तव्य फल भी ब्रह्म ही है।' सम ब्रह्मात्ममय बुद्धि होने से सब ब्रह्ममय ही दृष्टिगोचर होता है। ज्ञान की स्थिति आने पर, सम्पूर्ण अज्ञानजनित कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं। कामना तथा वैषयिक भोगों की आकांक्षा नहीं रहती एवं कर्म करते हुए भी अकर्ता ही होता है। ऐसा पुरुष कुछ कर्म करे या न करे, उसे बन्धन नहीं होता। क्योंकि वह आत्मज्ञान में स्थित है और आत्मामुक्त है, अतः वह पुरुष भी मुक्त ही है। इस प्रकार समत्वयोग मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

———

कर्माकर्म-दर्शन एवं ज्ञानोत्तर कर्म

गीता ने कर्म के सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया है—कर्माकर्म-दर्शन। 'जो किया जाता है, वह कर्म'—यह कर्म की सामान्य परिभाषा है। किन्तु भगवान् कर्म को इतना सरल नहीं समझते, उनका कहना है :

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।

(गी० ४।१६-१७)

'—कर्म क्या है और अकर्म क्या है ? इसके निर्णय में बड़े विद्वान् भी मोहित हो चुके हैं, इस लिए मैं तुमसे कर्माकर्म का रहस्य बतलाऊँगा, जिसे जान कर तुम भी संसार से मुक्त हो जाओगे।' 'कर्म का रहस्य जानना चाहिए, विकर्म और अकर्म का भी रहस्य जानना कर्तव्य है, क्योंकि कर्मादि की गति तथा स्वरूप अत्यन्त गहन है।' कर्माकर्म-दर्शन साधारण नेत्रादि का विषय नहीं है, ज्ञानसम्पन्न पुरुष ही इसे ज्ञान-दृष्टि से देख सकते हैं। ज्ञानी पुरुष कर्माकर्म-दर्शन कैसे करते हैं, यही भगवान् कहते हैं :

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत ।।
(गी० ४।१८)

'—कर्म में जो अकर्म देखता है और अकर्म में जो कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह योगी है और सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता है ।' शास्त्रोक्त कर्तव्य कर्म की संज्ञा 'कर्म' है, अकर्तव्य कर्म 'विकर्म' और कुछ न करना 'अकर्म' है । कर्म करना, न करना या विपरीत कर्म करना कर्ता के अधीन है, किन्तु कर्म-फल कर्ता के अधीन नहीं ! यहाँ कर्म करने का प्रसंग नहीं, वास्तविक कर्म-अकर्म-दर्शन का प्रसंग है । कर्म को स्वरूपतः जान कर और अकर्म को भी जान कर, कर्म में अकर्म-दर्शन तथा अकर्म में कर्म-दर्शन करना चाहिये । इस प्रकार दर्शन करने वाला पुरुष ही बुद्धिमान्, योगी और सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता है, तात्त्विक दृष्टि-द्वारा दो ही तत्त्व दिखाई पड़ते हैं—आत्मा और प्रकृति । व्यष्टि-दृष्टि से देह, इन्द्रिय तथा अन्तः-करण प्रकृति के कार्य हैं और इनका संचालक, साक्षी, अधिष्ठान आत्मा है, समष्टि-दृष्टि से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल, पृथिवी आदि सम्पूर्ण विश्व प्रकृति के कार्य हैं और इनका अधिष्ठान तथा प्रेरक ब्रह्म [आत्मा] है । आत्मा नित्य, चेतन, अखण्ड तथा अक्रिय है और प्रकृति अनित्य, जड, अपूर्ण तथा सक्रिय । तात्पर्य प्रकृति-द्वारा ही सम्पूर्ण कर्म होते हैं, इसलिये प्रकृतिही 'कर्म' है । आत्मा कूट के समान निष्क्रिय है, इसलिये 'अकर्म' कहा जाता है ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।।
(गी० १३।२९)

'—प्रकृति-द्वारा शरीर, इन्द्रिय तथा मानसिक सब कर्म सम्पादित होते जो देखता है, और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही परमार्थदर्शी है ।' आत्मा आकाश-वत् सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, निर्गुण, निराकार, निर्विशेष एवं अकर्मस्वरूप है । आत्मा में ही मरु-मरीचिका—जल के समान त्रिगुणात्मिका प्रकृति है । प्रकृति ही महत्तत्व आदि कार्य-कारण रूप में परिणत होती है, वही शरीरेन्द्रिय रूप में है और शब्दादि रूप में भी । शरीर-द्वारा विषयोपभोग तथा अन्य सभी कर्माकर्म प्रकृति-द्वारा, प्रकृति में ही निष्पन्न होते हैं, अतः प्रकृति ही 'कर्म' है । निष्क्रिय यानी

अकर्म आत्मा में प्रकृति तथा उसके सब कार्य हैं और प्रकृति कर्म में अकर्म आत्मा है। जिस प्रकार आकाश में घट, मठ हैं और घट, मठ में आकाश है, उसी प्रकार अकर्म आत्मा में कर्म प्रकृति है और कर्म प्रकृति में अकर्म आत्मा। इस प्रकार आत्मा तथा प्रकृति को अभिन्न यानी अधिष्ठान आत्मा में कल्पित प्रकृति को जान कर, आत्मा में प्रकृति-दर्शन और प्रकृति में आत्म-दर्शन कर्तव्य है। इसी अर्थ के प्रकाशक गीता में अनेक श्लोक हैं, यथा :

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गी० ६।३०)

'—जो मुझको [आत्म स्वरूप ईश्वर को] सर्वत्र [सब भूतों में] देखता है और मुझ [अधिष्ठान आत्मा] में सम्पूर्ण संसार को देखता है, उसके लिये मैं कभी अप्रत्यक्ष नहीं होता और वह भी मुझसे परोक्ष नहीं होता।' यह अभेद-दर्शन ही तात्त्विक दर्शन है। यहाँ पर 'मां' शब्द और उपर्युक्त श्लोक में 'अकर्म' शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं एवं 'सर्वत्र' तथा 'कर्म' की एकता है।

अज्ञानी पुरुष आत्मा तथा प्राकृतिक देहादि के भेद न जान कर, देहादि को आत्मा मान लेता है, तभी 'मैं जाता हूँ', 'मैं देखता हूँ', 'मैं सुखी-दुःखी हूँ' आदि भावना तथा कर्म करता है। किन्तु ज्ञानी पुरुष अपने आत्म-स्वरूप को अकर्ता और देहादि को कर्ता देखते हैं। अज्ञानी पुरुष चुपचाप ठूँठ के समान स्थित होकर समझता है, कि 'मैं अकर्ता हूँ, क्योंकि कुछ भी नहीं करता हूँ।' किन्तु चुपचाप बैठने की क्रिया विद्यमान है, यदि स्थित होने की क्रिया न हो, तो स्थिति सम्भव ही नहीं। 'मैं अकर्ता हूँ और कुछ भी नहीं करता' यह भी मानसिक क्रिया है, अतः अज्ञानी पुरुष के अकर्म भी वास्तव में कर्म ही हैं। क्योंकि जहाँ तक कर्म करने या न करने का सम्बन्ध है, वह शरीर में ही है, अतः अकर्म का अभिमान मिथ्या है। किन्तु आत्मज्ञ पुरुष आत्मा को ही अपना स्वरूप जानता है और आत्मा अकर्म है। प्राकृतिक देह अनात्मा तथा कर्मरूप है, अतः उसे कर्मरूप देखता है। अधिष्ठान आत्मा और अधिष्ठित शरीर को देखना ही अकर्म में कर्म-दर्शन है। इसी प्रकार शरीर और शरीर में व्यापक आत्म-दर्शन कर्म में अकर्म-दर्शन है। यही वास्तविक दर्शन है और यही ज्ञान। पुरुष ज्ञानावस्थित सम्पूर्ण कर्म करते हुये भी, अकर्ता है। गीता का कथन है :

यस्य सर्वे समारम्भ कामसंकल्पवर्जिता: ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु: पण्डितं बुधा: ॥
त्यक्त्वा कर्म फलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रय: ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति स: ॥

(गी० ४।१९-२०)

'—जिसके सम्पूर्ण कर्म कामना तथा संकल्प-रहित हैं एवं कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म-दर्शनरूप ज्ञानाग्नि से सम्पूर्ण कर्म दग्ध हो गये हैं, ऐसे पुरुष को ब्रह्मवेत्ता 'पंडित' कहते हैं'। 'ज्ञान के प्रभाव से कर्म में फलासक्ति-त्याग कर, नित्य आत्मा में तृप्त तथा निराश्रय यानी अधिष्ठान-रहित है, वह कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी, वास्तव में कुछ नहीं करता।'

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

(गी० ५।८-९)

'—प्रज्ञायुक्त तत्त्ववित् पुरुष विषयों में इन्द्रियाँ ही प्रवृत्त होती हैं यह निश्चय कर देखता सुनता, स्पर्श करता, सूँघता खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्याग करता, ग्रहण करता तथा नेत्रों को खोलता-मूँदता हुआ भी, मैं कुछ नहीं करता हूँ—ऐसा माने।' इस प्रकार कर्म में अकर्म-दर्शन और अकर्म में कर्म-दर्शनवान् पुरुष ही बुद्धिमान्—आत्मतत्त्वज्ञ है, वही योगी है और समस्त श्रौत-स्मार्त तथा अन्य पुण्य-कर्म का कर्ता है।' श्रुति का कथन भी है :

यथा कृताय विजितायाधरेया: संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति
यत्किंच प्रजा: साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद ।

(छा० उ० ४।१।६)

'—जैसे कृत नामक चार अंक वाले पासे के विजित करने पर, अन्य एक, दो, तीन अंक वाले पासे भी विजित हो, प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही प्रजा जो कुछ

साधु कर्म करती है, वह सब इसे प्राप्त हो जाता है, जो उसको जानता है, जिसको वह जानता है।' तात्पर्य सर्वात्मस्वरूप होने से, समस्त लोगों-द्वारा किये कर्म इसके कर्म होते हैं, अतः सम्पूर्ण कर्म का कर्ता है । किन्तु तत्त्वतः अकर्ता ही है । ऐसे ज्ञानी पुरुष के कर्म लोकसंग्रहार्थ होते हैं ।

जो पुरुष उपर्युक्त कर्माकर्म-दर्शन से भिन्न कर्मयोग में स्थित हैं, वह भी कर्मज फलों से असंसक्त रहते हैं । क्योंकि समत्त्वयोगपूर्वक कर्म करने से न फल में राग होता है, न द्वेष। इससे वैषयिक भोगों की वासना धुल जाती है, वासना-नाश से वैराग्य होता है, वैराग्य से अन्तःकरण अचञ्चल होकर, आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है । तब आत्म-दर्शन होता है, अनन्तर कृतकृत्यता होती है । कर्मयोग से, ज्ञानयोग में जाने का यही क्रम है :

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

(गी० २।५२-५३)

'—जब तुम्हारी बुद्धि मोह—अविवेक—कालिमा का परित्याग करेगी, तब तुम्हें सुनने से तथा सुने हुए से, वैराग्य प्राप्त होगा ।' 'श्रुतियों से विक्षिप्त तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल होकर समाधि—आत्मा—में स्थिर हो जायगी, तब तुम योग को पा जाओगे ।' तात्पर्य अन्तःकरण विषय-वासना-शून्य होने पर, वृत्ति-रहित होता है । उस स्थिति में अन्तःकरण स्वाभाविक आत्मा में स्थित होकर आत्माकार होता है । समुद्र में तरंग शांत जल से भिन्न-सी प्रतीत होती है, किन्तु तरंग शान्त होने पर, शान्त सागर में स्थित होकर, सागर-स्वरूप ही हो जाती हैं । इसी प्रकार आत्म-सागर में मन तरंग है, विषयवासना के पवन-वेग से, कभी इधर तरंगित होता है, कभी उधर । जब वासना-वायु शान्त हो जाती है, तब मन भी निस्तरंग होकर आत्मसागर ही हो जाता है । यही ज्ञानयोग है । ज्ञानाग्नि उत्पन्न होने पर, सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं, फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता । इसी स्थिति का वर्णन भगवान् करते हैं :

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
(गी० २।५५)

'—पार्थ ! जब मनुष्य मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं का परित्याग कर देता है और अपने स्वरूप में सन्तुष्ट रहता है, तब उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं।' इस स्थिति में परम तृप्ति तथा अनुपम आनन्दानुभूति होती है। जिस आनन्द के एक बिन्दु से सम्पूर्ण विश्व आनन्दित हो रहा है, वह परिपूर्ण अखण्ड, अनन्त, आनन्द ज्ञानसम्पन्न पुरुष को प्राप्त होता है। 'सम्प्रज्ञात' समाधि मे आनन्दानुभूति होती है और 'असम्प्रज्ञात' समाधि में मानसिक वृत्ति आत्मा में लीन–एकाकार–हो जाने से, अनुभुति का अभाव-सा होता है। क्योंकि उस स्थिति में ज्ञाता तथा ज्ञान दोनों ही ज्ञेयाकार हो जाते हैं। तब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। ऐसी स्थिति में कौन ? किससे ? क्या जाने ? तथापि व्युत्थान होने पर आत्मानन्दानुभूति की स्मृति होती है। 'इतने समय तक समाधि में था'–यह स्मृति होती है। स्मृति अनुभव की ही होती है। ऐसे महाभागी पुरुष कृतकृत्य हो जाते हैं, क्योंकि **'तस्य कार्यं न विद्यते'** [गी० ३/१७] '—आत्मवित् पुरुष के लिये संसार में कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता।' उनकी कर्तव्याकर्तव्य से ऊपर स्थिति होती है, उन पर पारिवारिक, सामाजिक, दैशिक एवं शास्त्रीय कर्तव्य आदि का अनुशासन नहीं होता। ऐसे पुरुष प्रायः संन्यास लेकर विचरण करते हैं। गीता में कहा है :

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः सः शान्तिमधिगच्छति ॥
(गी० २।७१)

'—आत्मज्ञ पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं का परित्याग कर, विचरण करता है, निःस्पृह,निर्मम तथा निरहंकार होता है, वह मुक्त होने पर भी, मुक्ति–शान्ति-प्राप्त करता है।'

किन्तु जो पुरुष संन्यास-मार्गानुगामी नहीं होते, वह गृहस्थ-जीवन ही व्यतीत करते हैं। 'लोक-संग्रह' के निमित्त नित्य, नैमित्तिक कर्म करते रहते हैं। क्योंकि जनसामान्य की प्रवृत्ति उन्मार्गगामिनी होती है, कञ्चन-कामिनी आदि विषयों में स्वाभाविक रुचि होती है। इससे पतन का पथ प्रशस्त होता है। ऐसे लोगों के

लिये ज्ञानी के आचरण आदर्श होते हैं। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष के आचरण का अनुकरण सामान्य जन करते हैं :

यद्यदाचरतिश्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गी० ३।२१)

'—प्रधान पुरुष जो-जो कर्म करते हैं, साधारण जन उस-उस कर्म का ही आचरण करते हैं, वह जिस कर्म को प्रामाणिक मानता है, लोग उसी को प्रमाण मान कर आचरण करते हैं।' इसी कारण तत्त्वज्ञानी पुरुष कर्म में प्रवृत्त होते हैं। स्वयं भगवान् अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
(गी० ३।२२)

'—पार्थ ! तीनों लोकों में मेरा कोई कर्तव्य नहीं है, क्योंकि मुझे कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी है, तथापि मैं कर्म का आचरण करता ही हूँ।' वस्तुतः चिन्मय, अद्वय, निर्विकार, निराकार, निर्गुण, परब्रह्म परमात्मा का अवतरण शिक्षा के लिये ही होता है। शास्त्र-प्रतिपादित शुद्धाचरण देख कर, अन्य लोग भी वैसा ही आचरण कर, परमगति-प्राप्त करते हैं। 'भागवत' में कहा है :

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतः प्रभो ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥

'—प्राणिमात्र के कल्याण-निमित्त अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण, गुणान्तरात्मा भगवान् साकार स्वरूप में प्रकट होते है।' जब लोक-शिक्षण के लिये निर्गुण, निराकार परब्रह्म भी सगुण, साकार रूप धारण करते हैं, तब परब्रह्म से अभिन्नात्मा ज्ञानी का भी उद्देश्य, यही लोक-शिक्षण होता है। फलाकांक्षारहित लोक-संग्रह के लिये कर्म कर्तव्य हैं, यही भगवान् का कहना है :

सक्ताःकर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
(गी० ३।२५)

'—भारत ! फलासक्त होकर जैसे अज्ञानी पुरुष कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानी को आसक्तिरहित लोक-संग्रह की इच्छा से कर्म करना चाहिये ।' अज्ञानी पुरुष की धारणा होती है–'मैं कर्म करता हूँ, फल भोगूँगा ।' किन्तु ज्ञानी की धारणा होती है–'न मैं कुछ करता हूँ, न भोगता हूँ ।' ज्ञानी की दृष्टि में सम्पूर्ण कर्म प्राकृतिक गुणों-द्वारा ही होते हैं, आत्मा कुछ नहीं करता । इसी कारण कर्म करने पर न आसक्त होता है, न बन्धन में पड़ता है । भगवान् का कथन है :

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥
(गी० ३।२८)

'—महाबाहो ! गुणविभाग तथा कर्मविभाग का ज्ञाता तत्त्ववेत्ता जानता है, कि गुण-गुणों में वर्तन कर रहे हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता ।' गुण-कर्म-विभाग तथा गुण गुणों में किस प्रकार वर्तते हैं, इस पर एक दृष्टि डालना समुचित है । त्रिगुणात्मिका माया के सत्त्व, रज तथा तम गुणों से आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं भूमि का निर्माण होता है । गुण ही पञ्चमहाभूतों में परिणत होते हैं, इसलिये कारण के धर्म कार्य में भी होते हैं । आकाशादि पञ्चमहाभूतों में सत्त्व, रज तथा तमोगुण विद्यमान हैं । आकाशादि पञ्चमहाभूतों के सत्त्वांश एक में मिलकर, अन्तःकरण-रूप में परिणत होते हैं । पाँचों के सत्त्वांश होने से, अन्तःकरण पञ्चधा विभक्त होता है—ज्ञातृत्व, बुद्धि, मन, चित्त तथा अहंकार । महाभूतों के एक-एक भाग के सत्त्वांश से, एक-एक ज्ञानेन्द्रिय बनती है । आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वक्, अग्नि से नेत्र, जल से जिह्वा तथा भूमि से नासिका इन्द्रिय का निर्माण होता है । इसी प्रकार रजोगुण का एक अंश सम्मिलित रूप से प्राण में परिवर्तित होता है । पञ्चमहाभूतों के कारण यह भी पञ्चधा विभक्त होता है—प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान रूप में । रजोगुण के एक-एक अंश से पृथक्-पृथक् कर्मेन्द्रिय का निर्माण होता है । आकाश के रजोगुण से वाक्, वायु से पाणि, अग्नि से पाद, जल से उपस्थ और भूमि से गुदा बनती है । ये सभी ज्ञान-कर्मेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण सूक्ष्म हैं, इन्हें नेत्रों-द्वारा नहीं देखा जा सकता । महाभूतों के तमोगुणांश के

सम्मिलित रूप से शरीर बनता है और भिन्न-भिन्न भूतों के तमोंश से ज्ञान-कर्म तथा अन्तःकरण के रहने का स्थान बनता है। कर्ण आकाश के तमोगुण से बनता है, त्वक् वायु से, नेत्र अग्नि से, जिह्वा जल से और नासिका भूमि से बनती है। इन स्थानों में क्रमशः कर्णेन्द्रिय, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा नासिका इन्द्रिय का निवास होता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के निवास के लिये हाथ-पैर आदि, अन्तःकरण के लिये हृदय और प्राण के लिये नाडियाँ बनती हैं। इन्द्रियों के भोग्यपदार्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध भी क्रमशः आकाशादि महाभूतों से बनते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर तथा संसार के रूप में गुण ही परिवर्तित हुये हैं, यह 'गुण-विभाग' कहा जाता है। इनकी परस्पर चेष्टायें 'कर्म-विभाग' हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध विषयों का क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना एवं नासिका ज्ञानेन्द्रियाँ भोग करती हैं और विषयों का आदान-प्रदान करती हैं कर्मेन्द्रियाँ। अन्तःकरण-द्वारा सुख-दुःखादि का अ भव होता है। सत्त्वगुण उत्कृष्ट होने के कारण भोक्ता है और तमोगुण निकृष्ट होने से भोग्य। इस प्रकार जितने भी लौकिक-वैदिक कर्म हैं, सब गुण हैं और परस्पर उनका ही संयोग-वियोग होता है। आत्मा इनसे भिन्न दृष्टा, साक्षी, निष्क्रिय एवं निर्विकार स्वरूप है। तात्त्विक दृष्टिसम्पन्न पुरुष की धारणा यही होती है, कि 'मैं अकर्ता-अभोक्ता हूँ', तथा 'गुण गुणों में ही वर्तन कर रहे हैं'। इसलिये अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में सब कुछ करता हुआ भी, वास्तव में वह कुछ नहीं करता। अतः न भोक्ता है, न आसक्त ही होता है।

आत्मानात्मविवेक सम्पन्न पुरुष कार्य-कारण, भोक्ता-भोग्य एवं साध्य-साधन का पूर्णतः ज्ञाता होता है। उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण व्यवहार प्रकृतिजन्य तथा कामनामूलक होते हैं। उसका कामना, आसक्ति तथा फल से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये जितनी सुन्दरता तथा कुशलतापूर्वक व्यावहारिक कार्य उससे सम्पन्न होते हैं, अज्ञानी से कभी सम्भव ही नहीं। उसके सभी कर्म, आदर्श, स्वार्थ-रहित एवं समस्त प्राणियों के हितार्थ होते हैं। उसकी एकमात्र यही भावना होती है कि सभी प्राणी उन्नत जीवन-व्यतीत करते हुये, अन्त में परम पद-प्राप्त करें। इसलिये आत्मज्ञानी का जीवन 'लोकसंग्रहमय' होता है। अतः गीतोक्त कर्मयोग का इतना माहात्म्य है, कि जीवन से शिव तथा नर से नारायण-पदवी-प्राप्त कराता है। पुरुष बन्धन से मुक्त, मृत से अमृतत्व, अनानन्द से आनन्द, भय से अभय एवं शोक-मोहरहित, शान्त ज्ञानस्वरूप में स्थित हो जाता है।

———

३

भक्ति-योग खण्ड

प्रस्तुत खण्ड की आधार शिला

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।'

—गीता १४, २६

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।'

—गीता ११, ५४

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।'

—गीता १२।३-४

'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।'

—गीता १२।६,७

'युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।'

—गीता ६, १५

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।'

—गीता ९, ३४

'भक्त्यामामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।'

—गीता १८,५५

'तुल्य निन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केन चित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।'

—गीता १२,१९

साध्य-साधनरूपा भक्ति का स्वरूप

गीता में दो ही निष्ठाओं का वर्णन है—एक साधनरूपा कर्मनिष्ठा और दूसरी साध्यरूपा ज्ञाननिष्ठा। प्राप्तव्य साध्य ही होता है और जिस प्रयत्न-द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह साधन। इस प्रकार साधनाधीन साध्य होता है, इसलिये साधन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निष्काम कर्मयोग-द्वारा बुद्धि निर्मल होती हैं, तब ज्ञान-प्रकाश होता है, इस कारण कर्मयोग कर्तव्य है। कर्मयोग स्थूल है और ज्ञानयोग अत्यन्त सूक्ष्म। स्थूल से अत्यन्त सूक्ष्म पर्यन्त पहुँचने में कुछ अन्य स्तरों को भी पार करना पड़ता है। जिस प्रकार शिखर पर पहुँचने के लिये कई सोपान चढ़ने पड़ते हैं, उसी प्रकार स्थूल शरीर से बुद्धि पर्यन्त कई स्तरों को पार करना पड़ता है। स्थूल शरीर से इन्द्रियाँ सूक्ष्म तथा आन्तर हैं, इन्द्रियों से मन सूक्ष्म तथा आन्तर है और मन से बुद्धि सूक्ष्म तथा आन्तर है। बुद्धि से सूक्ष्म और आन्तर आत्मा है। बुद्धि के संन्निकट आत्मा होने से, बुद्धि-द्वारा ही आत्म-ज्ञान होता है। स्थूल कर्मयोग से ऊपर इन्द्रियों का क्षेत्र है, इन्द्रिय-निग्रह-द्वारा इस पर पहुँचा जा सकता है। इन्द्रिय-निग्रह मन-द्वारा सम्भव है। यदि मनः संयोग इन्द्रियों में न हो, तो इन्द्रिय-निग्रह स्वयमेव हो जाता है। मन-संयोग होने में दो कारण हैं—वैषयिक वासना और प्राणस्पन्दन। यदि इन दो कारणों का अभाव हो, तो मन-संयोग-सम्भव नहीं। प्राणस्पन्दन-निरोध होता है प्राणायामपूर्वक योग से और वैषयिक वासना-

क्षीण होती है वैराग्यपूर्वक भक्तियोग से । जब तक मानसिक क्षेत्र विजित नहीं होता, तब तक बौद्धिक क्षेत्र में प्रवेश सम्भव नहीं । कर्मयोग की पूर्णता तभी होती है, जब मानसिक क्षेत्र मे प्रवेश हो । मानसिक स्तर पर पहुँच कर, सूक्ष्म साधन भक्तियोग होता है । यही कारण है गीता में भक्तियोग-प्रतिपादन का ।

कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के मध्य-स्थान है भक्तियोग का । कर्मयोग की अन्तिम अवस्था तथा ज्ञानयोग की पूर्वावस्था भक्तियोग है । अथवा ऐसा भी माना जा सकता है कि कर्मयोग से ज्ञानयोग में पहुँचने का मार्ग है भक्तियोग । जिस प्रकार नदी के पूर्व-पश्चिम तटों को सेतु मिलाता है, उसी प्रकार कर्म-ज्ञान को मिलाने वाला सेतु है भक्ति । भक्ति का अर्थ है—'सेवा' । सेवा तन, मन तथा धन से होती है । धन से तन का महत्त्व अधिक है और तन से मन का । इसीलिये मानसिक भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मानी गई है । मन की 'रागात्मिका वृत्ति' भक्ति शब्द से कही जाती है । यद्यपि रागात्मिका वृत्ति पुत्र, पत्नी आदि में भी होती हैं, तथापि इसे भक्ति नहीं कहा जा सकता । व्यवहार में स्त्रैण व्यक्ति को 'स्त्री-भक्त' कहा जाता है, तथापि भक्ति का प्रयोग श्रेष्ठ में ही होता है । जिस पदार्थ में राग होता है, उसीके अनुसार मन की प्रवृत्ति होती है और मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार जीव की गति होती है । पुराणों में राजा भरत की आख्यायिका है—वह सम्पूर्ण राज्य-परित्याग कर, कानन में तप करते थे । वहाँ मृग-शावक में राग होने से, आगामी जन्म मृग का मिला । वैषयिक तथा नाशवान् पदार्थों में राग होने से जीव भी नाशवान् होता है और अविनाशी ईश्वर में राग होने से अविनाशी ईश्वर को प्राप्त होता है । अतः निकृष्ट में राग बन्धन कारक है और ईश्वरीय राग मुक्ति-प्रदायक । इसी कारण ईश्वरीय राग को ही 'भक्ति' कहा जाता है । श्री मधुसूदन सरस्वती 'भक्ति रसायन' में कहते हैं—'द्रवीभावपूर्वक मन का सविकल्प वृत्ति रूप से, भगवदाकार होना ही 'भक्ति' है' । साधन तथा साध्य-भेद से भक्ति दो प्रकार की है । श्री मधुसूदन सरस्वती के अनुसार :—**भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भाव-व्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन फलमभिधीयते तथा भज्यते–सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति करणव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन श्रवणकीर्तनादि साधनमभिधीयते** '—भजन अर्थात् अन्तःकरण का भगवदाकार होना ही भक्ति है, भाव में प्रत्यय कर भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति करने पर 'फल' अर्थ होता है और भज्यते-सेव्यते अर्थात् जिसके द्वारा अन्तःकरण भगवदाकार किया जाता है, वह भक्ति है, करण से व्युत्पत्ति करने पर भक्ति शब्द से श्रवण, कीर्तनादि रूप 'साधन' अर्थ होता है' । 'भागवत' में भगवान् का कथन है :

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
(भा० ११।२०।९)

'—कर्म तभी तक कर्तव्य हैं, जब तक स्वर्गादिपर्यन्त-सुखों से वैराग्य न हो जाय, अथवा मेरी कथा-श्रवण आदि में श्रद्धा उत्पन्न न हो।' इसमें कर्मयोग का पर्यवसान दो प्रकार कहा गया है—१ वैराग्य में तथा २ भगवत्कथा में श्रद्धा। सुकोमल मनसम्पन्न पुरुष में श्रद्धा उत्पन्न होती है और कठोर मन वाले व्यक्ति में वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्यशील पुरुष की प्रवृत्ति योग में होती है और श्रद्धावान् की भक्ति में। योग तथा भक्ति के साधन में अन्तर है, किन्तु फल में कोई भेद नहीं। अन्ततः दोनों ही मानसिक स्तर से उठकर, बौद्धिक स्तर ज्ञान में प्रवेश करते हैं। साधनरूपा भक्ति की बारह भूमिकायें मानी गई हैं—१, महत्सेवा, २, उनकी दया का पात्र होना, ३, श्रद्धा, ४, श्रवण, ५, कीर्तन, ६, स्मरण, ७, पादसेवन, ८, अर्चन, ९, वन्दन, १०, दास्य, ११, सख्य और १२, आत्मनिवेदन। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—महत्सेवा दो प्रकार की है, भगवद्भक्तों की सेवा तथा भगवान् की सेवा। स्त्री, पुत्र, धन, मानापमान तथा देहासक्तिरहित, समदर्शी, दयालु, परोपकारी एवं ईश्वर में जिनकी अनन्य भक्ति हो, वह भगवद्भक्त हैं। ऐसे भक्तों की सेवा से, तमोगुण तथा रजोगुण का अपकर्ष और सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है। शील, दयालुता, निरहंकारिता, निर्मम, निर्मोह आदि गुणों का विकाश होता है, तब भक्तों का कृपा-पात्र बनता है। जब साधक गुरु से साधन-मार्ग पूछकर स्वयं चलने का प्रयत्न करता है, तब 'स्व प्रयत्न' या 'आत्म-कृपा' होती है। और जब स्वयं गुरु साधन-मार्ग बतलाते हैं, तब 'गुरु-कृपा' कही जाती है। कृपा-पात्र होने पर भगवद्-भक्त के धर्मों में श्रद्धा होती है। भगवत्कथा-श्रवणादि तथा गुरु-आचरण में विशेष रुचि ही 'श्रद्धा' नामक भक्ति है। यदि किसी साधक में श्रद्धा नहीं होती, तो वह या तो विषयासक्त हो जाता है या पाण्डित्याभिमान में भक्तों की निन्दा करने लगता है।

श्रद्धापूर्वक भगवत्कथा-श्रवण में प्रवृत्ति होना 'श्रवण' भक्ति है। कथा-श्रवण से श्रोत्र तथा अंतःकरण दोनों पवित्र होते हैं, विषयोपभोग में अरुचि और भगवान् में प्रेम होता है। श्रवण किये भगवच्चरित्रों का वाणी-द्वारा कथन 'कीर्तन' है, इससे वाणी पवित्र, मंगलदायिनी और सत्यरूपा होती है। भगवत्पादारविन्दों का सदैव स्मरण रखना 'स्मरण' भक्ति है, इससे साधक भक्ति, वैराग्य तथा ज्ञान-विज्ञान की

ओर बढ़ता है। चरणकमलों का सेवन 'पाद-सेवन' है, इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् की भावनामयी मूर्ति के दर्शन-पाकर जब भक्त पूजा करता है, वही 'अर्चन' है, अर्चन से पुरुष अभिलषित पदार्थों को पाता है। अर्चन के अनन्तर प्रणाम करना 'वन्दन' है, इससे साधक मुक्ति-पद का अधिकारी होता है। वन्दन से सेव्य-सेवक भावना उत्पन्न होती है, यही 'दास्य' भक्ति है। सेवक शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक सम्पूर्ण कर्म भगवान् के अर्पण कर देता है। इस भावना के परिपक्व होने पर, सदैव भगवान् का संग प्रतीत होता है। फिर मानो भोजन-पान, गमनागमन, शयन-आसन आदि सभी कर्मों में भगवान् भक्त के संग रहते हैं, यही 'सख्य' भक्ति है। अनन्तर सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग कर, भक्त 'आत्मनिवेदन' करता है, इससे परम सम्मानित होता है और एकरूपता प्राप्त होती है।

इन साधनों से परिपूर्ण हो, भक्त साध्य-भक्ति में प्रवेश करता है। भगवत्-प्रेमानन्द में चित्त द्रवित हो जाता है, द्रवित चित्त में भगवत्स्वरूप सम्मिलित हो, एकरूप हो जाता हैं। चित्त भगवदाकार हो जाता है। जिस प्रकार लाक्षा (लाख) अत्यन्त कठोर होने पर भी अग्नि-संयोग से, द्रवित होकर जल के समान पतली हो जाती है। द्रवित लाक्षा में हरित, पीतादि रंग का संयोग होने से, लाक्षा हरित, पीतादि रंग वाली हो जाती है। शुष्क तथा कठोर होने पर, न तो रंग लाक्षा से निकल सकता है, न लाक्षा ही रंग को निकाल सकती है। उसी प्रकार कठोर मन भी भगवत्प्रेमाग्नि से द्रवित होता है और उसमें भगवत्स्वरूप का संयोग होता है, तब मन भगवदाकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में न तो भक्त ही भगवान् को निकाल सकता है, न भगवान् ही भक्त से पृथक् हो सकते हैं। सदैव भगवदाकाराकारित मानसिक वृत्ति-प्रवाह साध्य भक्ति है, यही मानसी सेवा है, भक्ति की चरम स्थिति है।

साध्य भक्ति गीता में 'अव्यभिचारिणी भक्ति' कही गई है। 'अमानित्व' आदि ज्ञान-साधनों में इसकी परिगणना है :

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
(गी० १३।१०)

'—मुझ ईश्वर में अनन्ययोग से, कभी विचलित न होने वाली अव्यभिचारिणी भक्ति है।' जैसे सागर की ओर गंगादि नदियों का अखण्ड प्रवाह-प्रवाहित होता है, वैसे ही भगवान् वासुदेव की ओर अखण्ड मानस-प्रवाह-प्रवाहित होना 'अव्यभि-

चारिणी भक्ति' है। यह भक्ति ज्ञानाभ्यास है। जब आत्मानात्म विवेक तथा तत्त्वंपदार्थशोधन के अनन्तर यह भक्ति की जाती है, तब इसे निदिध्यासन भी कहते हैं। इस भक्ति-सेवन से पुरुष गुणातीत हो, मुक्त हो जाता है, यही भगवान् कहते हैं:

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

(गी० १४। २६)

'—जो अव्यभिचरित भक्तियोग, से मुझ ईश्वर का अनुसन्धान करता है, वह गुणों का अतिक्रमण कर मोक्ष-प्राप्त करने में समर्थ होता है।' अनन्त गुणगणागार, सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, विश्व-विधायक, पालक एवं संहारक सगुण, निराकार ईश्वर में ध्येयाकार अखण्ड मानस-वृत्ति-प्रवाह प्रवाहित होता है; वैसे ही वेदान्तवेद्य निर्गुण, निराकार, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, प्रत्यगभिन्न ईश्वर में भी प्रवाहित होता है। विषयों से कभी व्यभिचरित न होनेवाली अखण्ड मानस-वृत्ति-प्रवाह ही परिपक्व होने पर समाधि कही जाती है। समाधि में भगवत्साक्षात्कार होने पर, गुणमय प्रपञ्च का बाध हो जाता है। तब माया, मायिक गुण एवं मायिक प्रपञ्चातीत ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति होती है। इस प्रकार ज्ञानलक्षणा भक्ति से अनायास मुक्ति प्राप्त होती है।

'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' में भी भक्ति का यही लक्षण है। **सा परानुरक्तिरीश्वरे** (शा० २) '—वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम अनुरागरूपा है'। यह 'पराभक्ति' निर्गुण, निराकार, सगुण, निराकार एवं सगुण, साकार भगवदवतार में भी होती है। **यद्वाक्यशेषात् प्रादुर्भावेष्वपि सा** (शा० ४६) '—भगवदवतार में जो भक्ति होती है, वह पराभक्ति ही है, क्योंकि गीता में **मद्भक्तायान्ति मामपि** (गी० ७।२३) '—मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं', इस वाक्यशेष में भगवत्प्राप्ति कही है।' **जन्मकर्मविदश्चाजन्मशब्दाद्** (शा० भ० सू० ४७) '—भगवान् के जन्म तथा कर्म-रहस्य को जानने वाले पुरुष का भी जन्म नहीं होता, क्योंकि, **जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥** (गी० ४।९) से भगवान् कहते हैं—'मेरा मायामय जन्म और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो यथार्थ तत्त्वपूर्वक जानता है, अर्जुन! वह इस शरीर का परित्याग कर पुनर्जन्म नहीं लेता, मेरे पास आ जाता है।' यदि इस पर कोई कहे, कि गीता-दशम अध्याय में अनेक विभूतियाँ कही गई हैं, फिर उन विभूतियों में भक्ति क्यों न की

जाय ? इस पर शाण्डिल्य मुनि कहते हैं : **प्राणित्वान्न विभूतिषु** (शा० भ० सू० ५०) '—विभूतियों में की गई भक्ति पराभक्ति नहीं है, क्योंकि वे प्राणधारी जीव हैं'। विभूतियों की भक्ति 'गौणी भक्ति' है और गौणी भक्ति साधनरूप में स्वीकार है, इससे साध्य पराभक्ति-प्राप्त होती है ।

गीतोक्त विभूति-चिन्तन भी अधिकारी-भेद से अनेक हैं । प्रज्ञा के उत्कर्षापकर्ष-भेद से भक्त उत्तम, मध्यम तथा अतिमन्द श्रेणी के होते हैं, इनके कल्याणार्थ विभिन्न रूपों में उपास्य की कल्पना की गई है । क्योंकि बुद्धि-स्तर के अनुसार ही उपासक उपासना–भक्ति–कर सकता है, इसी कारण अनेक रूपों में उपास्य का वर्णन आया है । अर्जुन सभी प्रकार के अधिकारियों का प्रतिनिधित्व करते हुए कहते हैं : **केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया** गी० (१०।१७)'—भगवन् ! आप किन-किन भावों में मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं ।' इसके उत्तर में ध्यान-योग्य विशेष स्थान तथा स्वरूप का वर्णन भगवान् करते हैं :

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।।
आदित्यानामऽहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।।
(गी० १०।२०-२१)

'—निद्राजयी अर्जुन ! समस्त भूतों की बुद्धिरूप गुहा में साक्षीरूप आत्मा मैं ही स्थित हूँ, मैं ही समस्त भूतों का आदि, मध्य तथा अन्त हूँ' । 'आदित्यों में विष्णु नामक आदित्य मैं हूँ, ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ, मरुतों में मरीचि हूँ तथा नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ ।' सबसे प्रथम उत्तम अधिकारी के ध्यानार्थ शरीर के भीतर बुद्धि में स्थित, आत्मा को अपना स्वरूप कहते हैं । **सर्वभूताशयस्थितः** का तात्पर्य सब प्राणियों के आशय में–आ–समन्तात् सब ओर से शेते–सोता है अर्थात् सोता हुआ-सा निष्क्रियता से, जहाँ आत्मा स्थित रहता है यानी बुद्धिगुहा । बुद्धिगुहा में आत्मा कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप है, वह निर्विकार ईश्वर ही है । योगीजनउस ज्योतिस्वरूप आत्मा का ध्यान करते हैं, अतः श्रेष्ठ ध्यान यही है । जो इस ध्यान के अधिकारी नहीं हैं, इससे निम्न स्तर के हैं अर्थात् मध्यम श्रेणी के हैं । उनके ध्येय शरीर से बाहर बतलाते हैं–आकाशादि सब भूतों का उपादान अव्यक्तस्वरूप, मध्य में व्यक्तस्वरूप और अन्त में प्रलयरूप से उपास्य मैं हूँ । तात्पर्य प्रपञ्च का कारण,

प्रपञ्चस्वरूप और प्रपञ्च के विलयस्वरूप मैं ही प्रकृतिरूप से, सगुण ईश्वर स्थित हूँ। यदि उपासक इस रूप का भी ध्यान करने में असमर्थ है, तो वह अतिमन्द अधिकारी है। उसके लिये स्थूलस्वरूप का ध्यान है। द्वादश आदित्य मेरी ही विभूति हैं, किन्तु अतिशय प्रभाव के कारण विष्णु नामक आदित्य मैं हूँ, उसमें ध्यान कर्तव्य है। इसी प्रकार अन्य अनेक विशेष नाम तथा रूप वाली विभूतियाँ ध्यान के लिये कही गई हैं।

ईश्व· सर्वस्वरूप ही हैं, अतः विभूतियाँ अनन्त हैं। किन्तु इनके ज्ञान तथा ध्यान से क्या लाभ ? अनेक विभूतियाँ ईश्वरस्वरूप होने से ईश्वर में अनेकत्वबुद्धि होगी, इस कारण मुक्ति की सम्भावना नहीं और विभूति ·ाँ गुणों के तारतम्य से सत्त्व, रज तथा तमोगुण वाली हैं। अतः अन्तःकरणस्थ मल, विक्षेप आदि का भी भी वनिारण नहीं कर सकतीं। इसलिये मुख्य अधिकारी का कर्तव्य है, कि सर्वात्मा परमेश्वर का ही भजन करे। अन्त में भगवान् कहते हैं :

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाऽर्जुन ।
विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(गी० १०।४२)

'—अर्जुन ! अथवा मेरी इन अनेक विभूतियों के ज्ञात होने से, तुम्हें क्या लाभ ? मैं सर्वेश्वर एक अंश से इस सम्पूर्ण जगत् को धारण कर, स्थित हूँ।' प्रज्ञावान् मुमुक्षु पुरुष का ध्येय सविशेष परमात्मा है। इसके ध्यान-द्वार। संसार-बन्धन निवृत्त होगा तथा मुक्ति-पद प्र।प्त होगा। निर्विशेष परमात्मा, अनन्त, अखण्ड, परिपूर्ण है, इसी के एक लघु स्थान में सम्पूर्ण विश्व कल्पित है। जिस प्रकार आकाश अखण्ड है, उसी में चन्द्र, सूर्य, पृथिवी तथा अन्यान्य तारामण्डल हैं, उसी प्रकार परमात्मा में विश्व है। यह विश्वविराट्स्वरूप परमात्मा के एक अंश में है, तीन अंश निर्विशेष अभी भी स्थित हैं।इस विश्वरूप ईश्वर के ध्यान से पुरुष कृतार्थ होता है। भगवान् कहते हैं :

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं दृष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गी० ११।५४)

'—अर्जुन ! अनन्य भक्ति से इस विश्वरूप-द्वारा मैं जाना जा सकता हूँ, परन्तप ! यथार्थ तत्त्व से देखा जा सकता हूँ और प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।' एक मात्र परमात्मा की ओर मानस-प्रवाह प्रवाहित होना 'अनन्य भक्ति' है। इस भक्ति के प्रभाव से, भेद-प्रत्यय का निवारण तथा बुद्धि निर्मल होकर, शास्त्र-द्वारा विश्वरूप परमात्म-ज्ञान होता है। वेदान्त शास्त्र के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की परिपक्वावस्था होने पर, निर्विशेष परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन और परमात्मा से तादात्म्य होने पर, भगवत्स्वरूप प्राप्त होता है। इसलिये मुक्त्याभिलाषी पुरुष का कर्तव्य भगवान् बतलाते हैं :

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।
(गी० ११।५५)

'—पाण्डुपुत्र ! जो मेरे लिये कर्म करता है, मुझे ही परम गति मानता है, सम्पूर्ण इन्द्रियों से मेरी ही सेवा करता है, स्त्री, पुत्र तथा धनादि की प्रीति से रहित है और सब प्राणियों में वैर-भाव-विहीन है, वह मुझे ही पाता है।' इन पाँच साधनों से सम्पन्न साधक, परमात्म-स्वरूप को प्राप्त करता है, मुक्त हो जाता है।

साधारण पुरुषों के लिये पृथक्-पृथक् विभूति में ध्यान करना बतलाया गया और प्रज्ञावान् मुमुक्षु के लिये विश्वरूप की उपासना कही गई। ये सभी उपासनायें सगुण परमात्मा की हैं और क्रममुक्ति प्रदान करने वाली हैं। किन्तु जो पुरुष विवेक, शम, दमादि सम्पन्न हैं, उनके लिए निर्गुण, निर्विशेष परमात्मा की उपासना ही कर्तव्य है। क्योंकि यही साक्षात् मुक्ति-देने वाली है। सगुणोपासना आरुरुक्षु के लिये उत्तम तथा सुकर है, आरूढ़ के लिये निर्गुणोपासना। अधिकारी भेद से दोनों उपासनाओं की संगति है। आरूढ़ के उपास्य निर्गुण परमात्मा का वर्णन भगवान् करते हैं :

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।

(गी०१२।३-४)

'—सम्पूर्ण इन्द्रिय-समूह का निग्रह, समस्त प्रपञ्च में राग-द्वेषादि शून्य, सम बुद्धि तथा सर्व प्राणियों के हित में तत्पर, जो पुरुष अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रव्याप्त, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और शाश्वत परब्रह्म की उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।' तात्पर्य जिन पुरुषों ने शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध विषयों से श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और घ्राण इन्द्रियों को निवृत्त कर लिया है एवं वासनात्मक मानसिक वृत्ति-प्रवाह को अभ्यास, वैराग्य तथा विवेकादि साधनों से सम कर लिया है अर्थात् मानापमान तथा लाभालाभादि में हर्ष-विषाद रहित हैं। इसी प्रकार जिनकी सम्पूर्ण भूतों के कल्याणार्थ चेष्टा होती है अथवा जिन्होंने सब भूतों को अभयदान दिया है, वे पुरुष अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं। 'उप'-'समीप', 'आसन'-स्थित होना, तात्पर्य उपास्य को बुद्धि का विषय बना कर, उसके समीप पहुँच कर, तैलधारावत् समानवृत्तिप्रवाह से दीर्घ काल तक स्थित रहना 'उपासना' है। अक्षर, अनिर्देश्य परमेश्वर के उपासक परमेश्वर को ही प्राप्त होते हैं। वस्तुत: तो वह परमेश्वर को प्राप्त ही हैं। क्योंकि **ज्ञानी त्वात्मैव मेमतम्** (गी० ७/१८) '—ज्ञानी तो मेरा आत्मस्वरूप ही है, यह मेरा निश्चय है', इस कथन से ज्ञानी उपासक भिन्न नहीं हैं। 'मुझे प्राप्त होता है' यह कथन उपचार से फल-प्रदर्शन मात्र है। आरूढ़ के लिये एकमात्र अक्षर की उपासना ही कर्तव्य है, यही निदिध्यासन है। दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास करने से, यही 'समाधि' हो जाती है। किन्तु आरुरुक्षु के लिये इसमें सर्वाधिक कठिनता है। इसलिये उसे सविशेष ईश्वर की उपासना कर्तव्य है, यही भगवान् कहते हैं :

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गी० १२।६-७)

'—परन्तु जो सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें समर्पण कर, मेरे परायण हो, अनन्य-योग से मेरा ध्यान करते हुये उपासना करते हैं।' 'पार्थ ! मुझ विश्वरूप में जिसका चित्त समाहित है, उन उपासकों का मैं इस मृत्यु संसारसागर से शीघ्र ही उद्धार करता हूँ।' निर्गुणोपासक मन तथा इन्द्रियों के सम्पूर्ण व्यापारों का परित्याग कर, एकमात्र उपास्यस्वरूप में स्थित होता है। सगुणोपासक समस्त कर्म करते हुये,

उनको सगुण ईश्वर के समर्पित कर, अनन्यरूप से ध्यान करता है। अक्षरोपासक उपास्यस्वरूप होने से, परमेश्वर को प्राप्त हुये ही प्राप्त करता है और विश्वरूपोपासक को परमेश्वर की प्राप्ति, परमेश्वर-द्वारा होती है। अक्षरोपासक की साक्षात् सद्योमुक्ति होती है और विश्वरूपोपासक की क्रममुक्ति। यही दोनों में भेद है। अक्षरोपासना सबसे श्रेष्ठ है, किन्तु जिसका चित्त सगुण-साकार-ग्रहण का अभ्यासी है, उनके लिये विश्वरूप की उपासना श्रेयस्कर है। सम्पूर्ण विश्व को एकमात्र ईश्वर-स्वरूप समझ कर, उपासना करना भी सबके लिये सरल नहीं है। अतः जो इसे करने में असमर्थ हैं, उन मन्दप्रज्ञाशील पुरुषों के लिये अन्य उपासना का विधान भगवान् करते है :

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय ॥
(गी० १२।९)

'—धनञ्जय ! यदि तुम चित्त को मुझमें निश्चल स्थापित नहीं कर सकते, तो अभ्यासयोग से मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो।' तात्पर्य है कि यदि समष्टि-रूप से उपासना करना असम्भव हो, तो व्यष्टिरूप की उपासना का अभ्यास करो। जिन विभूतियों का वर्णन गीता के दशम अध्याय में किया गया है, उनमें से किसी एक का अथवा भगवान् की प्रतिमा का आलम्बन कर, अभ्यास कर्तव्य है। घट, पट आदि समस्त पदार्थों के प्रत्ययों का तिरस्कार कर, एकमात्र आलम्बन-प्रत्यय-आवृत्ति 'अभ्यास' है। विजातीय वृत्ति में दोषदृष्टिपूर्वक वैराग्य होने से, मन हटने लगता है। तब बार-बार सजातीय वृत्ति करने से अभ्यास की वृद्धि होती है। इस अभ्यास से मन स्थिर होता है, तब यही 'योग' कहा जाता है। अतः अभ्यासयोग-द्वारा सगुण ईश्वर को प्राप्त करने के लिये, प्रयत्न करना चाहिये। जो पुरुष अति मन्दबुद्धि वाले हैं, उनके द्वारा अभ्यासयोग भी असम्भव है, अतः भगवान् अन्य साधन का उपदेश करते हैं :

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म परमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥
(गी० १२।१०)

'—यदि अभ्यास करने में भी असमर्थ हो, तो मेरे लिये कर्म करने में तत्पर

हो, मदर्थ कर्म करने से भी तुम सिद्धि-प्राप्त कर लोगे।' जैसे स्वामी के लिये सेवक कर्म करता है, सम्राट् के लिये सैनिक युद्ध करता है एवं राजदूत राज्य के लिये प्रयत्न करता है, वैसे ही साधक लौकिक-वैदिक समस्त कर्म ईश्वर के निमित्त करे। 'ईश्वर की आज्ञा से कर्म करता हूँ, न तो कर्म मेरे हैं, न कर्म-फल से मेरा कोई सम्बन्ध है'। इस भावनानुसार कर्म करने पर, कर्मों के दोष लिप्त नहीं होते और ईश्वर-द्वारा उनका फल मिलता है चित्तशुद्धिपूर्वक मोक्ष। अथवा 'मत्कर्म' से भक्ति के बाह्य साधन, श्रवण, कीर्तन आदि का भी ग्रहण हो सकता है। श्रवणादि बाह्य साधन से कालान्तर में आन्तरिक भक्ति में प्रवेश कर, मुक्ति-प्राप्ति सम्भव है। किन्तु जो पुरुष अत्यन्त मन्दबुद्धि वाले हैं, उनसे यह भी सम्भव न होने पर, दूसरे साधन का उल्लेख करते हैं :

अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥
(गी० १२।११)

'—यदि ऐसा करने में भी अशक्त हो, तो मद्योग आश्रित होकर कर्म करो, संयतचित्त होकर सब कर्मों का फल त्याग करो।' ईश्वर-प्रसन्नार्थ, समस्त कर्मों का सम्बन्ध ईश्वर से करना 'योग' है, इस योग के आश्रित होकर कर्म करना चाहिये। कामना तथा फलासक्तिरहित कर्मयोग और कर्मफल-त्याग करने से भी क्रमशः मुक्ति-प्राप्ति होती है। इस प्रकार अति मूढ के लिये भी मुक्ति का सरल साधनोपदेश किया गया है।

साधक की भूमिका के अनुसार यहाँ पाँच प्रकार के साधनों का क्रम कहा गया। (१) सबसे श्रेष्ठ है अक्षरोपासना, इसका अधिकारी परम श्रेष्ठ निर्गुणोपासक है। (२) श्रेष्ठ सगुणोपासक वह है, जो सगुण विश्वरूप की उपासना करता है। (३) विभूति या प्रतिमा में उपासना करने वाला उपासक मध्यम श्रेणी का है। (४) निम्न उपासक वह है, जो ईश्वरार्थ कर्म करता है और (५) अति निम्न श्रेणी का उपासक वह है, जो कर्म-योग ईश्वर में करता है। सभी ईश्वर के भक्त हैं, सभी का कल्याण निश्चित है, क्योंकि साधन-मार्ग से सभी ईश्वर की ओर प्रयाण कर रहे हैं। अपने अधिकारानुसार सभी साधन श्रेष्ठ है, अतः साधनों में उत्कर्षापकर्ष की कल्पना का कोई स्थान नहीं। आवश्यकता हैं भक्तिपूर्वक साधन-मार्ग पर चलने की।

गीता मे चार प्रकार के भक्तों का परिगणन भगवान् ने किया है :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।

(गी० ७।१६)

'—अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यकर्मा मनुष्य मेरा भजन करते हैं, भरतकुल-भूषण ! वे हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ।' प्रथम तीन भक्त सकामी हैं, अन्तिम ज्ञानी कामनारहित । शत्रु, चोर, रोग तथा अन्य संकट से निवृत्त होने की इच्छावाले 'आर्त' भक्त हैं । नित्यानित्य पदार्थ-विवेकपूर्वक ब्रह्मज्ञान की इच्छा करने वाले 'जिज्ञासु' हैं । लोक-परलोक के सुख और उनके साधन धनादि की कामनावाले 'अर्थार्थी'भक्त हैं । ये तीनों भगवान् में प्रेमपूर्वक भक्ति करते हैं, किन्तु फल विशेष के लिये । 'ज्ञानी' भक्त कोई कामना नहीं करता, उसका स्वभाव होता है भक्तिमय । सकाम भक्त हों या निष्काम, सभी पुण्यकर्मा हैं । क्योंकि विना ईश्वरार्पण कर्म, सत्संग और विवेक के भगवान् में भक्ति सम्भव ही नहीं । पुण्यकर्म इस जन्म के हों या पूर्व जन्मों के, भक्तिरूप में फलित होते ही हैं । कामनापूर्वक भगवद्भक्ति करने पर भी, कालान्तर में कल्याण निश्चित ही है । आर्त तथा अर्थार्थी की कामना पूर्ण होने पर भी भजन-क्रम चलता है, इससे प्रेम और विवेक की अभिवृद्धि होती है, तब वे जिज्ञासु भक्त की श्रेणी में आ जाते हैं । साधन-सम्पन्न होने पर कालान्तर में जिज्ञासु भी ज्ञानी भक्त हो जाता है । इस तरह सभी भक्तों का कल्याण निश्चित है ।

परा भक्ति का अधिकारी ज्ञानी भक्त है और गौणी भक्ति के अधिकारी हैं—आर्त, अर्थार्थी तथा जिज्ञासु । गौणी भक्ति साधन है एवं परा भक्ति साध्य । सत्त्व, रज तथा तमोगुण के भेद से आर्त भक्त तमोगुण प्रधान, अर्थार्थी रजोगुण प्रधान तथा जिज्ञासु सत्त्वगुण प्रधान कहे जाते हैं । ज्ञानी भक्त तो गुणरहित यानी निर्गुण या गुणातीत की श्रेणी में आता है । प्रायः देखा जाता है कि सत्त्वगुणी पुरुष इन्द्र, शिव, विष्णु आदि देवों की भक्ति करते हैं, रजोगुणी पितृभक्त होते हैं तथा यक्ष, गन्धर्व आदि की भक्ति करते हैं और तमोगुणी भूत, वेताल, क्षेत्रपाल आदि की भक्ति करते हैं । अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार फल प्राप्त करते हैं और अन्त में उपास्यरूप को भी पाते हैं । भगवान् कहते हैं :

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ।।

(गी० ९।२५)

'—देवों के उपासक देवों को, पितृभक्त पितरों को, भूतों के उपासक भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे उपासक मुझको प्राप्त होते हैं।' निर्गुणोपासक ज्ञानी, प्रत्यगभिन्न परमेश्व -स्वरूप-प्राप्त करते हैं और सगुण ईश्वरोपासक क्रम मुक्ति-द्वारा। यद्यपि सभी भक्तों का साधन में समान परिश्रम है, तथापि अविवेक के कारण परमानन्दघन परमेश्वर की भक्ति न कर, विनाशी देव दि की भक्ति करने से वि ाशशील, पुनर्जन्म को ही प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् अत्यन्त विवेक, वैराग्यादि साधन सम्पन्न पुरुषों को ही प्राप्त होते हों, या विपुल धनराशि से यज्ञादि करने पर ही प्रसन्न हों, ऐसी बात नहीं। वह तो चाहते हैं भक्ति। भक्तिपूर्वक यदि पत्ते, पुष्प या फलादि भी कोई समर्पण करे, तो उसे ग्रहण करते हैं। यही कहते हैं :

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।

(गी० ९।२६)

'—जो भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल तथा जलादि भक्तिपूर्वक देता है, उस शुद्ध मति भक्त की भक्ति से अर्पित पत्रादि मैं ग्रहण करता हूँ।' ईश्वर की दृष्टि में सभी प्राणी समान हैं, वह दुराचारी से न द्वेष करते हैं, न सदाचारी से प्रेम। प्राणी जैसे कर्म करता है तथा जिस भावना से ईश्वर को भजता है, ईश्वर भी उसे उसी भावना से मानते हैं और कर्मानुसार फल-प्रदान करते हैं। पूर्वजन्मार्जित कर्मानुसार जिनका जन्म पापयोनि में हुआ है, यदि वह भी भक्तिपूर्वक भगवान् का भजन करते हैं, तो उन्हें भी परमगति-प्राप्त होती है। यही भगवान् कहते हैं :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

(गी० ९।३२)

'—पार्थ ! स्त्री, वैश्य तथा शूद्रादि और इनसे अतिरिक्त जो भी पापयोनि

हैं, वे भी मेरा आलम्बन लेकर उत्तम गति-प्राप्त करते हैं।' इस प्रकार भगवान् सभी को आश्वासन देते हैं, कि जो भी भक्तिपूर्वक भजन करेगा, उसे परमानन्द-स्वरूप मुक्ति तथा ईश्वर-प्राप्ति अवश्य होगी।

इस तरह सम्पूर्ण दुःख-निवारण और निरतिशय सुख-प्राप्ति के लिये भक्ति-आलम्बन श्रेष्ठ है। जैसे कामी पुरुष प्रत्येक समय कामिनी का ध्यान करता है। उठते-बैठते, खाते-पीते तथा सभी व्यापारों में कामिनी का स्मरण करता है, तदनुसार स्वप्न में भी कामिनी-दर्शन होता है। व्यापारी का मन प्रत्येक समय व्यापार में लगा रहता है, स्वप्न में भी व्यापार करते हुये देखता है। वैसे ही भगवद्भक्त का मन भी भगवदाकार होता है। समस्त कर्म करते हुये भी सदैव भगवान् का स्मरण रहता है, यही परा भक्ति है। इस भक्ति के उदय होने पर, जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति किसी भी अवस्था में भगवान् का विस्मरण नहीं होता। यह पराभक्ति ही गीता की श्रेष्ठ भक्ति है। इसे प्राप्त करने के लिये कर्मयोग, ईश्वरार्थ-कर्म, प्रतीक में अभ्यास तथा सगुण ईश्वर की भक्ति का निर्देश है। श्रवण, कीर्तन आदि भी इसी के साधन हैं। बाह्य-साधनों-द्वारा आन्तरिक साधनों की ओर प्रयाण करते हुये अन्ततः अन्तःकरण को भगवत्स्वरूपाकाराकारित करना ही परम कर्तव्य है। यही मानव का चरम लक्ष्य है, परमगति है।

———

योग-द्वारा मुक्ति-क्रम

सुकोमल हृदयसम्पन्न व्यक्ति भावुक व्यक्ति होते हैं, उनमें स्वभावतः करुणा, दया, परोपकार तथा प्रेम की भावना का समावेश रहता है। उनमें सात्त्विक श्रद्धा तथा विश्वास सरलतापूर्वक देखे जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए भक्तिमार्ग श्रेयस्कर है। किन्तु जिन पुरुषों का चित्त कठिन है और वे वैराग्यसम्पन्न हैं, उनकी प्रवृत्ति साँसारिक कर्मों की ओर नहीं होती। वे सात्त्विक श्रद्धासम्पन्न होते हैं, किन्तु अनुभव होने पर ही विश्वास करते हैं। ऐसे पुरुषों के लिए कल्याणकारक मार्ग है 'योग'। योग से प्रत्यक्ष आत्मानुभूति और ईश्वर के एकत्त्वपूर्वक सम्यक् ज्ञान में अवस्थिति होती है। यद्यपि योग तथा ज्ञानमार्ग पृथक्-पृथक् हैं, तथापि उनमें साध्य-साधन सम्बन्ध है। 'शाण्डिल्योपनिषद्' में कहा है :

द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय योगो ज्ञानं मुनीश्वर।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

(शा० १।२४)

'—मुनीश्वर! चित्तनाश के दो मार्ग हैं–योग और ज्ञान, चित्तवृत्तियों का निरोध योग है और सम्यग्दर्शन ज्ञान है।' शुद्ध आत्मा की उपाधि चित्त है, आत्मा

से चित्त को पृथक् करना तथा उसका भान न होना चित्त-नाश है। चित्तनाश के दो उपाय हैं, प्रथम योग और द्वितीय ज्ञान। योग-द्वारा 'असम्प्रज्ञात समाधि' सिद्ध होने पर, चित्त शान्त हो जाता है, अतः चित्त का भान नहीं होता। 'सम्प्रज्ञात समाधि' में तो चित्त की उपाधिसहित आत्मा-द्वारा, आत्माकाराकारितवृत्तिप्रवाहयुक्त चित्त का ही अनुभव होता है, अतः इसमें चित्तनाश नहीं होता। योगमार्गावलम्बी प्रायः प्रपञ्च को सत्य मानते हैं, इस लिये चित्त के अदर्शनपूर्वक आत्मा का साक्षात्कार स्वीकार करते हैं। ज्ञानमार्गावलम्बी प्रपञ्च को मिथ्या मानते हैं, इसलिये विचारपूर्वक सम्पूर्ण प्रपञ्च का बाध कर, अधिष्ठानस्वरूप आत्मा को ही शेष रखते हैं। अधिष्ठान का परिज्ञान दृढ़ होने पर, उसमें कल्पित प्रपञ्च तथा चित्त स्वयं बाधित हो जाता है। चित्त तथा उनके दृश्य का अभाव अनायास सम्भव हो जाता है।

उपनिषदों में योग तथा ज्ञान के सिद्धान्त में भेद नहीं है। योग-प्रतिपादक सभी उपनिषदों में अज्ञान से बन्धन और ज्ञान से मोक्ष स्वीकार किया गया है। योग को ज्ञान का सहायक तथा ज्ञान को योग का सहायक माना गया है। 'योगतत्त्वोपनिषद्' में कहा गया है :

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ।।
योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ।।
अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते ।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम् ।।

(योगत० १४-१६)

'—(सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, क्षुधा-पिपासा तथा शोकादि दोषों से जीव आबद्ध हैं) इसलिये दोष-विनाशार्थ तुमसे उपाय कहता हूँ, योगरहित पुरुष को ज्ञान कैसे मोक्षप्रदाता हो सकता है ?' 'और ज्ञानरहित पुरुष भी योग - द्वारा ही मोक्ष-प्राप्त करने में सक्षम नहीं हो सकता, इसलिये मुमुक्षु का कर्तव्य है, कि ज्ञान तथा योग का दृढ़ अभ्यास करे।' 'अज्ञान से ही संसार है, अतः ज्ञान से ही मुक्त होता है। आदि में ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही था, इसलिये परमेश्वर ज्ञेय के जानने का एकमात्र

ज्ञान ही साधन है।' प्राणी का आत्मस्वरूप अन्तःकरण उपाधियुक्त है। अन्तःकरण में मल, विक्षेप तथा आवरण दोष होते हैं, इनके कारण आत्मानुभूति नहीं होती। इन दोषों के निवारणार्थ कर्म, उपासना तथा ज्ञान का विधान है। कर्म से मल का प्रक्षालन, उपासना या योग-द्वारा विक्षेप-निवारण और ज्ञान-द्वारा आवरण-भङ्ग होता है : मल से विक्षेप सूक्ष्म है और विक्षेप से आवरण। यही क्रम कर्म, उपासना तथा ज्ञान में हैं। पहले कर्म-द्वारा मल-प्रक्षालन, फिर योग - द्वारा विक्षेप की निवृत्ति एवं अन्त में ज्ञान-द्वारा आवरण-भङ्ग होने पर मुक्ति होती है। गीता कहती है :

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

(गी० ६।३)

'—जो (भावी) मुनि योग पर आरुढ होना चाहता है, उसके लिए (अन्तःकरण-शुद्धि के निमित्त) उसका साधन कर्म कहा गया गया है और योगारूढ हो जाने पर, उसी के लिये शम—समस्त कर्मों का संन्यास—साधन कहा गया है।' श्रौत-स्मार्त कर्म-द्वारा मल-प्रक्षालन होने पर, विक्षेप-निवारणार्थ योग कर्तव्य है। यदि कोई समझता है, कि योग से ही मुक्ति होगी, तो कदापि सम्भव नहीं, क्योंकि मुक्ति तो ज्ञान से ही होती है। यदि कोई योगाभ्यास न कर केवल ज्ञान से ही मुक्ति चाहता है, तो यह भी सम्भव नहीं। क्योंकि जब तक विक्षेप-निवारण योग-द्वारा न होगा, तब तक ज्ञान में स्थिति नहीं हो सकती। विना ध्यान के केवल शास्त्रीय ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, इसी लिये श्रवण तथा मनन के उपरान्त निदिध्यासन का विधान है। अतः योग तथा ज्ञान दोनों का अभ्यास कर्तव्य है।

औपनिषद् सिद्धान्त के अनुसार ही गीता भी पथ-प्रदर्शिका है। ज्ञान का बहिरङ्ग साधन ध्यान है और ध्यान के बहिरङ्ग साधन आसन आदि हैं। ध्यान या योग से जब अन्तःकरण विक्षेप-रहित हो जाता है, तभी ज्ञान प्रकाशित होता है। इसी लिये **योगमात्मविशुद्धये** (गी० ६/१२) '—अन्तःकरण कीशुद्धि के लिये योग-साधन कर्तव्य है।' विना योग के केवल शास्त्रीय ज्ञानी योगी से निकृष्ट है, **ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः** (गी० ६/४६) '—ज्ञानियों से भी योगी अधिक है।' इसी अभिप्राय से कहा गया है। समाधिस्थ योगी का वर्णन गीता में इस प्रकार है :

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।
(गी० ६।८)

'—शास्त्रीय ज्ञान तथा उसके साक्षात्काररूप विज्ञान से तृप्त अन्तःकरण वाला, विचलित न होने वाला, जितेन्द्रिय और लोहा, पत्थर तथा सोने आदि में समदृष्टि रखने वाला योगी समाधिस्थ कहा जाता है ।' इसमें योगी ज्ञान-विज्ञान से तृप्त और लोहा, पत्थर, सुवर्ण आदि में समदृष्टि वाला कहा गया है । इससे सिद्ध होता है, कि योगी के लिये भी प्रपञ्च में मिथ्यात्व बुद्धि और ज्ञानपूर्वक आत्मानुभूति कर्तव्य है । तभी उसकी दृष्टि सम होगी और वह समाधिस्थ होगा ।

योग-साधन तथा आहार-विहार आदि का भी गीता में संक्षिप्त वर्णन है । योगाभ्यासी शुद्ध प्रदेश तथा एकान्त स्थान में ध्यान का अभ्यास करे । बैठने के लिये कुशासन, उसके ऊपर मृगचर्म और मृगचर्म के ऊपर वस्त्र होना चाहिये, आसन न अधिक ऊँचा हो, न नीचा । जिस आसन से अधिक समय तक स्थिर होकर बैठा जा सके, उसी आसन से देह, शिर तथा ग्रीवा को एक समान कर, इधर-उधर न देखता हुआ, दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में स्थिर करे । न नेत्र पूर्णरूपेण खुले हों और न बन्द, क्योंकि खुले होने से विक्षेप और बन्द होने से निद्रा की सम्भावना रहती है, अतः नेत्रों को आधा खुला रखना चाहिये । 'नासिका के अग्रभाग' का यह तात्पर्य नहीं, कि नाक की नोक में दृष्टि स्थिर करे । किन्तु इसका तात्पर्य है, कि मानो नासिकाग्र में दृष्टि स्थिर है, इस प्रकार अन्तःकरण का समाधान करे । सर्वत्र निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान ब्रह्म स्थित है, उसमें दृष्टि स्थिर करे । दृष्टि दृश्य में न जाकर ब्रह्म में ही स्थिर रहे । दृष्टि के साथ मन भी जाता है, अतः मन को ब्रह्म में स्थित करे । मन ब्रह्माकाराकारित होकर निरन्तर सजातीय वृत्ति से जब प्रवाहित होने लगता है, तब इसी स्थिति को 'योग' या 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहा जाता है । इस योग का फल भगवान् कहते हैं :

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।
(गी० ६।१५)

'—उक्त रीति से मन को सर्वदा आत्मा में समाहित करता हुआ, योगी मुझमें स्थित निर्वाणदायिनी शान्ति-पाता है ।'

योगी पुरुष नियमित आहार-विहार करे। क्योंकि अधिक भोजन करने से अजीर्ण होकर व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, रोग-होने पर, योग-साधन असम्भव है। सर्वथा भोजन न करने से, शरीर शिथिल हो जाता है, इस स्थिति में योग नहीं हो सकता। अतः साधारण, सुपाच्य और पौष्टिक भोजन करना चाहिये। उदर का आधा भाग अन्न से पूर्ण करे, चौथाई भाग जल से और शेष चौथाई भाग वायु-सञ्चार के लिये रखे। योगी न अधिक सोये, न अधिक जागे। अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्ण और अत्यन्त वायु-चलने पर भी योगाभ्यास नहीं करना चाहिये। जिसके, आहार, विहार, चेष्टा तथा सोना, जागना नियमपूर्वक होते हैं, उसी का दुःखनाशक योग सिद्ध होता है। इस लोक तथा स्वर्गलोक के विषय-भोगों में घृणाबुद्धि होने से, विषयों में अरुचि उत्पन्न होती है। फिर भी मन से समस्त इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिये। क्योंकि मन-द्वारा इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं और मन ही विषय-सुखास्वादन करता है। अतः मन-द्वारा विषय-भोगों की नश्वरता निश्चय कर, इन्द्रियों को विषय-पदार्थों से विलग करना चाहिये। इन साधनों-द्वारा पथ-प्रशस्त होने पर, मन आत्मा में स्थित करने के लिये भगवान् कहते हैं :

शनैः शनैरुपरमेतद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यै तदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥

(गी० ६।२५-२७)

'—धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को क्रमशः विषयों से उपरत करे और मन आत्मा में स्थित कर, अन्य किसी का भी चिन्तन न करे।' 'अस्थिर तथा चञ्चल मन जिस-जिस विषय-पदार्थ के लिये बाहर जाता है, उस-उस विषय से हटाकर, आत्मा में ही स्थापित करे।' 'जिसका मन प्रशान्त है, रजोगुण क्षीण हो गया है और अधर्मादि दोषरहित है, वह जीवन्मुक्त योगी उत्तम सुख-प्राप्त करता है।' शरीर से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से आत्मा श्रेष्ठ है। इस उत्कर्षापकर्ष का निश्चय कर, अपकर्ष से उत्कर्ष की ओर बढ़ने का प्रयत्न ही मानव की मानवता है, यही पूर्णता है। पूर्ण और सबसे श्रेष्ठ आत्मा है, आत्मा में स्थित

होने पर, सम्पूर्ण दुःखों का अभाव और परिपूर्ण सुख की प्राप्ति होती है। श्रुति ने रथ-रूपक-द्वारा शरीरादि का सुन्दर वर्णन किया है :

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।
(कठ० १।३।३-४)

'—कर्मफल भोक्ता आत्मा रथ का स्वामी जानो, शरीर को रथ समझो, निश्चयस्वरूपा बुद्धि को सारथि जानो और संकल्प-विकल्पात्मक मन को लगाम समझो।' 'विवेकशील पुरुष चक्षु आदि इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं, रूपादि विषयों को घोड़ों के मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।' यदि बुद्धिरूपी सारथि अकुशल है, तो इन्द्रियरूपी अश्व स्वतंत्रता पूर्वक विषय-मार्ग में विचरण करते हैं। ऐसी स्थिति में जीव कुश, कण्टकयुक्त विषम स्थान में गिर कर, महान् दुःख पाता है। यदि बुद्धिरूपी सारथि कुशल होता है, तो अश्वों को लगाम-द्वारा अपने वश में कर, सम मार्ग की ओर ले जाता है, जहाँ रथी यानी जीव परमानन्द-प्राप्त करता है। तात्पर्य यह, कि विवेकवती-बुद्धि-द्वारा, मन-निग्रह करना चाहिये, मन में संकल्प-विकल्प का स्फुरण न हो, और विषय की ओर भी न जाय। मन से इन्द्रियों को रोकना चाहिये, इन्द्रियों-द्वारा ही विषयोपभोग होते हैं। अतः इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से, मन ही रोक सकता है। क्योंकि यदि इन्द्रियों के साथ मन का सहयोग न हो, तो इन्द्रियों को विषय का भान ही न होगा। इसलिये इन्द्रियाँ मन में स्थापित करे, मन बुद्धि में और बुद्धि आत्मा में स्थापित करे। बुद्धि सदैव आत्माकार या अनात्माकार रहती है। अनात्म-पदार्थ के तिरस्कारपूर्वक बुद्धि को आत्माकाराकारित ही रखना चाहिये। जिस प्रकार घट सदैव आकाश से पूर्ण रहता है, अथवा अन्नादि किसी पदार्थ से। आकाश से पूर्ण तो उत्पन्न ही होता है और पुरुष-द्वारा अन्य पदार्थ से पूर्ण किया जाता है। इसी प्रकार चित्त भी आत्मा से पूर्ण होता है और पीछे पुरुष-द्वारा वैषयिक वासना से पूर्ण किया जाता है। घट में आकाश-भरने के लिये किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि घट आकाश से पूर्ण ही है, आवश्यकता है केवल अन्य पदार्थ हटाने की। ऐसे ही चित्त से भी वैषयिक वासना निकालने की आवश्यकता है, आत्मा-प्राप्त करने की उपेक्षा नहीं। क्योंकि आत्मा तो परिपूर्ण ही है। जब

चित्त वृत्तिशून्य होता है, तब आत्माकार ही होता है। किन्तु इस स्थिति में कोई अनुभूति नहीं होती। अतः चित्त के वृत्तिशून्य होने पर, आत्माकाराकारित ज्ञान-वृत्ति से आत्मानुभव करना ही समाधि है, यही ज्ञानावस्थिति है, इसे ही 'सम्प्रज्ञात समाधि' भी कहा जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि में आत्मानुभूति होती है, फिर उस अनुभूति का भी चिन्तन न करना 'असम्प्रज्ञात समाधि' है। **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्** (गी० ६/२५) से यही कहा गया है, कि मन को अपने अधिष्ठान में स्थापित कर अर्थात् वृत्तिशून्य, स्वभावसिद्ध, आत्माकारमात्र कर, न आत्मा का चिन्तन करे, न अनात्मा का। क्योंकि आत्माकार वृत्ति होने पर 'सम्प्रज्ञात समाधि' हो जायगी और अनात्माकार वृत्ति होने पर व्युत्थान। इसलिये किसी प्रकार चित्त-वृत्ति उत्पन्न न होने पर ही, 'असम्प्रज्ञात समाधि' की स्थिरता होती है।

मन अतीव चञ्चल है, कभी स्थिर नहीं रहता। चञ्चल स्वभाव ही है मन का, साथ ही प्राण का संयोग और वासना का सम्मिलन होने से अस्थिरता और भी तीव्र हो जाती है। प्राण की गति नीचे-ऊपर होती है, प्राण के साथ मन कभी नीचे जाता है और कभी ऊपर। शरीर में महत्त्वपूर्ण चार केन्द्र हैं—मस्तक, नेत्र, कण्ठ और हृदय। जब प्राण के साथ मस्तक में आता है, तब आत्माकार होने से, आत्म-प्रतीति होती है, नेत्र में आने पर बाह्य विषयों की, कण्ठ में आने पर वासनात्मक पदार्थों की और हृदय में जाने पर निद्रानुभूति होती है। इसलिये साधक का कर्तव्य है, कि मन जिस ओर भी जाय, वहाँ से हटा कर पुनः-पुनः आत्मा में ही स्थापित करे। विषयों में दोषदृष्टि करने से, मन में वैराग्य उत्पन्न होता है, तब मन को आत्मा में स्थापित करने का अभ्यास करना चाहिये। जितना अभ्यास और वैराग्य होगा, उतना ही मन विषयों से उपरत होकर आत्मा में स्थित होगा। यदि प्राण की गति से अधिक विक्षेप होता हो, तो प्राणायाम-द्वारा प्राणों को अवरुद्ध कर, मन-रोकना चाहिये। इसी लिये कहा है—**प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्य-न्तरचारिणौ** (गी० ५/२७) '—प्राण तथा अपान की ऊपर-नीचे की गतियों को रोक कर, कुम्भक-द्वारा समान कर, नासिका के भीतर ही गतिशील कर, मन-रोकने का अभ्यास करना चाहिये।' इस प्रकार धैर्यपूर्वक शनैः-शनैः अभ्यास करने पर, वासना-क्षीण हो जाती है और वासना-क्षीण होने पर फिर प्राण की गति से भी मन चञ्चल नहीं होता।

मन जब वासना तथा प्राणरहित हो जाता है, तब तमोगुण तथा रजोगुण

की भी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये फिर न तो विक्षेप होता है, न लय। अत्यन्त शान्त–वृत्तिशून्य मन हो जाता है, वृत्तिशून्य होने से ही मनोनाश कहा जाता है। इस स्थिति में उत्तम सुख प्राप्त होता है। किन्तु सुखास्वादन करने से, सविकल्पवृत्ति हो जाती है और समाधि से व्युत्थान की हेतु होने से, समाधि की विरोधी है, अतः सुखास्वादन नहीं करना चाहिये। अखण्ड, अनन्त सुखस्वरूप होकर, शान्त स्थिर रहना चाहिये। यही जीवन्मुक्ति है।

सम्प्रज्ञात समाधि या आत्माकाराकारित मन की स्थिति में आत्मानन्दानुभूति होती है। तभी 'महावाक्य' जनित तत् पद तथा त्वं पद के लक्ष्यार्थ शुद्ध चेतनतत्त्व का ऐक्य प्रकाशित होता है। **तत्त्वमसि** (छा० ६/८/७) '—वह तू ही है', अथवा **अहं ब्रह्मास्मि** (बृ० १/४/१०) '—मैं ब्रह्म ही हूँ', इन महावाक्यों में 'तत्' तथा 'ब्रह्म' पद सर्वज्ञ ईश्वर के लिये आया है, 'त्वं' तथा 'अहं' पद अल्पज्ञ जीव के लिये और 'असि' तथा 'अस्मि' पद से, ईश्वर-जीव की एकता कही गई है। सर्वज्ञता तथा अल्पज्ञता में विरोध है, इसलिये वाच्यार्थ में एकता नहीं हो सकती, अतः भागत्यागलक्षणा-द्वारा लक्ष्यार्थ में एकता सिद्ध होती है। ईश्वर की सर्वज्ञता और जीव की अल्पज्ञतारूप उपाधि का परित्याग करने पर, एक, अखण्ड, चेतनतत्त्व ही शेष रहता है। इस स्थिति में न ईश्वर है, न जीव। अखण्ड, अनन्त, चिदानन्द-रस सागर ही सर्वत्र प्रतीत होता है। प्रलयकालीन समुद्र में जैसे बुद्बुदादि की प्रतीति हो, वैसे ही व्युत्थित होने पर, चिदानन्दसागर में सम्पूर्ण विश्व की प्रतीति होती है। इसी स्थिति का गीता वर्णन करती है :

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥

(गी० ६।२९)

'—समाहित अन्तःकरणसंयुक्त और सर्वत्र समदृष्टिसम्पन्न योगी, अपने आत्मा को सब भूतों में स्थित और आत्मा में सब भूतों को देखता है।' ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में, एकमात्र आत्म-दर्शन करता है और आत्मा में सम्पूर्ण भूतों का दर्शन। घट, मठ, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देव, दानव, मानव आदि में एक ही आकाश है और आकाश में ये सब हैं, इसी प्रकार योगी सर्वत्र समदर्शन करता है। तात्पर्य, आकाश ही वायु, अग्नि, जल तथा भूमि होकर और फिर पञ्चीकरण-द्वारा विविध योनियों में परिवर्तित होता है एवं सभी योनियों के भीतर भी स्थित

होता है। सब भूत भी आत्मा में ही स्थित हैं। इस प्रकार योगी आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करता है। यह 'त्वं' अथवा 'अहं' पद के लक्ष्यार्थ का दर्शन है। इसी प्रकार 'तत्' अथवा 'ब्रह्म' पद के लक्ष्यार्थ का वर्णन भगवान् करते हैं :

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गी० ६।३०)

'—जो मुझको सर्वत्र देखता हैऔर मुझमें सम्पूर्ण जगत् को देखता है, उसके लिये मैं कभी अप्रत्यक्ष नहीं होता और वह भी मुझसे परोक्ष नहीं होता।' जो चतुर्दिक प्रलयकालीन समुद्र के समान सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म का सर्वत्र दर्शन करता है और समुद्र में तरंग, फेन, बुद्बुदादि के समान समस्त विश्व का दर्शन करता है। उसके लिये परब्रह्म ईश्वर कभी परोक्ष नहीं होते अर्थात् 'ईश्वर मुझसे भिन्न हैं'—इस प्रकार कभी ईश्वर परोक्षज्ञान के विषय नहीं होते। इसी भाँति ईश्वर के लिये भी वह कभी परोक्ष नहीं होता, क्योंकि **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्** (गी० ७।१८) के अनुसार ज्ञानी तो ईश्वर का आत्मा ही है। आत्मा सर्वदा प्रत्यक्ष ही होता है, परोक्ष नहीं। 'तत्' पद के लक्ष्यार्थ-प्रतिपादन के उपरान्त भगवान् 'असि' या 'अस्मि' पद के अर्थ का वर्णन करते हैं :

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थिताः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
(गी० ६।३१)

'—'सब ब्रह्म ही है' इस ऐक्य में स्थित जो पुरुष सब भूतों में स्थित मुझको भजता है, वह योगी सब व्यवहार करता हुआ भी, मुझमें ही वर्तता है।' 'तत्' पद के लक्ष्यार्थ सच्चिदानन्दस्वरूप को सम्पूर्ण भूतों का अधिष्ठान समझ और 'त्वं' पद के लक्ष्यार्थ सच्चिदानन्दस्वरूप अपने आत्मा को जान कर, अभेद पूर्वक भजन यानी 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार साक्षात् अनुभव होता है। घटाकाश, महाकाश, और घट के एकत्वपूर्वक एकमात्र 'आकाश ही है'—इस अनुभव के समान ही जीव, ईश्वर तथा विश्व के एकत्व का अनुभव 'सब ब्रह्म ही है' होता है। इस एकत्वदर्शन-सम्पन्न योगी की अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति हो जाती है। वह जीवन्मुक्त तथा कृतकृत्य होता है। सब कर्म करता हुआ या कुछ भी न करता हुआ, परमेश्वर

में ही स्थित रहता है, परमेश्वर में ही व्यवहार करता है और शरीर के न रहने पर भी, परमेश्वर में ही स्थित रहता है, तात्पर्य सभी अवस्थाओं में मुक्त ही है। इस योगी का समस्त प्राणियों के साथ कैसा व्यवहार होता है ? इस पर भगवान् प्रकाश डालते हैं :

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।
(गी० ६।३२)

'—अर्जुन ! अपनी सदृशता से जो योगी सब भूतों में समान सुख तथा दुःख को देखता है, वह मेरे मत से श्रेष्ठ योगी है।' जिस बात से मुझे दुःख होता है, उसी बात से दूसरों को भी दुःख होता है और जिससे मुझे सुख होता है, उसी से दूसरों को भी सुख होता है। इस प्रकार अपने ही समान सबका सुख-दुःख जानने वाला योगी सबके दुःख-निवारण और सुख के लिये ही चेष्टा करता है। उसकी राग-द्वेषशून्य यही इच्छा होती है, कि अविद्याजनित सांसारिक दुःखों से सभी प्राणी मुक्त होकर, ईश्वरस्वरूप में स्थित हो, परम सुखी हों। यह योगी सबसे उत्तम कहा जाता है।

इस प्रकार प्रथम कर्मानुष्ठान, फिर योग और योग-द्वारा ज्ञान प्राप्त कर पुरुष सर्वोच्च स्थिति मुक्ति-प्राप्त करता है। किन्तु जिसने कर्मानुष्ठान से योग में प्रवेश किया तथा साधन में तत्परतापूर्वक संलग्न होने पर भी सफलता न मिली और मृत्यु हो गई, तो वह न कर्मानुष्ठान में सम्पन्नता-प्राप्त कर स्वर्ग का अधिकारी हुआ, न ज्ञान से मुक्ति ही प्राप्त की, ऐसे पुरुष की क्या गति होती है ? क्या वह वायु से मेघों के छिन्न-भिन्न होने के समान, कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग से भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाता है ? इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न पर, भगवान् ने बतलाया, कि शुभ कर्म करनेवाले की कभी दुर्गति नहीं होती, न इस लोक में, न परलोक में। उसकी गति का वर्णन करते है :

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।
(गी० ६।४१-४३)

'--योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यकर्मों से प्राप्य स्वर्गादि लोकों में जाकर, अनेक वर्षों तक निवास कर, फिर शुद्ध और श्रीमान् पुरुषों के गृह में जन्म लेता है।' 'अथवा बुद्धिमान् योगियों के कुल में जन्म लेता हैं, लोक में इस प्रकार का जन्म अत्यन्त दुर्लभ है।' 'कुरुनन्दन ! योगियों के कुल में जन्म लेकर, वह पूर्वजन्म के बुद्धिसंयोग को पाता है, पूर्व-संस्कार के बल से पुनः पूर्ण सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है।' योगभ्रष्ट कर्मी पुरुषों के फल का अतिक्रमण कर जाता है। वह स्वर्गलोक तो प्राप्त करता ही है, किन्तु वहाँ से फिर इस लोक में पवित्र और धनसम्पन्न राजाओं के कुल में जन्म लेकर जनक आदि राजाओं के समान ऐश्वर्य-भोग तथा साधन में पुनः प्रवृत्त होता है। जिसमें ऐश्वर्य-भोग की कामना नहीं है, उसका तत्काल जन्म ब्रह्म-विद्यावान् दरिद्र ब्राह्मण कुल में होता है। वहाँ शुकदेव आदि के समान जन्म से ही पूर्व संस्कार का उदय हो, योग तथा ज्ञान में उसकी प्रवृत्ति होती है। निश्चय ही इस प्रकार का जन्म दुर्लभ है और उत्तम भी। इस तरह योग कभी निष्फल नहीं होता, अनेक जन्मों के संस्कारों से सिद्ध होकर योगी परमगति पा लेता है।

जो योगी योगाभ्यास-द्वारा ज्ञानक्षेत्र में प्रवेश कर, महावाक्यजनित अभेद-दर्शन करता है, 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस सम्यग्दर्शन में प्रतिष्ठित है, वह जीवितावस्था में ही मुक्त है। मृत्यु के अनन्तर ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं होते, वह किसी भी लोक में नहीं जाता। योगभ्रष्ट भी स्वर्गलोक से पुनः जन्म लेकर, योगाभ्यास या ज्ञानयोग से परम गति-पा लेता है। किन्तु जो योगी योगाभ्यास से ही सिद्ध हो गया यानी आत्मदर्शन कर चुका है, किन्तु न तो ज्ञान में प्रवेश का इच्छुक है और न ज्ञान की स्थिति में है, उसकी क्या दशा होगी ? वह मुक्त होगा या नहीं ? यदि मुक्त होगा तो कैसे ? इसके निर्णय के लिये भगवान् कहते हैं :

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूध्न्यार्धायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(गी ८।१२-१३)

'—समस्त इन्द्रियगोलकों का संयम कर, मन को हृदय में रोक कर और अपने प्राणों को मस्तक में स्थापन कर, योगधारणा के लिये प्रवृत्त हुआ योगी।' 'ॐ'

इस एक अक्षर नामक ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा चिन्तन करता हुआ, जो शरीर त्याग करता है, वह परम गति-प्राप्त करता है।' सबसे श्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सनातन, सर्वशासक, सम्पूर्ण प्राणियों के कर्मफलदाता, अणु से अणु तथा महान् से महान् ईश्वर हैं, वही प्राणियों की परम गति हैं। योगी मृत्यु के अनन्तर इसी परम गति को प्राप्त करते हैं। किन्तु स्वर्ग के समान यहाँ से पुनरागमन होता है या नहीं? इस शंका का समाधान करते हुए भगवान् बोले:

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युग सहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

(गी० ८।१६-१९)

'—अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनर्जन्म कराने वाले हैं, किन्तु कौन्तेय ! एक मुझे प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता।' 'ब्रह्मा के दिन के आरम्भ होने पर, सुषुप्ति से समस्त प्रजायें उत्पन्न होती हैं और ब्रह्मा की रात्रि आने पर अव्यक्त नामक निद्रा में सब प्राणी लीन हो जाते हैं।' 'पार्थ ! पूर्वकल्प के वही भूत समुदाय ब्रह्मा की रात्रि आने पर, कर्मवश लीन होते हैं और दिन आने पर पुनः उत्पन्न होते हैं।' ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावर्तनशील हैं, क्योंकि वे काल से परिच्छिन्न हैं। मनुष्यों के काल-परिमाण और देवों के काल-परिमाण में अन्तर है। इसी प्रकार देवों के परिमाण से ब्रह्मा का काल-परिमाण भी पृथक् ही है। मनुष्यों का छः मास का उत्तरायण और छः मास का दक्षिणायन होता है, दोनों मिल कर मनुष्यों के एक वर्ष होते हैं। किन्तु उत्तरायण देवों का एक दिन और दक्षिणायन एक रात्रि होती है। इस प्रकार देवों के ३६० दिन या एक वर्ष के समान मनुष्यों के ३६० वर्ष होते हैं। 'मनुस्मृति' १, ६९-७० में युगों का परिमाण बताया है, वहाँ देववर्ष से एक सहस्र वर्ष कलियुग, दो सहस्र द्वापर, तीन सहस्र त्रेता और चार

सहस्र वर्ष कृतयुग कहा गया है। एक युग समाप्त होने पर, दूसरे का आरम्भ तुरन्त नहीं होता, मध्य में कुछ वर्ष सन्धिकाल के व्यतीत होते हैं। युग के आदि के सन्धि-काल को 'सन्ध्या' और अन्त के सन्धि काल को 'सन्ध्यांश' कहा जाता है। प्रत्येक युग में सन्ध्या और सन्ध्यांश के वर्ष भी सम्मिलित किये जाते हैं। कलियुग में देवबर्ष के परिमाण से दो सौ वर्ष सन्ध्या तथा सन्ध्यांश के होते हैं, द्वापर में चार सौ वर्ष, त्रेता में छः सौ वर्ष और कृतयुग में आठ सौ वर्ष होते हैं। इस तरह कलियुग के १२०० देववर्ष हुये, इनको मानव वर्ष बनाने के लिये ३६० से गुणित करने पर ४,३२,००० वर्ष कलियुग के होते हैं। इसी तरह द्वापर के ८,६४,००० वर्ष, त्रेता के १२,९६,००० वर्ष और कृतयुग के १७,२८,००० वर्ष होते हैं। चारों युगों का योग ४३,२०,००० वर्ष हुये, यह एक चतुर्युग का परिमाण है। ऐसे ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है, एक मन्वन्तर में ३०,६७,२०,००० वर्ष हुये। इस तरह के १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है, कल्प में वर्षों की संख्या ४,२९,४०,८०,००० होती है। प्रत्येक मन्वन्तर के आदि तथा अन्त में सन्ध्या तथा सन्ध्यांश के वर्षों का योग भी होना चाहिये। मन्वन्तर के सन्ध्या तथा सन्ध्यांश के वर्ष कृतयुग के बराबर के होते हैं अर्थात् १७,२८,००० वर्ष। १४ मन्वन्तर के १५ सन्ध्या तथा सन्ध्यांश होते हैं, अतः १५ से गुणित करने पर २,५९,२०,००० वर्ष हुये, इन्हें कल्प की वर्ष संख्या में जोड़ने से ४,३२,००,००,०००(चार अरब बत्तीस करोड़) वर्ष होते हैं। यह एक कल्प का परिमाण है। एक कल्प ब्रह्मा का एक दिन होता है और इतनी ही ब्रह्मा की एक रात्रि। रात्रि-आने पर समस्त सृष्टि का संहार होता हैं और दिन होने पर पुनः सृष्टि का विकाश। इस तरह आठ अरब चौसठ करोड़ वर्षों की एक दिन-रात्रि ब्रह्मा की होती है। ब्रह्मा की पूर्णायु है १०० वर्ष, अतः ३६००० से उपर्युक्त संख्या गुणित करने पर ३१,१०,४०,००,००,००,००० (इकतीसनील,१० खबर, ४०अरब) मानव वर्षों से ब्रह्मा की पूर्णायु होती है, इसे एक ब्राह्मकल्प कहा जाता है। ब्राह्मकल्प पूर्ण होने पर ब्रह्मलोक का विनाश होता है। अतः ब्रह्मलोक प्राप्त करने वाले पुरुषों का पुनरागमन होता है। किन्तु जो पुरुष ईश्वर को प्राप्त होते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता, यही भगवान् कहते हैं :

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
अव्यक्तोऽक्षरइत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ॥
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(गी० ८।२०-२१)

'—ब्रह्मा नामक उस अव्यक्त से भिन्न, जो इन्द्रियों से अव्यक्त और सनातन भाव है, वह सब भूतों के नाश होने पर भी नाश नहीं होता।' 'वह 'अव्यक्त' तथा 'अक्षर' कहा गया है, उसी को श्रेष्ठ गति भी कहते हैं, जिसे प्राप्त कर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परम धाम है।' 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में भी कहा है :

तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ।

(श्वे० १।११)

'—उसे परमेश्वर के ध्यान से, शरीरपात के अनन्तर (विराट् तथा ब्रह्मा की अपेक्षा कारण ब्रह्मरूप) सर्वेश्वरमयी तृतीय अवस्था की प्राप्ति होती है और फिर आप्तकाम होकर, कैवल्यपद -प्राप्त करता है।' परमेश्वरीय ध्यान के प्रताप से सर्वज्ञ, सर्वेश्वर परमेश्वर को मृत्यु के अनन्तर पुरुष प्राप्त होता है। वहाँ ब्रह्म को आत्मस्वरूप जान कर पूर्णकाम हो जाता है और मुक्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार जिन योगियों को यहाँ ज्ञान नहीं होता, वह कारणस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त कर, ज्ञानानुभूति के अनन्तर मुक्त हो जाते हैं।

'योगी मृत्यु के अनन्तर परमेश्वर को कैसे प्राप्त करता है?' इसका उत्तर गीता में संक्षेपपूर्वक दिया गया है :

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

(गी० ८।२४)

'—जिस मार्ग में अग्निकालाभिमानी देवता, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः मास के अभिमानी देवता हैं, योगी मृत्यु के उपरान्त उसी मार्ग से क्रमशः ब्रह्मलोक मे जाते हैं।' इस मार्ग का उपनिषदों में विस्तार से वर्णन मिलता है। हमने भी 'ब्रह्मतत्त्व' में उल्लेख किया है। मार्ग का क्रम इस प्रकार है—मृत्यु के अनन्तर प्रथम अर्चिरभिमानी देवता को प्राप्त होता है, अर्चिरभिमानी देवता से दिवसाभिमानी देवता को, फिर शुक्लपक्षाभिमानी देवता को, उससे उत्तरायण के छः मासाभिमानी देवता को, उससे संवत्सराभिमानी देवता को, फिर देवलोकाभि-मानी देवता को, उससे वायुलोकाभिमानी देवता को, पुनः आदित्य लोकाभिमानी देवता को, आदित्य से चन्द्रलोकाभिमानी देवता को, चन्द्रमा से विद्युत् लोकाभिमानी देवता को, विद्युत् से अमानव पुरुष योगी अथवा उपासक को वरुणलोक, इन्द्रलोक

और प्रजापति लोक होकर, ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के पास पहुँचाता है। ब्रह्मलोक में ब्रह्म को अपना स्वरूप जानकर, परमेश्वर को पा लेता है अर्थात् परमेश्वरस्वरूप ही हो जाता है। फिर उसका पुनरागमन नहीं होता, वह सदैव शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप ही होता है। इस तरह योग-प्रभाव से योगी मुक्त हो जाता है। इसीलिये भगवान् कहते हैं: **तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन** (गी० ८।२७) '—अतः अर्जुन! तुम सब समय योगयुक्त हो।'

———

ज्ञानगर्भित भक्ति

योगानुष्ठान अथवा साध्य-साधन भक्ति-द्वारा जिस ईश्वर का भजन किया जाता है, वह ईश्वर कैसा है ? उसका ऐश्वर्य क्या है ? वह एकदेशीय है अथवा सर्वदेशीय ? जड है या चेतन ? क्या भक्तों पर प्रसन्न होता है और अभक्तों पर अप्रसन्न ? एवं जीव-ईश्वर का क्या सम्बन्ध है ? इस प्रकार अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। इनके उत्तर भी गीता में भगवान्-द्वारा दिये गये हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपना स्वरूप और सम्पूर्ण भूतों का सम्बन्ध बतलाते हैं :

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।

(गी० ९।४-६)

'—मुझ अव्यक्तस्वरूप-द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, मुझमें सब भूत स्थित हैं, किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।' 'वास्तव में सब भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरे इस ईश्वरीय योग को देखो, भूतभावन मेरा आत्मा भूतों का भरण-पोषण करता है, किन्तु भूतों में स्थित नहीं है।' 'जैसे सर्वत्र गमनशील महान् वायु सदा आकाश में ही स्थित है, वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जानो।' वसुदेव-पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण तो परिच्छिन्न और व्यक्त हैं, फिर उनके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् कैसे व्याप्त है? यह तो प्रत्यक्ष-विरुद्ध है? इसी आशंका-निवारणार्थ भगवान् का कथन है,कि मुझ'अव्यक्त-स्वरूप-द्वारा' यानी जो किसी भी इन्द्रिय तथा प्रमाण-द्वारा ज्ञात न हो, वह मेरा स्वरूप है। यदि कहा जाय कि 'उपनिषद्-प्रमाण-द्वारा भगवत्स्वरूप ज्ञात होता है, क्योंकि **अस्थूलम्** (बृ० ३/८/८) और **सत्यं ज्ञानमनन्तं** ब्रह्म(तै० १/१)'–स्थूल नहीं' और 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त है', से ईश्वर-स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।' तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति 'अस्थूलम्' से सम्पूर्ण दृश्यवर्ग का निषेध करती है यानी सम्पूर्ण दृश्यवर्ग से जो विलक्षण है, वह ब्रह्म है, इस प्रकार साक्षात् नहीं कहती। दूसरी श्रुति भी ईश्वरस्वरूप का प्रतिपादन नहीं करती, उसका तात्पर्य यह है, कि ब्रह्म असत्, जड और परिच्छिन्न से विलक्षण है। इस प्रकार उपनिषद् भी साक्षात् ईश्वरस्वरूप का प्रतिपादन नहीं करते, इसी लिए 'अव्यक्त' कहा है। निष्कर्ष यह कि ईश्वरस्वरूप निर्विशेष, अपरिच्छिन्न, सत्, चेतन, आनंद और अव्यक्त है। जैसे सम्पूर्ण रूपवान् जड पदार्थ सूर्य-प्रकाश से व्याप्त होकर ही, नेत्र से ग्रहीत होते हैं, वैसे ही अव्यक्तस्वरूप ईश्वर-द्वारा सम्पूर्ण जगत् बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त होकर ही, इन्द्रियों-द्वारा व्यवहार-योग्य होता है, अव्याप्त होकर नहीं। अपरिच्छिन्न ईश्वर में ही ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त समस्त भूत वैसे ही स्थित हैं, जैसे सागर में तरंग, बुद्बुद् आदि। बिल में सर्प के समान ईश्वर भूतों में स्थित नहीं है, क्योंकि अनन्त ईश्वर में दूसरा कोई है ही नहीं। यदि प्रतीत होता है तो रज्जु में सर्प के समान कल्पित है, सत्य नहीं। इसलिये जैसे रज्जु में कल्पित सर्प की सत्ता प्रतीति होती है, किन्तु रज्जु में सर्प की सत्ता नहीं है। वैसे ही ईश्वर में कल्पित जगत् की सत्ता प्रतीत होती है,किंतु जगत् में ईश्वर की सत्ता नहीं है। प्रकाश-द्वारा अन्धकार-निवारण होने पर सर्प-दर्शन नहीं होता, एकमात्र रज्जु का ही दर्शन होता है, इसी प्रकारज्ञान-द्वारा अज्ञान-विनाश होने पर,जगत्-दर्शन नहीं होता,एकमात्र ईश्वर ही प्रदर्शित होता है। इस दृष्टि से व्याप्य-व्यापक कल्पना मात्र है। समस्त भूत या जगत् हैं ही नहीं, तब न ईश्वर में भूत हैं और न भूतों में ईश्वर। साधारण पुरुष इस गम्भीर तत्त्व को नहीं समझते, किन्तु विवेकसम्पन्न पुरुष भली भाँति जानते हैं।

यद्यपि ईश्वर आधार-आधेय विवर्जित है, तथापि ईश्वरीय माया का प्रभाव अत्यन्त विलक्षण है। वह अघटनघटनापटीयसी है, जो न हो सके, उसे भी करके दिखा देती है। इसी माया के प्रभाव से ईश्वर में सब भूत हैं और सब भूतों में ईश्वर। उपादानरूप से ईश्वर ही समस्त भूतों को धारण तथा पोषण करते हैं और निमित्तरूप से सम्पूर्ण भूतों को उत्पन्न करते हैं। माया-द्वारा ही ईश्वर जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। किन्तु वास्तव में तो ईश्वर असंग, अद्वितीय, सच्चिदानन्दघन ही हैं। जल में तरङ्ग,फेन, बुद्बुद् आदि जैसे जल ही हैं, वैसे ही आकाशादि भूत और जीव सब ईश्वरीय तरङ्ग होने से, ईश्वरस्वरूप ही हैं। किन्तु ईश्वरीय माया अपने गुणों से सभी प्राणियों को मोहित किये है, इसीसे वे अपने स्वरूप को नहीं जानते। यही भाव भगवान् व्यक्त करते हैं:

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।
(गी० ७।१३)

'—सत्त्व, रज तथा तमोगुणमय पदार्थों में राग, द्वेष तथा मोह आदि भावों से समस्त जगत् मोहित हो रहा है, इस लिये गुणों से विलक्षण, अविनाशी मुझ परमेश्वर को नहीं जानता।' सम्पूर्ण विश्व माया के गुणों से ओत-प्रोत है। कोई भी माया का अतिक्रमण नहीं कर सकता, क्योंकि विश्व के अतिरिक्त प्राणी कहीं जा नहीं सकता। किन्तु जो ईश्वर की शरण हैं, वह इसके अपवाद हैं, यही कहते हैं:

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।
(गी० ७।१४)

'—इस त्रिगुणमयी मेरी माया का अतिक्रमण करना अतीव कठिन है, जो मेरी ही शरण में आते हैं, वह माया से पार हो जाते हैं।' अतः

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।
(गी० १८।६२)

'—भारत ! तुम सर्वभाव से उस ईश्वर की ही शरण जाओ, उसकी प्रसन्नता से परम शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त करोगे।' 'हे प्रभो ! मैं आपकी शरण हूँ, संसार-सागर में निमग्न मेरा आप ही उद्धार करिये'। इस भावना से सर्वात्मस्वरूप ईश्वर के शरण जाना चाहिये। ईश्वरानुग्रह से, आत्मविज्ञान-द्वारा, सर्वश्रेष्ठ उपरति तथा चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति होगी। यही भाव उपनिषद् में भी कहा गया है :

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
(श्वे० ६।१८)

'—जो सृष्टि-आरम्भ काल में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदों को प्रवृत्त करता है, अपनी बुद्धि को प्रकाशित करने वाले, उस देव की मैं मुमुक्षु शरण लेता हूँ।' तात्पर्य संसार के अभिन्न निमित्तोपादान ज्योतिर्मय ईश्वर के प्रसन्न होने पर, बुद्धि प्रपञ्चरहित ईश्वर विषयणी होकर, ईश्वराकार हो जाती है। क्योंकि मुमुक्षुकामी पुरुष ईश्वरस्वरूपा मुक्ति के अतिरिक्त, किसी अन्य फल की कामना नहीं करता। अतः दुःखमय संसार से निवृत्त होने के लिये और परम शान्ति-प्राप्ति के लिये ईश्वर-शरण ही श्रेष्ठ साधन है।

ईश्वर-प्रसन्नता जीव पर स्वभावतः है। क्योंकि जीव ईश्वर स्वरूप ही है और अपने ऊपर सबकी प्रसन्नता होती है। यद्यपि ईश्वर अपरिच्छिन्न, सर्वज्ञ तथा सर्वसमर्थ है और जीव परिच्छिन्न, अल्पज्ञ तथा असमर्थ है, तथापि जीव ईश्वर से भिन्न नहीं है। क्योंकि सत्, चित्, आनन्दस्वरूप ईश्वर है और जीव भी। सर्वज्ञत्वादि तथा अल्पज्ञत्वादि उपाधि-भेद से हैं, स्वरूप-भेद से नहीं। चींटी में तथा हाथी में जीव एक ही है, किन्तु शरीर की उपाधि-भेद से दोनों में शक्ति का महान् अन्तर है। अतः सामर्थ्यभेद से, स्वरूप-भेद में कल्पना करना अनुचित है। फिर भी सत्त्वादिगुणों से मोहित जीव, ईश्वर से स्वयं को पृथक् समझता है और अपने दुःख-निवारणार्थ ईश्वर की शरण लेता है। ईश्वर अपने स्वरूप जीव की प्रार्थना पर, दुःखरहित अपने स्वरूप का ही दान कर देते हैं। जब तक जीव श्रोत्रादिइन्द्रियों, मन तथा शरीर को ही अपना स्वरूप मानता है, तब तक परिच्छिन्न और दुःखी रहता है। ऐसी स्थिति में ईश्वर शासक और जीव शासित, ईश्वर अंशी तथा जीव अंश एवं ईश्वर स्वतंत्र तथा जीव परतन्त्र होता है। किन्तु जब जीव शरीरादि से

पृथक् अपना सच्चिदानन्दस्वरूप देखता है, तब स्वयं अपरिच्छिन्नता का अनुभव करता है और फिर शासक-शासित, अंशी-अंश तथा स्वतंत्र-परतंत्र कोई भी भाव नहीं रहते । यह स्थिति आती है ईश्वर की प्रसन्नता सेऔर ईश्वर प्रसन्न होते हैं भक्ति से । अतः ईश्वर की जिज्ञासापूर्ण भक्ति से ही परम कल्याण सम्भव है ।

इस पर कोई शंका कर सकता है, कि 'यदि ईश्वर भक्त का कल्याण करते हैं, अभक्त का नहीं, तो ईश्वर भी पक्षपात करते हैं। ऐसी स्थिति में वैषम्य और नैर्घण्य दोष से ईश्वर भी नहीं बच सकते । ईश्वर तो सभी के लिये समान हैं, अतः सब पर समभाव रखना चाहिये, चाहे वह भक्त हो या अभक्त ।' इसका समाधान गीता में स्वयं भगवान् करते हैं :

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।
(गी० ९।२९)

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलं श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।।
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।
(गी० ७।२१-२३)

'—मैं सब प्राणियों में समान हूँ, न कोई मेरा द्वेष्य है, न कोई प्रिय । जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें स्थित हैं और मैं उनमें स्थित हूँ ।' 'जो-जो भक्त जिस-जिस देव-विग्रह का श्रद्धापूर्वक अर्चन करना चाहता है, उस-उसकी उसी देव में, मैं श्रद्धा को स्थिर कर देता हूँ ।' 'वह मुझसे प्रदत्त, श्रद्धा से युक्त होकर, उस देव की आराधना करता है और मेरे द्वारा निश्चित अपनी इष्ट कामनाओं को प्राप्त करता है ।' 'उन अल्पबुद्धिवालों का तो फल नाशवान् होता है, जो देवों का यजन करते हैं, वह देवों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं ।' भगवान् का अभिप्राय है, कि जैसे आकाश मंडल में सूर्य-प्रकाश सर्वत्र समान व्याप्त है, वैसे ही मैं सभी प्राणियों में सर्वत्र समान हूँ, न मैं किसी में कम हूँ, न अधिक । क्योंकि

मेरी किसी से न शत्रुता है, न मित्रता। किन्तु जो मुझ ज्योतिःस्वरूप की ओर देखते हैं, मैं भी उनकी ओर देखता हूँ और जो मेरी ओर से नेत्र बंद किये हैं, मैं भी उनकी ओर नहीं देखता। वस्तुतः प्राणी के भाव-अभाव, श्रद्धा-अश्रद्धा और शत्रुता-मित्रता के अनुसार ही मैं भी चेष्टा करता हूँ। सूर्य की ओर प्रकाश में यदि पाँचों अंगुलियों को किया जाय, तो प्रकाश भी उसी आकार का दिखाई देता है। वस्तुतः प्रकाश वैसा हो नहीं जाता, अंगुलियों की प्रतिच्छाया से प्रकाश वैसा प्रतीत होता है, वैसे ही ईश्वर भी प्राणी की चेष्टानुकूल, चेष्टा करते प्रतीत होते हैं, वस्तुतः वैसे हो नहीं जाते। ईश्वर कर्मफलप्रदाता हैं। किसी भी भावना या फल विशेष से, किसी की भी भक्ति करने से, फल ईश्वर ही देते हैं। प्राणी की जिसमें श्रद्धा होती है, ईश्वर उसकी श्रद्धा हटाते नहीं, उसके अनुकूल और भी पुष्ट करते हैं। निष्कर्ष यही कि ईश्वर पक्षपात रहित प्राणी की भावना और कर्म के अनुसार केवल फलदाता हैं। नास्तिक की भावनानुसार नास्तिकता-प्रदान करते हैं और आस्तिक की भावना के अनुसार आस्तिकता। प्राणी भूत-प्रेत, यक्ष-राक्षस, देव, दानव, मानव आदि जिसमें श्रद्धा करते हैं, मरणोपरान्त उस स्वरूप को प्राप्त होते हैं, यह अचल नियम है। तदनुसार जो ईश्वर में श्रद्धा-भक्ति करते हैं,वह ईश्वर को प्राप्त होते हैं। अतः ईश्वर में किसी दोष की सम्भावना नहीं।

ईश्वरीय प्रकृति दो प्रकार की है—परा और अपरा। परा प्रकृति जीव है और भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महतत्त्व एवं अव्यक्त-भेद से आठ प्रकार की अपरा प्रकृति है। परा प्रकृति ही जीव, पुरुष तथा क्षेत्रज्ञ आदि नामों से कही जाती है और अपरा प्रकृति माया, प्रकृति, क्षेत्र, शक्ति आदि नामों से। दोनों ही अनादि—कारणरहित—हैं। प्रकृति से ही सोलह विकार और तीन गुण उत्पन्न होते हैं। सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियाँ प्रकृति से उत्पन्न होती हैं और सुख-दुःख तथा मोह का भोक्ता पुरुष होता है। भोक्तृत्त्व का अभिमान होने से, पुरुष बन्धन में बँधता है। पुरुष तथा प्रकृति का संयोग ही, अनेक जन्मों का कारण है :

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गी० १३।२१)

'—कार्य तथा करणरूप में परिणत प्रकृति में पुरुष स्थित होकर, अपना स्वरूप ही उसको मान कर, प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है, गुणों में आसक्ति

के कारण पुरुष उत्तम-निकृष्ट योनियों में जन्म लेता है।' प्रकृति ही शरीर तथा इन्द्रियरूप से परिणत होती है। शरीर में पुरुष स्थित होकर, तादात्म्याभिमान के कारण, शरीर को ही अपना स्वरूप मान लेता है। शरीर को स्वरूप मानने पर, शरीर-सुख के लिये अनेक प्रकार के संकल्प करता है। संकल्पानुसार मन से चिन्तन करता है, चिन्तन के अनुसार कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है। अधर्म कर्म के अनुसार पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि अधम योनियों में जन्म मिलता है। धर्माधर्म-मिश्रित कर्मानुसार ब्राह्मणादि मनुष्य योनि में और धर्मानुसार कर्म से देवादि योनियों में जन्म मिलता है। सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी श्रद्धा के अनुसार भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, पितृ, देव तथा ईश्वर की आराधना भी करता है। तदनुकूल मरणोपरान्त अपने इष्टदेव को पाता है। ईश्वर नित्य और अविनाशी हैं, अतः ईश्वर-भक्त ईश्वर को प्राप्त होते हैं, वह अमर हो जाते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। ईश्वर के अतिरिक्त सभी विनाशी हैं, उनको प्राप्त होने पर पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है। पुरुष का मिथ्याभिमान ही जन्म-मृत्यु एवं सुख-दुःख का कारण है। पुरुष की भावना और कर्म के अनुसार ही ईश्वर फल-देते हैं, क्योंकि ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और न्यायकारी हैं।

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय ईश्वर-द्वारा ही होते हैं। प्रलय में सभी भूतसमुदाय कर्मवश ईश्वर की प्रकृति में लीन हो जाते हैं और उत्पत्ति के समय प्रकृति से ही उनका प्रादुर्भाव होता है। संसार-उत्पन्न करने और प्राणियों को विभिन्न योनियों में जन्म देने पर भी, ईश्वर-कर्म-बन्धन में नहीं पड़ते। स्वयं ईश्वर का कहना है :

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥
(गी० ९।९)

'—धनञ्जय ! मैं उन कर्मों में उदासीन की भाँति स्थित रहता हूँ तथा आसक्तिरहित हूँ, इस कारण वे कर्म मुझे बन्धन में नहीं डालते।' संसार की रचना करने पर भी ईश्वर निर्विकार रूप से स्थित रहते हैं। क्योंकि ईश्वर में कर्त्तापन का अभाव और फल में आसक्ति नहीं है। कर्म फलासक्ति तथा कर्तृत्व-द्वारा ही बन्धन करते हैं। जो इन दोषों से युक्त है, वही पुरुष रेशम-कीट के समान कर्म से बँधता है। ईश्वर में इनका अभाव है, अतः समस्त संसार की रचना करने पर भी, कोई दोष नहीं आता। वास्तव में तो ईश्वर जगत्-कर्त्ता भी नहीं हैं, यही कहते हैं :

मय्याध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

(गी० ९।१०)

'—कौन्तेय ! मेरी अध्यक्षता से त्रिगुणमयी माया चराचर जगत् को उत्पन्न करती है, इसी कारण समस्त जगत् सब अवस्थाओं में परिवर्तित होता है।' ईश्वर प्रकाशक मात्र हैं, जैसे सूर्य-प्रकाश में सम्पूर्ण संसार की प्रवृत्ति होती है और प्रकाश के न रहने पर नहीं होती, वैसे ही ईश्वर-प्रकाश में जगत् प्रवृत्त होता है। चुम्बक के सानिध्य से, लौह में क्रिया उत्पन्न होती है, चुम्बक क्रिया का कर्त्ता नहीं, केवल सानिध्य के कारण कर्त्ता कहा जाता है। वैसे ही ईश्वर के सानिध्यमात्र से माया में क्रिया उत्पन्न होती है, आकाशादि क्रम से जगत् उत्पन्न होता है और निरन्तर अनेक रूपों में परिवर्तित होता रहता है अथवा मायावी-द्वारा अधिष्ठित माया से हाथी, अश्व, नर-नारी आदि जिस प्रकार निर्मित होते हैं, उसी प्रकार ईश्वराधिष्ठित माया से, विविध नाम-रूपात्मक जगत् निर्मित होता है। माया न सत् है, न असत्, न सदसत्। ईश्वरीय शक्ति ही 'माया' कही जाती है। **देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्** (श्वे० १।३) '—अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति।' परमात्मा की शक्ति या सामर्थ्य अनेक प्रकार की है **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च** (श्वे० ६।८) '—उसकी पराशक्ति अनेक प्रकार की ही सुनी जाती है, वह स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया और बलक्रिया है।' निष्कर्ष यही, कि अग्नि में प्रकाश तथा उष्णत्व शक्ति के समान, परमात्मा में मायाशक्ति है। वह शक्ति स्वाभाविकी है यानी परमात्मा का भाव, इसी से सदसत् विलक्षण अनिर्वचनीया कही जाती है। उस माया में अनन्त प्रकार की शक्तियाँ हैं। सांख्य-प्रतिपादित प्रकृति स्वतन्त्र तथा जड मानी गई है, किन्तु वेदान्त तथा गीता में इससे विलक्षण है। **मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्** (श्वे० ४।१०) '—प्रकृति को माया जानना चाहिये और महेश्वर को मायावी।' सच्चिदानन्द परमेश्वर ही महान् तथा ईश्वर होने से 'महेश्वर' है और माया का अधिष्ठान होने से 'मायावी'। उस महेश्वर के परतन्त्र ही, माया जगत् का सर्जन करती है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। '**मय्याध्यक्षेण प्रकृतिः**' से गीता में भी यही कहा गया है। माया ईश्वर से न भिन्न है, न अभिन्न, न जड है, न चेतन और न सत् है, न असत्। अग्नि की उष्णता की भी यही स्थिति है, इसीलिये 'अनिर्वचनीया' कही जाती है।

माया ईश्वर की अध्यक्षता में जगत्-सर्जन करती है, वैसे ही जैसे राजा

की अध्यक्षता में मन्त्रिगण राज्यकार्य करते हैं। इसी से कहा जाता है, कि ईश्वर जगत्-उत्पन्न करता है। चौकी पर बैठने से और चौकी घर में होने पर, लोग कहते हैं, कि घर में बैठे हैं, ऐसा ही कथन ईश्वर के सम्बन्ध में भी है। **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा** (गी० ७/६)–' (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञरूपा मेरी प्रकृति ही जगत् के कारण हैं और प्रकृति का मैं ईश्वर अधिष्ठान हूँ।) इसलिये समस्त जगत् का उत्पत्ति और विनाशक मैं ही हूँ।' अधिष्ठान से भिन्न अधिष्ठित पदार्थ की सत्ता नहीं होती। रज्जु से भिन्न कल्पित सर्प की सत्ता नहीं है, स्वप्नद्रष्टा से पृथक् स्वप्न का अस्तित्व नहीं होता एवं मायावी से भिन्न माया परमार्थतः सत्य नहीं होती। इसी प्रकार माया के अधिष्ठान परमात्मा से भिन्न जगत् नाम की कोई वस्तु परमार्थतः नहीं है। इसी भाव को भगवान् गीता में व्यक्त करते हैं :

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(गी० ७।७)

'–धनञ्जय ! मुझ परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई जगत् का कारण नहीं है, मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् तथा जीव सूत्र में मणियों के समान गुथे हैं।' विविध मायिक पदार्थों का कारण एकमात्र मायावी होता है और रस्सी में कल्पित सर्प, दण्ड तथा भूछिद्रादि की कारण रस्सी ही होती है, इसी प्रकार जगत् तथा जीव का एकमात्र कारण परमेश्वर ही है। सद्रूप, चिद्रूप तथा आनन्दरूप परमेश्वर में ही नाम-रूप की कल्पना जगत् है। परमार्थतः परमेश्वर ही सत्य हैं, अन्य कल्पित जगत् मिथ्या। एक मिट्टी में ही घट, सकोरा आदि नाम तथा रूप की कल्पना जिस प्रकार होने पर भी, परमार्थरूप से सब मिट्टी ही है, वैसे ही आकाशादि नाम तथा रूप की कल्पना होने पर भी, परमार्थतः सब परमेश्वर ही है। सद्रूप, चिद्रूप तथा आनन्दरूप सूत्र में ही आकाश, वायु आदि सम्पूर्ण विश्व गुँथा हुआ है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम तथा रूप होने पर भी, वस्तुतः परमेश्वर से अतिरिक्त, किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। **रसोऽहमप्सु** (गी० ७/८) '–समस्त जलों का कारण रसतन्मात्ररूप मैं हूँ, मुझ रस में समस्त जल अनुस्यूत हैं।' इसी प्रकार :
कहते हैं :

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

(गी० ९।१८-१९)

'–कर्मफल, भर्ता, स्वामी, साक्षी, वासस्थान, शरण तथा सुहृत् मैं ही हूँ, प्रभव-प्रलय, स्थान, कर्मों का भण्डार और अविनाशी बीज भी मैं हूँ।' 'अर्जुन ! मैं ही सूर्य होकर तपता हूँ, वर्षा मैं ही हूँ, जल का शोषण करता हूँ और पुनः वर्षा करता हूँ, अमृत तथा मृत्यु, सत् तथा असत् भी मैं ही हूँ।' इस तरह सम्पूर्ण विश्व ईश्वर-द्वारा संचालित होता है और ईश्वरस्वरूप ही है। अतः जिज्ञासु भक्त को विश्व के कारण ईश्वर का चिन्तन करना चाहिये, यही भगवान् कहते हैं :

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधाभावसमन्विताः ॥

(गी० १०।८)

'–मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही संसार प्रवृत्त होता है, ऐसा समझ कर बुद्धिमान् पुरुष भाव समन्वित मेरा चिन्तन करते हैं।' ईश्वर ही जगत् के निमित्त तथा उपादान कारण हैं, ऐसा निश्चय कर मुमुक्षु भक्त का कर्तव्य है, कि 'सब ईश्वर ही है'–इस भावना से युक्त होकर, सदैव परमेश्वर का चिन्तन करे। 'सदैव किस प्रकार चिन्तन करे ?' इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं :

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

(गी० १०।९)

'—जिनका चित्त मुझमें लगा है, जिनकी वाक् आदि इन्द्रियाँ भी मेरे स्वरूप में लगी हैं, वे परस्पर तत्त्वबोध का वर्णन करते हुये सदा सन्तुष्ट रहते और रमण करते हैं।' मोक्षकामी जिज्ञासु भक्त सब समय सर्वज्ञ परमेश्वर में अपने चित्त को लगाये रहते हैं। नेत्र -द्वारा ईश्वर-स्वरूप का दर्शन, श्रोत्र से ईश्वर-चरित्र तथा ईश्वरीय तत्त्व-श्रवण एवं वाणी-द्वारा ईश्वरीय गुण व तत्त्व-बोध का वर्णन करते

हैं। इस प्रकार मन, वचन तथा शरीर से भगवद्भजन में कालयापन करते हुये, सब समय सन्तुष्ट रहते हैं और भगवान् के सहवास के समान आनन्दानुभव करते हैं।

जिज्ञासु भक्त वेदान्त तथा गुरूपदेश-द्वारा यह जान कर, कि ईश्वर ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इस लिये सम्पूर्णजगत् ईश्वर-स्वरूप है और जीव भी ईश्वर से भिन्न नहीं, अतः भक्त सदैव ईश्वर-चिन्तन करता है। ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त चराचर विश्व ईश्वरस्वरूप है, किन्तु अज्ञानी जन यह गोपनीय तत्त्व नहीं जानते। इसी कारण जन्म-मरण-कालप्रवाह में निरन्तर इधर से उधर आते-जाते रहते हैं। भगवान् सभी जनों पर अनुग्रह के लिये और वैदिक मार्ग-प्रदर्शित करने के लिये, स्वयं अपनी इच्छा से मनुष्य रूप धारण करते हैं। किन्तु मूढ व्यक्ति उन्हें भी साधारण मनुष्य ही समझते हैं और उनका अनादर करते हैं, यह स्वयं भगवान् कहते हैं :

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गी० ९।११)

'—सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर तथा मेरे परम भाव को अविवेकी लोग न जान कर, मुझ मनुष्यधारी परमेश्वर की अवज्ञा करते हैं।' शंका हो सकती है, कि 'पाप-पुण्यमय कर्मफल भोगने के लिये जन्म होता है। अतः कर्म-परतन्त्र का ही जन्म होता है और ऐसा जीव हो सकता है। ईश्वर तो स्वतन्त्र, निराकार तथा अज है, उसका पाप-पुण्य से सन्बन्ध नहीं। अतः ईश्वर का जन्म नहीं हो सकता और जिसका जन्म होता है, वह ईश्वर नहीं।' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि ईश्वर स्वतन्त्र, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, तो जन्म न लेने से परतन्त्रता और अल्पशक्ति-मत्ता ही प्रदर्शित होगी। साधारण नियम तो यही है, कि कर्म से ही जन्म होता है, किन्तु शाप-वरदान, यौगिक शक्ति और ईश्वरीय इच्छा इसके अपवाद हैं। योगी यौगिक शक्ति से अनेक रूप धारण कर सकता है। एक रूप से भोग, दूसरे से योग, तीसरे से आकाश-गमन करता है और स्वयं पूर्व रूप से भी स्थित रहता है। जिस ईश्वराराधन से योगी अनेक रूप धारण कर सकता है, क्या उस ईश्वर में इतनी शक्ति नहीं, कि वह मनुष्य-रूप धारण कर सके ? वस्तुतः ईश्वर तो योगियों का भी गुरु है, उसमें अनन्त शक्ति है। वह जगद्रूप स्वयं होता है, सबका शासन करता है, सबके हृदय में विराजमान है और स्वतन्त्ररूप से अवतरित भी होता है। वेद कहते

हैं : **कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः** (ईशा० ८) '—ईश्वर सर्वदृष्टा, सर्वज्ञ, सबसे ऊपर और स्वयं होने वाला है।' यानी ईश्वर स्वयं उत्पन्न होता है, किसी कर्मादि की अपेक्षा नहीं है। **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (बृह० २।५।१९) '—परमेश्वर माया-द्वारा अनेक रूप धारण करता है। गीता में स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् का कथन है :

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(गी० ४।६)

'—यद्यपि मैं अजन्मा, अव्ययात्मा तथा सम्पूर्ण भूतों का ईश्वर भी हूँ, तथापि अपनी प्रकृति को अपने वश में कर, उसी स्वस्वरूप माया से जन्म लेता हूँ।' वस्तुतः ईश्वर जन्मरहित हैं, नित्य हैं और किसी भी प्रकार उनमें क्षय-वृद्धि रूप विकार नहीं हैं। उनका कोई शासक भी नहीं क्योंकि वही सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर—नियन्ता—हैं। फिर भी ईश्वर की अघटनघटनापटीयसी माया अनेक शक्तियों से सम्पन्न है, उस माया को अधिष्ठित कर उसमें और उसके कार्य में 'मैं तथा मेरा' ऐसी भावना कर, अजत्व लक्षण वाले ईश्वर का भी जन्म होता है। तात्पर्य ईश्वरीय माया-द्वारा ही ईश्वर का जन्म होता है, जैसे यौगिक शक्ति से योगी का। लौकिक मनुष्य ईश्वर के जन्म तथा कर्म का रहस्य नहीं जानते। वह आसुर तथा राक्षस स्वभाववाले व्यक्ति विपरीत बुद्धि तथा निष्फल ज्ञान-कर्मशील होने से, बार-बार नरक में पड़कर दुःख ही भोगते हैं। किन्तु जिनका दैवी स्वभावानुसार जन्म हुआ है, उनके लिये भगवान् का कथन है :

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
(गी० ९।१३)

'—पार्थ ! दैवी प्रकृति के आश्रित महात्मा लोग मुझ ईश्वर को, भूतों का आदि कारण और अविनाशी जानकर, अनन्यमन से भजन करते हैं।' जिनका मन ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है तात्पर्य जिनकी मानसिकवृत्ति एकमात्र ईश्वराकार हो गई है, उस वृत्ति से सर्वदा ईश्वर का सेवन करते हैं, वे 'अनन्यमन' वाले हैं। इस वृत्ति से नीचे उतरने पर, उन भक्तों की चेष्टा किस प्रकार की होती है, इसका वर्णन भगवान् करते हैं :

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।

(गी० ९।१४)

'—वे दृढव्रती भक्त सदा मेरा कीर्तन करते हुये तथा प्रयत्न करते हुये, भक्ति से नमस्कार करते हैं और सर्वदाचिन्तन करते हुये, मेरी सेवा करते हैं।' जिज्ञासु भक्त अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि गुण सम्पन्न होकर, सद्‌गुरु के निकट वेदान्त-शास्त्रों का श्रवण तथा अध्ययन करते हुये और श्रवण-द्वारा अर्थ में शंका की निवृत्ति के लिये तर्क के अनुसन्धानरूप मनन करते हुये, सद्‌गुरु तथा सगुण ईश्वर को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं। श्रवण तथा मनन से परमेश्वरतत्त्व का निश्चय कर, विजातीयवृत्तिरहित, सजातीयवृत्तिप्रवाह से, सदैव निदिध्यासन करते हैं । जिज्ञासु भक्त भी उत्तम, मध्यम तथा मन्द श्रेणी के होते हैं। इसीके अनुसार उनकी उपासना में भी भेद होता है, इसीका प्रतिपादन करते हैं :

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्ते मामुपासते ।।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ।।

(गी० ९।१५)

'—कोई एकत्वरूप ज्ञानयज्ञ से यजन करते हुये मेरी उपासना करते हैं, कोई पृथक् भाव से उपासना करते हैं और कोई अनेक रूपस्थित विश्वरूप विराट् की उपासना करतेहैं।' तात्पर्य उत्तम अधिकारी 'मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ' इस एकत्वरूप ज्ञानद्वारा 'अहंग्रहोपासना' करते हैं। उपास्य-उपासक भेदरहित एकतत्व का ही चिन्तन करते हैं। मध्यम जिज्ञासु भक्त उपास्य-उपासक भेद-द्वारा 'प्रतीकोपासना' करते हैं। प्रणव, मन, सद्‌गुरु तथा ईश्वर की प्रतिमा में ईश्वरभावना कर, चिन्तन करते हैं। मन्द भक्त यज्ञादि-द्वारा इन्द्रादि देवों की उपासना करते हैं अथवा ईश्वर की विभूतियों का चिन्तन करते हैं।

जिज्ञासु भक्त ईश्वर को अजन्मा तथा अनादि जानकर और अपने आत्मा को भी वैसा ही जान कर, समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। यही भगवान् कहते हैं :

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

(गी० १०।३)

'—जो पुरुष मुझे अजन्मा, अनादि और समस्त लोकों का महेश्वर जानता है, वह मनुष्यों में मोहरहित है और सब पापों से मुक्त हो जाता है।' तात्पर्य मोक्षाभिलाषी जिज्ञासु भक्त गुरूपदेश तथा शास्त्र-द्वारा यह जान कर, कि ईश्वर जन्मादि कारणरहित, जन्मादि विकार से शून्य और समस्त लोकों के महान् ईश्वर हैं यानी सम्पूर्ण ऐश्वर्यसम्पन्न, निग्रह-अनुग्रह में समर्थ एवं मोक्षप्रदाता हैं। मोक्ष - कामना से महेश्वर की भक्ति करता है, वह सदसत्-विवेकी पुरुष अज्ञानरहित है। ईश्वर की उपासना के प्रभाव से पूर्वजन्मों के तथा इस जन्म के पापों से छूट जाता है। पापों से छूटने पर ज्ञानोत्पत्ति होती है। तब असंग, कूटस्थ, चिद्रूप परमेश्वर को 'यही साक्षात् मैं हूँ' इस प्रकार अपने आत्मरूप से जानता है। ज्ञानोदय से तुरन्त मोक्ष होता है। इस प्रकार जिज्ञासु भक्त मोक्ष-लाभ करता है।

निष्कर्ष यही कि निर्विशेष परमेश्वर, सविशेष परमेश्वर, सम्पूर्ण संसार एवं जीव को एक ही तत्व जान कर, 'मैं तथा यह सब वासुदेव ही है' इस प्रकार परमेश्वर की भक्ति करनी चाहिये। भक्ति के प्रभाव से ईश्वरीय तत्व ज्ञात हो जाता है यही अन्त में भगवान् का उपदेश है :

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गी० १८।५५)

'—उपाधि से मैं जितना हूँ और निरुपाधि से जो हूँ, उसको तत्वतः भक्ति से जान लेता है, फिर मुझे तत्व से जान कर, तदनन्तर मुझमें प्रवेश कर जाता है।' तात्पर्य भक्ति से परमेश्वर का ऐश्वर्य और परमेश्वर स्वरूप जान लेने पर 'यही मैं हूँ' इस भावना से परमेश्वरस्वरूप में तदाकार हो जाता है। तब वह मुक्तस्वरूप परमेश्वर में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। किन्तु इस ज्ञानलक्षणा भक्ति के पूर्व सर्वात्मभाव से ईश्वर का भजन करना चाहिये, यही भगवान् कहते हैं :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(गी० ९।३४)

'—तुम मुझमें मनवाले हो, मेरी भक्ति करो, मेरा ही पूजन और मुझे ही नमस्कार करो, इस प्रकार मुझमें चित्त लगा कर, मेरे परायण हुये, तुम मुझ आत्मा को प्राप्त हो जाओगे।'

भक्ति से ज्ञान एवं ज्ञानोत्तर भक्ति

आर्त भक्त दुःखविशेष की निवृत्ति के लिये भगवद्भक्ति करता है और अर्थार्थी भक्त इच्छित वस्तु-प्राप्त करने के लिये। किन्तु जिज्ञासु की भक्ति ईश्वर-तत्त्व-ज्ञान के लिये होती है। जिज्ञासु भक्त भगवद्भक्ति-द्वारा तत्वज्ञानक्षेत्र में प्रवेश करता है और तत्व-ज्ञान-द्वारा कैवल्य मुक्ति-प्राप्त करता है। तत्वज्ञानी कृतकृत्य होता है, तथापि पूर्वाभ्यास से भगवद्भक्ति में अनुरक्त रहता है। ज्ञानी की भक्ति अहेतुक होती है, किन्तु जिज्ञासु की ज्ञान के लिये। एक श्रेणी भक्तों की और भी होती है, जिनमें न जिज्ञासा है, न ज्ञान, न अर्थ-कामना, न किसी दुःखनिवृत्ति की इच्छा। वे तो केवल भक्ति करते हैं भगवान् के लिये। भगवत्प्रेम अधिकाधिक बढ़ता रहे, उनकी यही कामना होती है। प्रत्येक भक्त की भावनानुसार परमेश्वर फल-प्रदान करते हैं। दुःखी व्यक्तियों का दुःख दूर करते हैं, निर्धन को धन, जिज्ञासु को ज्ञान, ज्ञानी को आत्मस्वरूप और केवल भक्त को अपना दर्शन देते हैं।

कुछ लोग आक्षेप करते हैं '—वर्षों से भगवान् की पूजा तथा भक्ति की, किन्तु सदा रुग्ण एवं निर्धन ही रहे।' कोई कहता है '—जीवनपर्यन्त भगवान् की सेवा की, किन्तु जीवन में कभी भी भगवान् की झलक न दिखाई दी।' परन्तु वे लोग न कर्मविपाक की ओर ध्यान देते हैं, न भक्ति की ओर। भगवान् के विग्रह

की पूजा करते हैं, किन्तु दूसरों से वार्तालाप भी करते जाते हैं; माला जप रहे हैं, पर ईश्वर-ध्यान नहीं है, मन कहीं है और तन कहीं। साथ ही पूर्व जन्मार्जित कर्मभोग भी अनिवार्य हैं। कर्मफल-भोग के बिना उनका निवृत्त होना अत्यन्त कठिन है। यदि प्रारब्ध कर्म से प्रबल भक्ति तथा पुरुषार्थ हों, तो भोग टल सकता है, अन्यथा कर्मफल-भोग अनिवार्य हैं। वर्तमान पुरुषार्थ तथा भक्ति का फल आगे अवश्य मिलेगा, इस जीवन में अथवा आगामी जन्म में। ईश्वर-दर्शन तभी सम्भव है, जब अन्तःकरण कल्मषरहित हो। अनेक जन्म-जन्मातरों के दूषित संस्कार एकत्रित रहते हैं। जब वर्णाश्रमविहित कर्मानुष्ठान तथा भगवद्भक्ति से संस्कारों का प्रक्षालन होता है, तब ईश्वर-साक्षात्कार होने में विलम्ब नहीं होता। धैर्य के साथ साधनमार्ग पर चलते रहना चाहिए, इस जीवन में या आगामी किसी भी जन्म में सफलता निश्चित है। इसी अभिप्राय से कहा है—**अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्** (गी० ६।४५) '—अनेक जन्मों के संस्कारों से सिद्ध अवस्था-पाकर परमगति-प्राप्त करता है।' हाँ, इतना अवश्य है, कि अनन्य भक्त को कितना ही दुःख क्यों न मिले, वह विचलित नहीं होता, सदैव सन्तुष्ट तथा शान्त रहता है।

परम शान्ति प्राणियों की आत्मा है और जीव तथा ईश्वर की आत्मा अभिन्न है। ऐकात्म्यदर्शन से ही परम शान्ति, अनन्त आनन्द, अखण्ड ज्ञान और अमरता प्राप्त होती है। प्राणियों का यही एक मात्र लक्ष्य है, किन्तु अज्ञान जन्य देहतादात्म्याभिमानवश, स्वरूप-ज्ञान न होने से, देहादि में ही इसके पाने का प्रयत्न करता है। वस्तु कहीं और है, खोज कहीं और, परिणाम में मिलता है दुःख। जब तक वाक्यार्थज्ञान से जीवेश्वर-भेदभाव की निवृत्ति नहीं होती, तब तक परमशान्ति असम्भव है। वाक्यार्थज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से ही सम्भव है और सूक्ष्मावगाहिनी बुद्धि उत्पन्न होती है निष्काम कर्म एवं ईश्वर की अनन्यभक्ति से। अतः ज्ञानार्थी पुरुष का कर्तव्य है, कि अनन्य भक्ति-द्वारा ईश्वर की प्रसन्नता-प्राप्त कर, ज्ञान-मार्ग-प्रशस्त करे। इसी का प्रतिपादन उपनिषद् करते हैं और गीता भी। श्रुति है :

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥

(श्वे० ६।५)

'—वह सब का कारण, शरीरसंयोग की निमित्तभूता अविद्या का हेतु, त्रिकालातीत और कलाहीन देखा गया है। अपने चित्त में स्थित, उस सर्वरूप एवं संसाररूप देव की, ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व उपासना करो।' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अभेद-भावनापूर्वक, सम्पूर्ण विश्व के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमेश्वर में चित्त-समाहित करना चाहिये। इससे चित्त कल्मष तथा विक्षेपरहित होकर, अपने अधिष्ठान में प्रतिष्ठित हो जाता है। तब महावाक्यजनित ज्ञान-स्फुरण होता है और 'मैं ब्रह्म हूँ' इसका साक्षात् दर्शन होने पर, परम शान्ति एवं मुक्ति करामलकवत् प्रतीत होती है।

यही सिद्धान्त गीता में भी स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है। पहले दिखलाया गया है, कि 'जो पुरुष भाव समन्वित होकर चिन्तन करते हैं और चित्त तथा इन्द्रियों को ईश्वर में लगा कर, परस्पर तत्त्वबोध-वर्णन करते हैं, वह सदा सन्तुष्ट रहते एवं रमण करते हैं' (गी० १०।८-९) इस अनन्य भक्ति का फल भगवान् बतलाते हैं :

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गी० १०।१०-११)

'—उन निरन्तर तत्पर होकर, प्रेमपूर्वक भजन करने वाले पुरुषों को, मैं सम्यग्दर्शनरूपा बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वह मुझे प्राप्त होते हैं।' 'उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिये, उनके अन्तःकरण में स्थित अज्ञानजन्य अन्धकार को, प्रकाशमय ज्ञानदीपक से नष्ट कर देता हूँ।' जैसे सुवर्णज्ञानसम्पन्न पुरुष से, सुवर्ण-लक्षण-श्रवण तथा ग्रहण कर, सुवर्ण में सूक्ष्म बुद्धि-द्वारा अन्वेषण कर, और बार-बार विचारपूर्वक लक्षण तथा लक्ष्य का दर्शन करने से, सुवर्ण तत्व-ज्ञान हो जाता है। वैसे ही परमेश्वरतत्त्वज्ञानसम्पन्न पुरुष से, परमेश्वर के लक्षण श्रवण करने के अनन्तर, उनको ग्रहण करना, साधक-बाधक तर्कों से निश्चय करना और लक्षण सहित परमेश्वर का बार-बार चिन्तन करने से, परमेश्वरतत्त्व ज्ञात हो जाता है। भक्त की अनन्यभक्ति से, परमेश्वर प्रसन्न होकर ज्ञानयोग - प्रदान करते हैं। यद्यपि सभी प्राणियों के आत्मा परमेश्वर ही हैं, इस लिये परमेश्वर सबको प्राप्त

ही हैं, तथापि अज्ञानान्धकार से मूर्ख प्राणी परमेश्वर को अप्राप्त ही मानते हैं। अनन्य भक्ति-द्वारा पूजित परमेश्वर प्रसन्न होकर, ज्ञान-दीप-प्रकाश-द्वारा, भक्त के हृदय में स्थित अज्ञानान्धकार-विनष्ट कर देते हैं। भक्त बुद्धिवृत्ति से परमेश्वर का ध्यान करता है। ईश्वर उसकी वृत्ति में आरूढ होकर, अपने प्रकाश-द्वारा बुद्धवृत्ति को व्याप्त कर, अज्ञान तथा अज्ञानजन्य समस्त कर्मों का विनाश कर देते हैं। जैसे रज्जुसर्प का विनाश प्रकाश-द्वारा होने पर, एकमात्र रज्जु का ही दर्शन होता है, वैसे ही अज्ञान तथा अज्ञानजनित समस्त सम्बन्धों का निःशेष होने पर, एकमात्र परमात्मतत्त्व ही शेष रहता है और तभी 'यह मैं हूँ' इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इस तरह श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनशील पुरुष पर ईश्वरकृपा होती है। ईश्वरकृपा से समाधि में स्वरूप-दर्शन एवं मुक्ति होती है।

भक्ति-द्वारा ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति। यही क्रम गीता में अनेक स्थानों में कथित है। एकादश अध्याय के अन्त में भगवान् का कथन है:

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं दृष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गी० ११।५४)

'—अर्जुन! इस प्रकार अनन्य भक्ति से, मैं शास्त्रों-द्वारा जाना जा सकता हूँ, परंतप! तत्त्व से देखा जा सकता हूँ और प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।' ईश्वर-भक्ति से जब बुद्धि निर्मल होती है, तब सूक्ष्म ईश्वर-तत्व का शास्त्र तथा सद्गुरु-द्वारा ज्ञान होता है। इसके अनन्तर मनन सम्पन्न होने पर, निदिध्यासन की परिपाकावस्था समाधि में ईश्वर साक्षात्कार होता है। साक्षात् के अनन्तर, अज्ञान-निवारण पूर्वक एकत्वरूप से अवस्थिति होती है। इसमें भी भक्ति के पश्चात् ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति कथित है। ज्ञान के साधन भी, ज्ञान-नाम से गीता के त्रयोदश अध्याय में कहे गये हैं, उन साधनों में भी भक्ति का उल्लेख है, **मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी** (गी०१३।१०)'—मुझ परमात्मा में एकत्वयोग से अव्यभिचारिणी भक्ति होना अर्थात् भगवान् वासुदेव से अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है, इस प्रकार जानकर प्रीति करना भी ज्ञान का हेतु है।' आगे भगवान् कहते हैः

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥
(गी० १३।१८)

'—इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेय का स्वरूप संक्षेप से कहा गया, मेरा भक्त यथोक्त ज्ञान को जानकर, मोक्ष-पाने का अधिकारी होता है।' इसका तात्पर्य है, कि जो भक्त ईश्वर में सम्पूर्ण कर्म समर्पित करता है और अन्तःकरण तथा ज्ञान-कर्मेन्द्रिय-द्वारा भी भगवान् का सेवन करता है। ऐसा एकनिष्ठ भक्त ही शुद्ध अन्तःकरण होने पर, क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेय स्वरूप-जानकर मोक्ष का अधिकारी होता है।

परब्रह्म, परमात्मा, प्रत्यगभिन्न, सच्चिदानन्दस्वरूप, भगवान् वासुदेव प्रकृति तथा प्राकृतिक गुणों से अतीत हैं, प्राकृतिकगुणों में रमणकरने से ही पुरुष बन्धनयुक्त होते हैं और जो गुणों का अतिक्रमण करते हैं, वह स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो, मुक्ति के योग्य होते हैं। 'गुणातीत किस प्रकार हों?' इसके उत्तर में भगवान् वासुदेव

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(गी० १४।२६)

'—जो मुझ ईश्वर को अव्यभिचारी भक्तियोग - द्वारा सेवन करता है, वह गुणों का सम्यक् प्रकार अतिक्रमण कर, मोक्ष-पाने में समर्थ होता है।' परब्रह्मस्वरूप में अखण्डध्येयाकार बुद्धिवृत्ति ही 'भक्ति' है और यही 'योग' है। यह प्रीतिपूर्वक योग मुक्ति का उपाय है। जो विषय-ग्रहण से विमुख, निश्चल, चिदाकारस्वरूप, तैल-धारा के समान अविच्छिन्न वृत्ति-द्वारा 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार दर्शन करता है, वह प्रकृति के सत्त्वादि गुण तथा उनके कार्य विश्वप्रपञ्च का उल्लङ्घन कर जाता है। गुण तथा उनके कार्यों को, सर्वाधिष्ठान ब्रह्म में लीन कर देने से अथवा उनका बाध कर देने से, एकमात्र ब्रह्म ही शेष रहता हैं। उस ब्रह्म में ध्येयाकार वृत्ति से स्थित होने पर, गुणातीत अवस्था-सिद्ध होती है। गुणातीत होने पर, मोक्ष का अधिकारी होता है। अतः भक्ति-द्वारा गुणातीत अवस्था की प्राप्ति एवं मुक्ति में समर्थ होता है।

गीता कें अन्तिम अध्याय में, भगवान् ने ज्ञानलक्षणा भक्ति और मुक्ति-क्रम का वर्णन किया है। उनका कहना है :

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

(गी० १८।५४-५५)

'–ब्रह्मभूत प्रसन्न चित्तवाला न शोक करता है, न आकांक्षा, सब भूतों में अपने ही समान सुख-दुःख को देखता है, और मेरी ज्ञानलक्षणा उत्तम भक्ति-प्राप्त करता है ।' 'भक्ति-द्वारा वह उपाधिभेद से मैं जितना हूँ और उपाधिरहित जो हूँ, उसको तत्त्वतः जान लेता है, फिर मुझे तत्व से जान कर, तदनन्तर मुझ में प्रवेश कर जाता है ।' इन दोनों श्लोकों का अभिप्राय है, कि मुक्त्याभिलाषी पुरुष वेदान्त-श्रवण तथा मनन से यह निश्चय कर, कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ' दुःख रहित हो, प्रसन्न हो जाता है । फिर वह किसी पदार्थ या प्रिय व्यक्ति के नष्ट होने पर भी, शोक नहीं करता तथा किसी पदार्थ के पाने की आकांक्षा भी नहीं करता । अपने ही समान स्थावर-जङ्गम समस्त भूतों को समझता है और समस्त प्राणियों के सुख-दुःखों को भी, अपने ही समान जानता है । वह पुरुष निदिध्यासन संज्ञक ज्ञानरूपा उत्तम भक्ति का अधिकारी है । बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति-द्वारा आवृत्ति करने पर, श्रवण-मनन-द्वारा निश्चित ब्रह्म में, मन तदाकार हो जाता है । इस ज्ञानलक्षणा भक्ति से ब्रह्म-साक्षात्कार होता है । निर्विकार, निराकार, ब्रह्म ही अज्ञान-द्वारा विविध नाम-रूपों मेंप्र तिभासित होता है, रज्जुसर्प के समान अथवा मरुमरीचिका में जल के समान । अव्यक्त महदादि तथा उनके कार्यरूप कल्पित उपाधि - द्वारा ही विश्वप्रपञ्च अनेकरूपों में भासित होता है और व्यवहार के लिये अनेक नामों की कल्पना हुई है । रज्जु अधिष्ठान में कल्पित सर्प और उसके शिर, पुच्छादि भासित होते हैं, प्रकाश में देखने पर रज्जु के अतिरिक्त सर्प का कहीं भी अस्तित्व नहीं दिखाई देता । इसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म में सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च कल्पित है, अज्ञानावस्था में स्वप्न के समान सभी सत्य प्रतीत होते हैं, किन्तु ज्ञान होने पर सभी कल्पित पदार्थ की सत्ता नहीं रहती, जैसे जागने पर स्वप्न के पदार्थों की सत्ता सत्य नहीं होती । समाधि-अवस्था में प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर, किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं रहती । निर्विकार, निराकार, विभु, ब्रह्मात्मा ही आकाशवत्, सर्वत्र, अखण्डरूप से प्रदर्शित होता है । उसी स्थिति में व्यवधानरहित ' मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार साक्षात्कार होता है । ब्रह्मज्ञान के अनन्तर ही 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार ब्रह्मप्राप्ति होना, ब्रह्म

में प्रवेश करना हैं। अतः गीता का निश्चित सिद्धान्त है, कि भक्ति-द्वारा ज्ञान होता है और ज्ञान से मोक्ष।

निर्गुणभक्ति (ज्ञानलक्षणा भक्ति) के अभ्यास-द्वारा ज्ञानोत्पन्न होकर, इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञानी पुरुष के मृत्यूपरान्त प्राण उत्क्रमणनहीं करते। 'किन्तु जिस निर्गुणोपासक ने जीवन पर्यन्त साधना की, फिर भी उसे ज्ञान न हुआ और इसी स्थिति में प्राणान्त हो गया। उसकी क्या गति होगी ? मुक्ति मिलेगी या नहीं? यदि मिलेगी, तो कैसे ? यदि नहीं मिलेगी, तो क्या जीवन भर की साधना व्यर्थ होगी ?' इस प्रकार अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। इनका भी समाधान कर्तव्य है। गीता में भगवान् का कथन है, कि 'शुभ कार्य करने वाले पुरुष की कभी दुर्गति नहीं होती'-**नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति** (गी०६।४०)। यह भी सार्वजनीन नियम है, कि मृत्यु-समय जिसकी स्मृति होगी, उसी भाव को प्राणी प्राप्त होगा। इसी नियम के अनुसार भगवान् कहते हैः

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयान्ति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।

(गी० ८।५)

'—और जो मरणकाल में मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह मेरे भाव-स्वरूप-को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं।' वेदान्त-ग्रन्थों में भी इस पर विचार किया गया हैः

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः ।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ।।

(पंच० ध्यान० १३६)

अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भाविजन्म तथा सति ।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात् सगुणोपासने यथा ।।

नित्य निर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ।

(पंच० ध्यान० १३८-३९)

'–जिस पुरुष की इस जन्म में उपासना परिपक्व न हुई हो, वह आगे मृत्यु-समय में ब्रह्मतत्व को जानकर, मुक्त हो जाता है या ब्रह्मलोक में जाकर ज्ञान-प्राप्त कर मुक्त होता है।' 'मृत्यु - समय के अन्तिम विचारानुसार भावी जन्म का निश्चय होता है, जिस प्रकार सगुणोपासना के अभ्यास से, सगुण ब्रह्म-प्राप्त करता है, वैसे ही निर्गुणोपासना सेनिर्गुणोपासक निर्गुण ब्रह्म-प्राप्तकर लेगा।'(किंतु मोक्ष तो न मिलेगा ? इसके उत्तर में कहते हैं) वह नित्य, निर्गुणरूप है, उसका 'निर्गुण' नाममात्र से गायन करते रहो, पर वास्तव में यह मोक्ष ही है, संवादि भ्रम जैसे कहने मात्र को भ्रम है वास्तव में तो वह ज्ञान ही है, वैसे ही निर्गुणब्रह्म और मोक्ष एक ही वस्तु है।' 'जो निर्गुणोपासना सम्यक् प्रकार से करता है, उसको इस लोक में, मृत्यु के समय अथवा ब्रह्म-लोक में ब्रह्म साक्षात्कार होता ही है :

'इह वा मरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेऽथवा भवेत्।
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥'

(पंच० ध्यान० १५०)

निष्कर्ष यही है, कि जिसकी निर्गुण भक्ति परिपक्व होगई है, उसे इसी जीवन में ज्ञान होता है। जिसमें विक्षेप तथा मोह विद्यमान हैं, किन्तु अभ्यास की न्यूनता नहीं है, उसे मृत्यु-समय ज्ञान हो जाता है। जिसभक्त में विक्षेप तथा मोह के साथ कुछ कामना भी है, उसे मृत्यूपरान्त ब्रह्मलोक-प्राप्त होता है और वहीं ज्ञानोत्पन्न होकर, मुक्ति होती है। जिन पुरुषों में अनेक प्रतिबन्ध विद्यमान हैं, उनका पुनर्जन्म होता है और पूर्वजन्म के अभ्यास से, आगे अभ्यास चलता है। प्रतिबन्ध-समाप्त होने पर, उनकी भी मुक्ति होती है। इस प्रकार निर्गुण भक्त की मुक्ति अवश्यम्भावी है।

सगुणोपासक में सगुण ईश्वर-दर्शन की कामना होती है, ऐश्वर्यभोग की भी इच्छा होती है। अतः मृत्यु के अनन्तर ब्रह्मलोक में गमन होता है। किन्तु इसमें भी अन्तिम प्रत्यय होना चाहिये ईश्वर-ध्यान। इसी लिए गीता में भगवान् का कहना है:

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥

(गी० ८।६-७)

'—कौन्तेय ! शरीर-त्याग करते समय जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, उस भाव से भावित पुरुष सदा उस-उस भाव को ही प्राप्त होता है।' 'इसलिये तुम मुझमें मन तथा बुद्धि को अर्पण कर, सब समय मेरा स्मरण करो और युद्ध करो, ऐसा करने से तुम निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगे।' इसका तात्पर्य यही है, कि वर्णाश्रमविहित समस्त कर्म करते हुये, प्रत्येक समय ईश्वर में मन तथा बुद्धि का योग करना चाहिये। कर्म अनेक हैं, किन्तु ईश्वर-ध्यान एक। अतः एक प्रकार के ध्यान के संस्कार ही अन्तःकरण में अंकित होने से, शरीर-त्याग करते समय इसी संस्कार का उदय होगा। ईश्वर-ध्यान के प्रभाव से, प्राण सुषुम्ना नाडी-द्वारा निष्क्रमण करेंगे और जिस प्रकार योगी की गति होती है, वैसे ही उपासक की भी गति होगी। सगुणोपासक देवयान-मार्ग से अर्चिरभिमानी देवता आदि के क्रम से ब्रह्मलोक में जाते हैं और सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य मुक्ति-प्राप्त करते हैं। उपासना के उत्कृष्टापकृष्ट क्रम से, चार प्रकार की मुक्ति में कोई मुक्ति पाते हैं और वहीं ज्ञान-प्राप्त कर, कैवल्य मुक्ति भी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सगुणोपासक भी मुक्ति-प्राप्त कर, परम शान्ति के अधिकारी होते हैं। उनका भी पुनर्जन्म नहीं होता।

'भक्ति से ज्ञानोत्पन्न होता है', इस सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में एक कथा आई है। भक्ति महारानी के दो पुत्र हैं—ज्ञान और वैराग्य। कलियुग के पाखण्डपूर्ण प्रभाव से, तीनों ही जीर्णशीर्ण हो गये। भ्रमण करते हुये वृदावनधाम तीनों पहुँचे, वहाँ माता भक्ति नवयौवनसम्पन्न तरुणी हो गई, किन्तु ज्ञान तथा वैराग्य दोनों पुत्र वृद्धवत् प्रतीत होते थे। उनकी दशा-देख भक्ति माता अत्यन्त दुःखित हुईं। ठीक भी है, माता की इच्छा होती है, कि हमारे सामने पुत्र फलें, फूलें और पुत्र-द्वारा ही हमारी अन्तेष्टि हो। तात्पर्य यह है कि भक्ति माता से ज्ञान पुत्र होता है और भक्ति की इच्छा होती है, कि ज्ञान का उत्कर्ष हो। पुत्र-पाकर माता अपने को अत्यन्त सौभाग्यवती मानती है, इसी तरह भक्ति भी ज्ञानोत्पन्न कर, अपने को कृतकृत्य मानती है। ज्ञान के उत्कर्ष से परम प्रसन्न होती है। साथ ही पुत्र का भी कर्तव्य है, कि जब तक रहे, तब तक माता की सदैव सेवा करता रहे। यदि ज्ञानाभिमानवश कोई भक्ति की अवहेलना करता है, तो वह कृतघ्न है और कृतघ्नी से बड़ा कोई पापी नहीं। भगवान् शंकर ने कहा है :

यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः ।
आदौ विद्याप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये ॥

'—वेदान्त, गुरु तथा ईश्वर का यावज्जीवन सदैव वन्दन करना चाहिये, पहले विद्या - प्राप्ति के लिये, पश्चात् कृतज्ञता- प्रकट कर, कृतघ्नता-दूर करने के लिये।'

वस्तुतः ज्ञानवती भक्ति वन्दनीय है एवं भक्तिमान् ज्ञान धन्य है। जिस भक्त के अन्तस्तल में ज्ञान विद्यमान है, वह भगवान् का अत्यन्त प्रिय है। ऐसे ही भक्त के सम्बन्ध में भगवान् का कहना है :

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः ।।

यस्मान्नोद्विजते लोके लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनोगतव्यथः ।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।

(गी० १२।१३-१६)

'—जो सब भूतों में द्वेषभावरहित, मित्रभाव - युक्त, करुणामय, ममतारहित, निरहंकारी, सुख-दुःख में समान और क्षमावान् है।' 'सदा सन्तुष्ट, समाहित चित्त, संयतस्वभाव, ब्रह्म का दृढ निश्चयी और मन तथा बुद्धि मुझमें स्थापित करनेवाला भक्त है, वह मुझे प्रिय है।' 'जिससे संसार क्षुब्ध नहीं होता और जो स्वयं भी संसार से क्षुब्ध नहीं होता, जो हर्ष, अमर्ष, भय तथा उद्वेग से रहित हैं, वह मेरा प्रिय है।' 'जो शरीरादि की अपेक्षा से रहित, शुद्ध, निपुण, उदासीन, निर्भय और समस्त कामना हेतुक कर्मों का त्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।' इसी प्रकार 'जो न हर्ष करता है, न द्वेष, न शोक करता है, न आकांक्षा और शुभाशुभ कर्मों का परित्यागी भक्तिमान् है, वह मेरा प्रिय है।' 'जो शत्रु-मित्र तथा मानापमान में सम है, शीत-उष्ण, सुख-दुःख में समान रहता है और आसक्तिरहित है।' 'जिसके लिये निन्दा तथा स्तुति तुल्य है, मौनी, जिस-तिस वस्तु से सन्तुष्ट, अनिकेत और स्थिरबुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मेरा प्रिय है।'—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केन चित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

(गी० १२।१७-१९)

'अद्वेष्टा' से 'स्थिरमतिः' पर्यन्त तैंतीस लक्षण ज्ञानसम्पन्न भक्त के हैं। सिद्ध के ये स्वाभाविक धर्म हैं और साधक के लिये ज्ञान-परिपाक के साधन। अतः साधक प्रयत्नपूर्वक इनका सम्पादन करें। इसी अभिप्राय से अन्त में भगवान् कहते हैं :

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

(गी० १२।२०)

'—जो इस धर्ममय और अमृत का हेतु उपरोक्त साधनों का अनुष्ठान श्रद्धापूर्वक करते हैं, वे मेरे परायण भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।' 'तु' शब्द सिद्धों से साधकों की व्यावृत्ति करने के लिये है। तात्पर्य साधक धर्म से ओतप्रोत एवं मोक्ष के हेतु, इन लक्षणों को जान कर, श्रद्धापूर्वक अपने में प्रतिष्ठित करें। वस्तुतः यहाँ पर ज्ञानलक्षणा भक्ति का प्रसंग है, जिसका **ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते** आदि से गीता के बारहवें अध्याय में तीसरे तथा चौथे श्लोक में उल्लेख किया गया है'। वहीं कहा गया है कि **ते प्राप्नुवन्ति मामेव** '—वे मुझे ही प्राप्त करते हैं'। और विश्वरूपोपासकों के लिये कहा है—**तेषामहं समुद्धर्ता** (गी०१२।७)'—उनका मैं उद्धार करने वाला हूँ।' अक्षरोपासकों की मुक्ति में स्वतन्त्रता कही है और विश्वरूपोपासकों की परतन्त्रता। क्योंकि अक्षरोपासक ज्ञानसम्पन्न अभेददर्शी होते हैं और दूसरे भेददर्शी। अभेददर्शी ज्ञानी भक्त और परमेश्वर में एकत्व है,

इसीलिये **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्** (गी०७।१८)'–ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है', **प्रियो हिज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः** (गी०७।१७) '–ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे भी प्रिय है', कहा गया है। अतः ज्ञानी मुक्त ही है। किन्तु दूसरे भक्तों में भेद - बुद्धि होने से, सेव्य-सेवक भाव रहता है, इसीसे उनके लिये विश्वरूप तथा विभूति आदि में चिंतन करना एवं कर्मानुष्ठान बतलाया गया है। ज्ञानी अज्ञानक्षेत्र से अतीत होता है, अतः कर्मानुष्ठानरहित, संन्यासी होता है, उसके लिये कर्म का विधान नहीं है। यहाँ 'अद्वेष्टा' आदि धर्मसमूह में **शुभाशुभपरित्यागी** (गी०१२।१७), **उदासीनः** (गी० १२।१६), **अनिकेतः** (गी०१२।१९) आदि शब्दों से निश्चय होता है, कि ये सभी धर्म संन्यासी में ही सम्भव हैं, कर्मी में नहीं। अतः संन्याससम्पन्न ज्ञानी भक्त के लक्षणों का यहाँ उल्लेख किया गया है।

कोई कह सकता है, कि 'जिस प्रकार ज्ञानी संन्यासी का कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं, उसी प्रकार भक्ति से भी कोई सम्बन्ध नहीं, अतः उसे'भक्त' भी नहीं कहा जा सकता।' किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि भक्त और ज्ञानी का अन्तिम परिणाम एक ही है। जिस अक्षयसुखसुधासागर ईश्वर का रसास्वादन भक्त करता है, उसी में अभेदात्मरूप से ज्ञानी भी रमण करता है। भक्त कहता है 'मैं तेरा हूँ' और ज्ञानी कहता है 'मैं तू ही हूँ', इतना भेद अवश्य है। किन्तु जिस ईश्वर में भक्त की भेद-भावना होती है, उसी ईश्वर में ज्ञानी की अभेदभावना। लक्ष्य एक है, अन्तर भावना में है, अतः भक्त और ज्ञानी में कोई विरोध नहीं। भक्त 'दासोऽहं'—मैं आपका दास हूँ, इस प्रकार भाव करता है, किन्तु भजन की परिपाकावस्था आने पर जब बाह्याभ्यन्तररहित एक अखण्ड ईश्वर-दर्शन होने लगते हैं, तब 'दाकार' विस्मरण होकर 'सोऽहं'—मैं वही हूँ, कहने लगता है। इस प्रकार भक्त भी कालान्तर में ज्ञान की श्रेणी में आ जाता है। पूर्वाभ्यासवशात् ज्ञानहो जाने पर भी, जो भक्ति में प्रेम करते हैं, वे ज्ञानी होते हुये भी, भक्त कहे जाते हैं। जो ज्ञान में स्थित रहते हैं, वे ज्ञानी कहे जाते हैं। वासना के भिन्न-भिन्न होने से भी, ज्ञानी और भक्त में भेद होता है। जिनपुरुषों में विवेक बुद्धि की प्रधानता है और वे मुक्ति के इच्छुक हैं। उन्होंने परमात्मा के आश्रय से भक्ति तथा ज्ञान का अनुष्ठान कर मुक्ति प्राप्त की, ऐसे पुरुष ज्ञानी कह-

लाये । जिन पुरुषों ने सांसारिक भोगों में दोषदर्शन किया और मुक्ति की आकांक्षा न कर, एकमात्र ईश्वर के आश्रित भक्ति का अनुष्ठान किया । वे भी भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से मुक्त हो गये, तथापि वे भक्त ही कहलाये । वशिष्ठादि महात्मा ज्ञानी भी थे और भक्त भी, तथापि ज्ञानी ही कहलाये । नारदादि भक्त भी थे और ज्ञानी भी, फिर भी वे भक्त ही कहे गये । जिस प्रकार गङ्गा-स्नान से पापक्षय तथा ताप-निवारण दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं । पापक्षयार्थी के स्नान करने पर ताप भी निवारण होता ही है और शैत्यार्थी के स्नान करने पर भी पापक्षय होता है । किन्तु एक को शुद्धर्थी और दूसरे को शैत्यार्थी ही कहा जाता है । इसी प्रकार परमात्मा के आश्रय से ज्ञान तथा भक्ति दोनों ही होती हैं । ज्ञानार्थी को भक्तिपूर्वक मुक्ति मिलती है, इसलिये वह ज्ञानी कहा जाता है । भक्तचर्थी को ज्ञान होकर, मुक्ति मिलती है, इससे वह भक्त कहलाता है । अतः ज्ञान और भक्ति में कोई विरोध नहीं है । इसके अतिरिक्त संन्यास में कर्मानुष्ठान का परित्याग है, भक्ति का नहीं । यद्यपि ज्ञान होने पर भक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहती, तथापि अद्वेष्टादि साधन के समान भक्ति स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है । साधन-काल में ज्ञान के लिये भक्ति होती है, किन्तु ज्ञान होने पर, अहेतुक स्वभाववश भक्ति रहती है । पारमार्थिक अद्वैत और व्यावहारिक द्वैत जिस प्रकार रहता है, वैसे ही परमार्थ में ज्ञान एवं व्यवहार में भक्ति रहती है । अतः ज्ञान होने पर भी भक्त का मन भक्ति में रमण करता है, इसी से भक्त कहा जाता है । श्री मद्भागवत में कहा है :

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहेतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥

'—आत्मा में रमण करने वाले, अज्ञानग्रन्थिरहित, मुनिजन भी भगवान् उरुक्रम की अहेतुकी भक्ति करते हैं, भगवान् हरि में ऐसे दिव्य गुण विद्यमान हैं, जिससे निरपेक्ष मुनि भी भक्ति में प्रवृत्त होते हैं ।' ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व द्वैत मोह में गिराकर प्राणी का विनाशक है । किन्तु बोध के अनन्तर स्वेच्छा से भक्ति के लिये कल्पित द्वैत, अद्वैत से भी अधिक आनन्ददायक है । कहा भी है :

विश्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदे भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः ।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते चैलांचलव्यवहितेन निरीक्षणीयः ।।
(बोधसार)

'—जिस प्रकार प्रेमानुराग, आलिङ्गन एवं अन्तःकरण के मिल जाने पर भी, अपने प्राणेश्वर पति को बुद्धिमती पत्नी घूँघट के ओट से देखती है, उसी प्रकार तत्त्वसाक्षात्कार सम्पन्न अभेदानुभवी विद्वान् भी, रसविशेष के लिये, भेदभाव से ही, परमेश्वर की समर्चा करना चाहते हैं ।' वास्तविकता तो यह है, 'पारमार्थिक रूप से अद्वैत का निश्चय करने पर भी, यदि भजन के लिये द्वैत की कल्पना कर ली जाय, तो ऐसी भक्ति शताधिक मुक्तियों से भी अधिक आनन्ददायिनी होती है'—

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे ।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु मुक्तिशताधिका ।।
(बोधसार)

———

४

ज्ञान-योग खण्ड

प्रस्तुत खण्ड की आधार शिला

'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।'
'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।' –गी० ४।३६,३७
'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।' –गी० ५, १७
'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।' –गी० १३, १६
'उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।
'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।'–गी० ७।१८,१९
'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।' –गी० ९,१९
'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।' –गी० १३,२
'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।। '–गी० १५,१
'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।' –गी० १४,५
'गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।' –गी० १४,२०
'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।।
'उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।'–गी० १४।२२,२३

ज्ञान एक-साधन अनेक

जीवन-मरण की रहस्यपूर्ण समस्या सुलझाने के लिये, मानव-मस्तिष्क सदैव प्रयत्नशील रहा है। आदि काल से वर्तमान वैज्ञानिक काल पर्यन्त बुद्धिमानों की बुद्धि की कसौटी यही है और भविष्य में भी रहेगी। मानव ही नहीं, अति क्षुद्र कीट, पतङ्गादि से महान् देव, दानव आदि पर्यन्त सभी जीवन की आकांक्षा रखते हैं, और मृत्यु से दूर रहना चाहते हैं। कितने ही भौतिक सुख क्यों न उपलब्ध हों एवं ज्ञान-विज्ञानादि सभी शास्त्रों में पारङ्गत भी हों, किन्तु यदि मृत्यु की विभीषिका सम्मुख उपस्थित हो, तो सभी सुख दुख:मय और शास्त्रज्ञान भार ही प्रतीत होते हैं। अमर जीवन होने पर ही, सुख एवं ज्ञान की चरितार्थता है। अत: सभी मानवोंकी आकांक्षा है, कि अजर, अमर जीवन हो, दुःखरहित सुख हो एवं अप्रतिबद्ध ज्ञान हो। इसीलिये प्राचीन काल में ऋषियों की प्रार्थना होती थी :

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति।
(बृह० १।३।२८)

'मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ, मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ, मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ।' इस मन्त्र का वास्तविक अभिप्राय स्वयं श्रुति बतलाती है :

स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह ।
तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह ।
मृत्योर्मामृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ।

(बृह० १।३।२८)

'वह जब कहता है—'मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ' यहाँ मृत्यु ही असत् है और अमृत सत् है । अतः वह यही कहता है, कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ यानी मुझे अमर कर दो । जब कहता है—'मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ', तब यहाँ मृत्यु ही अन्धकार है और अमृत ज्योति है । अतः यही कथन है—मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ यानी मुझे अमर कर दो । मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ—इसमें कुछ भी छिपा-सा है ही नहीं तात्पर्य इसका यही अर्थ है ।' सत्, ज्योति एवं अमृत शब्दों से एक ही अभिप्राय व्यक्त किया गया है—'मुझे अमर करो' ।

'छान्दोग्य उपनिषद्' के सप्तम अध्याय में नारद-सनत्कुमार केसम्वाद में भी यही समस्या उपस्थित है । देवर्षि नारद मृत्यु की विभीषिका से त्रस्त हो, भगवान् सनत्कुमार के पास गये । उन्होंने कहा '—भगवन् ! मैं ऋग्वेदादि चारों वेद जानता हूँ, इतिहास-पुराणरूप पंचम वेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या एवं देवजनविद्या आदि जानता हूँ । किन्तु मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं । मैंने आप-जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक से पार हो जाता है । भगवन्! मैं शोक करता हूँ, आप मुझे शोक से पार कर दीजिये ।' तब सनत्कुमार ने उत्तर दिया—'तुम यह जो कुछ जानते हो, वह नाम ही है ।' क्रमशः वाणी, आशा, संकल्प, मन, बुद्धि आदि की उपासना बतलाते हुये सनत्कुमार ने अन्त में कहा—'जहाँ कुछ अन्य नहीं देखता, कुछ अन्य नहीं सुनता तथा कुछ अन्य नहीं जानता, वह भूमा है । जहाँ कुछ अन्य देखता है, अन्य सुनता है और अन्य जानता है, वह अल्प है । जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य है, **यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्** (छान्दो० ७।२४।१) । भूमा ही आत्मा है और यह आत्मा ही सर्वत्र एवं सर्वरूपों में विद्यमान है । इस आत्मा का ज्ञाता मृत्यु से पार, अमृत होकर शोकविहीन हो जाता है ।

महाभारत के अन्तर्गत 'सनत्सुजातीय' उपाख्यान में मृत्यु एवं अमृतत्त्व का मार्मिक विवेचन मिलता है। महामुनि सनत्सुजात से राजा धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया— 'सनत्सुजात ! मैं जो आपका यह उपदेश सुनता हूँ कि 'मृत्यु है ही नहीं' और अमरत्व के लिये देव तथा असुरों ने ब्रह्मचर्य का पालन किया था—इनमें क्या सत्य है?' इसके उत्तर में सनत्सुजात मुनि ने कहा—'राजन् ! कुछ लोगों का मत है, कि कर्म से अमृतत्त्व मिलता है एवं अन्य विद्वानों का कथन है, कि मृत्यु है हीं नहीं। इसमें तुम शंका मत करो, यह कैसे है, मैं कहता हूँ सुनो'। सनत्सुजात ने कहा :

उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनाम् ।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि सदाप्रमादममृतत्त्वं ब्रवीमि ॥
प्रमादाद्वा असुराः पराभवन्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च ।
न वै मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून् नाप्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥

(सनत्सु० १।४-५)

'—क्षत्रिय ! दोनों मत आदिसर्ग के आरम्भ से प्रवृत्त हैं, अतः सत्य हैं, तथापि विद्वानों को जो अभिमत है, वह मृत्यु तो मोह है। किन्तु मैं तो प्रमाद को ही मृत्यु कहता हूँ और सर्वदा अप्रमाद को ही अमृतत्त्व बतलाता हूँ।' 'प्रमाद से ही असुरगण पराभूत हुये और अप्रमाद से सुरगण ब्रह्मत्त्व को प्राप्त हुये थे। सिंह के समान मृत्यु जन्तुओं का भक्षण नहीं करती एवं इसका कोई रूप भी उपलब्ध नहीं होता।' भगवान् सनत्सुजात का अभिप्राय है, कि सृष्टि के आदि से, दो विचारधारायें प्रवाहित हो रही हैं-–एक विषयी पुरुषों की और दूसरी विद्वानों की। विषयी पुरुषों का मत है, कि परमार्थतः मृत्यु की सत्ता है। अतः मृत्यु से मुक्त होने के लिये, वैदिक कर्मानुष्ठान- द्वारा अमृतत्त्व की कामना करते हैं। इनसे भिन्न आत्मज्ञान-सम्पन्न विद्वानों की दृष्टि में, अद्वितीय आत्मा के अतिरिक्त किसी की भी सत्ता नहीं है, अतः उनका कथन है कि 'मृत्यु है ही नहीं।' अपने-अपने स्थान में दोनों मत ठीक हैं, क्योंकि विद्वानों ने भी मृत्यु स्वीकार की है, विद्वानों के अनुसार 'मोह' ही मृत्यु है। अनात्मज्ञ पुरुष मृत्यु को वास्तविक मानते हैं और आत्मज्ञानी व्यावहारिक। एकात्मद्रष्टा पुरुष परमार्थतः आत्मा के अतिरिक्त किसी की भी सत्ता नहीं मानते। लौकिक पुरुष देहेन्द्रियादि को ही आत्मा मानते हैं, अन्य सभी को अनात्मा। आत्मज्ञानी इसे मोह या मिथ्याज्ञान कहते हैं। इस मिथ्याज्ञान के कारण ही लौकिक पुरुषों की मृत्यु होती है यानी अमृततत्त्व से वञ्चित रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप

नीच-उच्च योनियों में जन्म-मरण एवं सुख-दुःखादि की परम्परा चलती है, अतः 'मोह ही मृत्यु है'। महात्मा सनत्सुजात तो 'प्रमाद को ही मृत्यु' कहते हैं। प्रमाद का अर्थ है—स्वाभाविक आत्मभाव से प्रच्युति। आत्मस्वरूप का अज्ञान ही आत्मभाव से प्रच्युति है और यही प्रमाद है। इस अज्ञान या प्रमाद से ही मिथ्याज्ञान (मोह) उत्पन्न होता है। अज्ञान कारण है और मोह कार्य। सम्पूर्ण अनर्थों का बीज अज्ञान है। अज्ञान से ही मिथ्याज्ञान, कामना, कर्म, सुख-दुःख एवं जन्म-मरणादि प्राप्त होते हैं, अतः अज्ञान ही मृत्यु है। इसके विपरीत अप्रमाद अर्थात् आत्मस्वरूपावस्थिति यानी ज्ञान ही अमृतत्त्व है, यही मोक्ष है। अनात्मज्ञ विषयी पुरुष 'असुर' हैं, क्योंकि 'असु'—प्राण यानी इन्द्रियों में ही रमणशील होने से 'असुर' कहे जाते हैं। स्वाभाविक आत्मभाव का अतिक्रमण कर, देहादि में ही रमण करने से, तिर्यगादि योनियाँ प्राप्त होना पराभव है। इसके विपरीत स्वात्मा में रमण करने वाले पुरुष 'सुर' हैं। स्वाभाविक आत्मभाव से स्थित होने के कारण, वे ब्रह्मत्व अर्थात् अमरत्व-प्राप्त करते हैं। निष्कर्ष यही, कि अज्ञान ही मृत्युहै और ज्ञान अमरत्व।

अज्ञान अन्धकार के समान है और ज्ञान ज्योतिःस्वरूपवत्। प्रकाश होने पर अन्धकार का कहीं भी अस्तित्व नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान होने पर अज्ञान की भी स्थिति नहीं रहती। गीता में अर्जुन की भी स्थिति अज्ञानमयी थी। अज्ञान के कारण ही शोकमोहाभिभूत था, भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञानोपदेश - द्वारा शोक से पार किया। क्योंकि शोक, मोह तथा अज्ञानादि से पार होने के लिये एकमात्र आत्मज्ञान ही मार्ग है। वेदों के शीर्षस्थानीय उपनिषदों में ज्ञान का कथन अनेक प्रकार से किया गया है। 'ईशावास्यउपनिषद्' में कहा है—**तत्र को मोहः कः शोक एकत्व-मनुपश्यतः** (७) '—उस एकत्व-दर्शन काल में आत्मज्ञ को क्या शोक तथा मोह हो सकता है?', **तरति शोकमात्मवित्** (छा० ७।१।३) '—आत्मवित् शोक से पार हो जाता है', **ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्युप्रहाणिः** (श्वे० १।११) '—परमात्मज्ञान होने पर पाशरूप सम्पूर्ण अविद्यादि क्लेशों का नाश हो जाता है और अविद्यादि दुःखों के नाश के साथ ही जन्म-मृत्यु की निवृत्ति हो जाती है,' **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** (श्वे०३।८) '—ज्ञान से अतिरिक्त परमपद-प्राप्ति के लिये और कोई मार्ग नहीं हैं', **अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति** (कठ० १।२।१२) '—अध्यात्मयोग-द्वारा पुराण पुरुष को जान कर बुद्धिमान् हर्ष-शोक का परित्याग कर देता है', **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** (तै० २।१) '—ब्रह्मज्ञानी मुक्ति-प्राप्ति करता है,'इत्यादि सभी उपनिषदों में ज्ञान से परमपद की

प्राप्ति और अज्ञान तथा अज्ञानजनित कार्यों की निवृत्ति कही गई है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने स्थान-स्थान पर इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है :

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

(गी० ४।३६-३८)

'——यदि तुम सब पाप करने वालों से भी अधिक पापकर्मा हो, तो भी ज्ञान-रूप नौका-द्वारा सब पापों को तर जाओगे।' 'अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठसमूह को भस्म कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है।' 'ज्ञान के समान पवित्र करने वाला इस लोक में कोई दूसरा नहीं है, अधिकारी दीर्घकाल में स्वयं योग से सिद्ध उस ज्ञान को अपनी आत्मा में प्राप्त करता है।'

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(गी० ५।१७)

'——ज्ञान-द्वारा जिनके पापादि दोष निवृत्त हो गये हैं, वह तद्बुद्धि, तदात्मा, तन्निष्ठ एवं तत्परायण होकर,अपुनरावृत्ति——प्राप्त करते हैं।' **ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः** (गी० ५।२०) '—ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में ही स्थित है', **तस्मादेवं विदित्वैनं नाऽनुशोचितुमर्हसि** (गी० २।२५) '——अतः आत्मा को जान कर, तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।' इस प्रकार गीता में ज्ञान से अज्ञान तथा अज्ञानजनित शोक, मोह, द्वन्द्व आदि कार्यों का विनाश एवं मुक्ति का प्रतिपादन सर्वत्र परिलक्षित होता है। कर्म एवं भक्ति की अन्तिम सीमा ज्ञान है। निष्काम भगवदर्पण कर्मों से अनेक जन्म-जन्मान्तरों के अन्तःकरण में सञ्चित दूषित संस्कारों का प्रक्षालन होता है, तब मानसिक कर्म यानी भगवद्भक्ति की योग्यता प्राप्त होती है। भक्ति से मानसिक चञ्च-

लता-निवारण, भगवत्प्रेमोत्पत्ति एवं ज्ञान की योग्यता प्राप्त होती है। ज्ञान से मूल अज्ञान–विनाश और शुद्ध आत्मतत्व में स्थिति होती है। आत्मतत्व में स्थिति ही मुक्ति है। जीवतावस्था में जीवन्मुक्ति एवं देह न रहने पर विदेहमुक्ति होती है।

'जिस ज्ञान की इतनी महिमा सभी शास्त्र कहते हैं, उस ज्ञान का स्वरूप क्या है? गीता में ज्ञान का वर्णन अनेक रूपों में मिलता है। क्या ज्ञान के अनेक रूप हैं? सातवें अध्याय में **ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः** (७।२) '—मैं तुम्हें ज्ञान विज्ञान के सहित पूर्णरूप से कहूँगा', यह कह कर भूमि आदि आठ प्रकार की अपरा प्रकृति एवं जीवरूपा पराप्रकृति का वर्णन करते हुये, अपने से ही समस्त जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश स्वयं भगवान् ने कहा है। साथ ही यह भी कहा है कि 'मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के समान ग्रथित है।' नवम अध्याय में **अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन** (९।१९) '—अमृत तथा मृत्यु एवं सत्-असत् मैं ही हूँ', कहा है और इसे परम गोपनीय ज्ञान बतलाया है। तेरहवें अध्याय के ७वें श्लोक से ११वें श्लोक तक अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा आदि का वर्णन करते हुये कहा है कि **एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्** (गी० १३।११) '—यह ज्ञान का वर्णन किया है।' इसी प्रकार चौदहवें अध्याय में **ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्** (गी० १४।१) '—समस्त ज्ञानों में परमोत्तम ज्ञान', कह कर सत्त्व, रज तथा तमोगुणों का वर्णन किया है और अन्त में गुणातीत होने के लिये कहा है। इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी ज्ञान के विवेचन मिलते हैं। इनसे बुद्धि भ्रमित होती है और कोई भी निश्चय नहीं कर पाती, कि वास्तव में ज्ञान क्या है?' निश्चय ही, आपाततः देखने पर ऐसा ही प्रतीत होता है, किन्तु विचारपूर्वक अध्ययन करने पर, दूसरा ही निष्कर्ष निकलता है। ब्रह्म या आत्मा एक है, इस कारण इसका ज्ञान भी एक है, किन्तु ज्ञान के साधन अनेक हैं, ज्ञान के साधन होने से,उनको भी 'ज्ञान' कहा जाता है। आत्मा स्वप्रकाश, नित्य, अनन्त, ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप है। आत्मा से अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है, यदि प्रतीत होती है, तो वह मरुमरीचिका में जल अथवा रज्जुसर्पवत् है। मरुभूमि में जल की प्रतीति तथा रज्जु में सर्प की भ्रान्ति अज्ञान के कारण ही होती है। अज्ञान-वश मृग पिपासा-निवृत्ति के लिये मरुमरीचिका की ओर दौड़ता है, किन्तु जल न मिलने से अन्ततः जीवन-नष्ट कर देता है। रज्जु में सर्प देख कर पुरुष भी भय, कम्प, रोमाञ्च-आदि युक्त होते हैं, किन्तु प्रकाश में रज्जु देखने पर भय, कम्पादि से निवृत्त हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्म-अज्ञान और देहेन्द्रिय में आत्म-प्रतीत होने से, पुरुष बन्धन में पड़ता है। आत्मज्ञान-द्वारा अज्ञान-निवारण होने पर, मुक्त हो जाता है।

आत्मा स्वप्रकाश, प्रत्यक्ष एवं सम्पूर्ण प्राणियों का स्वरूप है। 'कठोपनिषद्' में कहा है—**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते** (कठ० १।३।१२) '—यह आत्मा सम्पूर्ण भूतों में छिपा होने से, प्रकाशित नहीं होता।' गीता में भगवान् का कथन है—**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः** (गी० ७।२५) '—योगमाया से आच्छादित होने के कारण,मैं सब प्राणियों के प्रति प्रकाशित नहीं होता', **अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः** (गी० ५।१५) '—अज्ञान से ज्ञान आवृत्त है, इसलिये जीव मोहित हो रहे हैं'। ज्ञान या अज्ञान आत्मा के धर्म नहीं हैं, क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण धर्म तथा गुण-विवर्जित है। **अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्** (कठ० १।२।१४) '—जो धर्म से पृथक्, अधर्म से पृथक् तथा इस कार्यकारणरूप प्रपञ्च से भी पृथक् है', **अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः** (गी० १३।३१) '—यह महान् आत्मा अनादि, निर्गुण तथा अव्यय है', इन प्रमाणों से आत्मा में किसी भी गुण की सत्ता नहीं है। ज्ञान तथा अज्ञानादि, बुद्धि के ही धर्म हैं। 'मैं नहीं जानता' यही अज्ञान का स्वरूप है। सम्मुख गाय खड़ी हो, किन्तु जिसने गाय को न देखा हो, पूछने पर यही कहेगा कि 'मैं नहीं जानता' यही 'अज्ञान' है और बतलाने पर कि 'यह गाय है' गो को गो समझ लेना ही 'ज्ञान' है। प्रत्यक्ष गो होने पर भी, अज्ञान से गो नहीं जानी जाती, उसी प्रकार प्रत्यक्ष आत्मा होने पर भी, अज्ञान के कारण ही साक्षात्कार नहीं होता। यद्यपि जब कोई विषय-पदार्थ बुद्धि में नहीं होते, तब बुद्धि आत्माकार होती है और आत्मा को ही विषय करती है, तथापि अज्ञात ही रहती है। बुद्धि का स्वभाव इन्द्रियों के साथ बहिर्गमन और स्थूल पदार्थ-ग्रहण करने का है। इसी कारण, सूक्ष्म आत्मतत्व का ग्रहण नहीं करती। इन्द्रिय-रचना इस प्रकार की है, कि वे शब्दादि विषयों की ओर स्वभावतः जाती हैं। 'कठोपनिषद' में कहा है—**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्** (कठ० २।१।१) '—परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख कर हिंसित कर दिया, इसी से प्राणी बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं'। इन्द्रियों के साथ बुद्धि भी, बाह्य शब्दादि विषयों की ओर जाती है, यही प्रतिबन्ध है। इसी कारण आत्म-साक्षात्कार नहीं होता। शरीर तथा इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि हो

जाती है और शरीर के लिये कामना, कर्म तथा भोग की परम्परा चल पड़ती है। प्रथम होता है अज्ञान, अज्ञान से संशय, फिर विपरीत ज्ञान या अध्यास होता है और अध्यास से काम, क्रोध, लोभ, मद, मानापमान, हिंसा, दम्भ आदि अनेक कर्म-भावना की शृङ्खला बन जाती है। ये सभी आत्मा के प्रतिबन्धक हैं, जब तक इन्हें हटाया नहीं जायगा, तब तक आत्मदर्शन सम्भव नहीं। इसी प्रकार 'आत्मा अनेक हैं, ईश्वर भिन्न है और प्रकृति अन्य है' आदि अज्ञानजन्य प्रतिबन्ध हैं। इन्हें भी हटाना होगा, तभी आत्मा का शुद्ध और वास्तविक ज्ञान होगा। इन सभी प्रतिबन्धकों का मूल है अज्ञान। अज्ञान निवृत्त होगा ज्ञान से और ज्ञान होता है महावाक्य से। महावाक्य का रहस्य खुलता है, श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु से। गुरु-द्वारा असंग आत्मतत्त्वोपदेश से शिष्य की बुद्धिवृत्ति आत्माकार हो जाती है। आत्माकाराकारित बुद्धि ही ज्ञान है।

'यदि 'आत्माकाराकारित बुद्धि ही ज्ञान है' तो भक्ति और ज्ञान में अन्तर क्या ? क्योंकि भगवदाकाराकारित बुद्धि भक्ति है और आत्मा या ब्रह्माकाराकारित बुद्धि ज्ञान है, ऐसी स्थिति में नाम के अतिरिक्त कुछ भी भेद नहीं।' इसका उत्तर है कि भक्ति तथा ज्ञान में बड़ा अन्तर है। यद्यपि दोनों में ही बुद्धि-वृत्ति है, तथापि काल्पनिक तथा परोक्ष बुद्धि-वृत्ति भक्ति है और वास्तविक तथा प्रत्यक्ष बुद्धि-वृत्ति ज्ञान है। किसी प्रतिमा आदि प्रतीक में विष्णु की भावना 'भक्ति' कही जाती है। प्रतिमा में विष्णु की भावना करना या न करना अथवा विपरीत भावना करना पुरुष के अधीन है यानी पुरुष-परतन्त्र भक्ति है। ज्ञान इससे विपरीत है, वस्तु सम्मुख हो तथा प्रमाण हो, तो पुरुष के न चाहने पर भी दर्शन होगा ही। गङ्गा प्रवाहित हो रही हैं, नेत्र-सम्बन्ध तथा प्रमाण-होने पर, अवश्य ही गङ्गा-दर्शन होंगे, पुरुष के न चाहने पर भी, गङ्गा-ज्ञान को हटाया नहीं जा सकता। अतः ज्ञान न तो पुरुष के अधीन है, न परोक्ष। पति-सम्मुख होने पर, पत्नी दर्शन करती है–यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। पति के विदेश जाने पर पत्नी ध्यान करती है–यह परोक्ष भक्ति है। स्वामी मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्ति रसायन' में ज्ञान तथा भक्ति के स्वरूपादि का वर्णन इस प्रकार किया है—

विषय	भक्ति	ज्ञान
स्वरूप	मन का द्रवीभाव होने पर 'सविकल्पक वृत्ति' रूप से मन का भगवदाकार होना भक्ति है।	मन का द्रवीभाव हुए विना ही, अद्वितीय आत्ममात्र का साक्षात्कार होकर 'निर्विकल्प मनोवृत्ति' ब्रह्मविद्या (ज्ञान) है।
साधन	भगवान् के गुणों की गरिमा जिसमें गाई गई हो, उन ग्रन्थों का श्रवण भक्ति का साधन है।	'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों का अनुशीलन, ब्रह्मविद्या का साधन है।
फल	भगवद्विषयक प्रेम का अत्यन्त बढ़ जाना ही भक्ति का फल है	संपूर्ण अनर्थों का मूल अज्ञान है, उसका निवारण ही ब्रह्मविद्या का फल है।
अधिकारी	प्राणिमात्र भक्ति करने का अधिकारी है।	साधन चतुष्टय (१ नित्यानित्य विवेक, २ वैराग्य, ३ शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा और ४ मोक्षेक्षा) सम्पन्न संन्यासी ज्ञान का अधिकारी है।

भगवान् श्री शङ्कराचार्य ज्ञान में सभी का अधिकार मानते हैं, उनका कहना है—**ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणाम् अधिकारः** (मुण्डकोपनिषद् भाष्य) '—यद्यपि ज्ञानमात्र में सभी आश्रमवालों का अधिकार है' तथापि संन्यासनिष्ठ होने पर ही, ज्ञान मोक्ष का साधन होता है। यह उचित भी है, क्योंकि सभी प्राणियों का स्वरूप आत्मा ही है एवं अपने स्वरूप का ज्ञान सभी को अभीष्ट है तथा ज्ञान का अधिकार भी है। एक बात और, भक्ति दूसरे में की जाती है,

स्वयं में नहीं। अन्य में भेद या भक्ति करने का फल श्रुति बतलाती है—**अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्** (बृह० १।४।१०) '—यह देव अन्य है और मैं अन्य हूँ, इस प्रकार जो समझता है, वह आत्मतत्त्व को नहीं जानता, जैसे (मनुष्यों का) पशु होता है, वैसे ही वह देवों का पशु है।' ज्ञान के सम्बन्ध में **स इदं सर्वं भवति** (बृह० १।४।१०) '—वह यह सब कुछ हो जाता है', **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति** (मु० ३।२।९) '—ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है'—इस प्रकार ज्ञान से पूर्ण, स्वतन्त्र, सर्वात्मस्वरूप ही होता है। अतः सभी दृष्टियों से ज्ञान और भक्ति में अन्तर है।

परमानन्दस्वरूप ही ब्रह्मात्मा है, वह अनन्त, नित्य एवं ज्ञानस्वरूप है। उसमें ही सम्पूर्ण विश्व कल्पित है, उसी से जीवादि विविध प्रकार-संसार दृष्टिगोचर होता है। उसके प्रत्यक्ष ज्ञान से ही समस्त अनर्थों की निवृत्ति होती है। कर्म तथा भक्ति से उत्पन्न होनेवाला मोक्ष, द्वैतस्वरूप होने से, एक प्रकार का संसार ही है। कर्म से उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य एवं विकार्य फल ही उत्पन्न होते हैं और वे सभी अनित्य माने गये हैं। इसी प्रकार भक्ति से उत्पाद्य, प्राप्य आदि मुक्ति सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सायुज्य भी अनित्य होगी। किन्तु ज्ञान से मुक्ति नित्य होती है, क्योंकि आत्मस्वरूप के अज्ञान से बन्धन है, अतः आत्मज्ञान से मुक्ति होती है। उपर्युक्त चार कोटियों से सर्वथा भिन्न ज्ञान से मुक्ति होती है, वह मुक्ति आत्म-स्वरूपिणी है। आत्मा अनन्त, नित्य, ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप हैं, अतः मुक्ति का यही स्वरूप है। आत्मा सदैव मुक्त है, अज्ञान से कल्पित बन्धन माना जाता है, ज्ञान होने पर, उसकी निवृत्ति होती है। आत्मा की प्राप्ति या मुक्ति की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु भ्रान्ति-निवृत्ति होने पर, प्राप्त की ही प्राप्ति होती है। अतः ज्ञान से मुक्ति, निर्विकार, नित्य, अनन्त एवं आनन्दस्वरूप होती है।

प्रत्यक्ष प्रमाण श्रुतियों में—**अयमात्मा ब्रह्म** (मा० २) '—यह आत्मा ही ब्रह्म है', **अहं ब्रह्मास्मि** (बृह० १।४।१०) '—मैं ब्रह्म ही हूँ', **इदं सर्वं यदयमात्मा** (बृह० २।४।६) '—ये सब जो कुछ भी हैं, सब आत्मा ही हैं', **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छा० ३।१४।१) '—यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म है', इस प्रकार जीव, जगत् एवं ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन मिलता है। प्रकारान्तर से गीता में भगवान् का भी यही कथन है—**वासुदेवः सर्वमिति** (गी० ७।१९) '—यह सब वासुदेव है', **गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्यय ॥** (गी० ९।१८) '—कर्मफल, भर्ता, स्वामी, साक्षी, वास-

स्थान, शरण, सुहृत्, प्रभव तथा प्रलय, स्थान, कर्मों का भण्डार और अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ।' कहाँ तक पृथक्-पृथक् नामों का निर्देश किया जाय, इस लिये अन्त में भगवान् कहते हैं–**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन** (गी० ९।१९) '–अर्जुन ! अमृत तथा मृत्यु एवं सत्-असत् भी मैं ही हूँ।' इसी प्रकार जीव तथा ईश्वर की एकता का भी स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं–**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत** (गी० १३।२) '–भारत ! तुम सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी, मुझको ही जानो।' इन सैद्धान्तिक प्रमाणों के आधार पर यही निश्चित होता है, कि जो कुछ भी जगद्रूप से है या नहीं है, वह सब परमेश्वर ही है और जीवरूप से भी वही है। किन्तु जिन पुरुषों को वास्तविक ज्ञान नहीं है, वे अज्ञानजनित संसार में इधर-उधर भटकते हैं। जिस प्रकार घर में अपार सुवर्ण-निधि हो, किन्तु उसका ज्ञान न होने से, मनुष्य क्षुधा-निवृत्ति के लिये इधर-उधर भीख माँगता है, उसी प्रकार संसारी मनुष्यों की स्थिति है। जब किसी अभिज्ञ-द्वारा सुवर्ण-निधि का ज्ञान कराया जाता है तब भीख माँगने से निवृत्त होकर, राजा के समान पूजनीय होता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष से, यह जान कर कि 'तुम ब्रह्मात्मा हो', संसारी जीव भी जन्म-मृत्यु, दुःख, भय एवं शोकमोहादिरहित, आत्मस्वरूप में स्थित हो, चिरशान्ति-प्राप्त करता है।

ज्ञान-द्वारा आत्म-साक्षात्कार होने पर,अज्ञान एवं अज्ञानजनित अनात्मपदार्थों का बाध हो जाता है। जिस प्रकार घट, पट आदि अनात्मपदार्थों का प्रत्यक्ष दर्शन होता है, उसी प्रकार आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है। 'वार्तिकसार' में कहा है :

कुम्भाकारेण कुम्भार्थो यथा प्रत्यक्ष ईक्ष्यते।
धीज्ञानेन तथा प्रत्यगात्माकारेण गृह्यते ॥
(वार्ति० ४।३।८६)

'–जिस प्रकार कुम्भ के आकार से कुम्भ प्रत्यक्ष देखा जाता है, उसी प्रकार आत्माकार बुद्धि-वृत्ति से, आत्मा भी गृहीत होता है।' तात्पर्य जैसे स्व आकार से घट का प्रत्यक्ष दर्शन होता हैं, वैसे ही स्वात्माकार से आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है। तभी समस्त संशयों की निवृत्ति और 'मैं आत्मस्वरूप ही हूँ' इसकी दृढ अनुभूति होती है। उपनिषद् तथा गीता में भी इसी का कथन स्थान-स्थान पर मिलता है। **दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**(कठ० २।३।१२)

'—यह (आत्मा) तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों-द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्मबुद्धि से ही देखा जाता है।' **एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना** (गी० ३।४३) '–बुद्धि आदि सम्पूर्ण दृश्यों से विलक्षण, अखण्डरस आत्मा को जान कर और बुद्धि को आत्मा के साथ समाधिस्थ कर', **आत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति** (गी० ६।२०) '—बुद्धि से आत्म-दर्शन करता हुआ, आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है', **बुद्धियोग-मुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव** (गी० १८।५७) '—बुद्धियोग का आश्रय लेकर, मुझमें निरन्तर चित्त लगाओ।' इस प्रकार आत्माकाराकारित बुद्धि-वृत्ति को ही 'ज्ञान' कहा जाता है। ज्ञानमयी बुद्धि-वृत्ति से सम्पूर्ण विश्व एवं जीवत्व-लय हो जाने पर, एकमात्र ब्रह्मात्मा ही शेष रहता है। यही सिद्धान्त उपनिषदों में वर्णित है। 'तेजोविन्दु उपनिषद्' में कहा है–**दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत्** (तेजो० १।२९) '–ज्ञानमयी दृष्टि-द्वारा ब्रह्ममय जगत् को देखे', इस प्रकार ऐकात्म्यदर्शन को ही ज्ञान कहा है। **अभेददर्शनं ज्ञानम्** (स्कन्द उपनिषद् ११) '—अभेददर्शन ही 'ज्ञान' है', इत्यादि ज्ञान की परिभाषा है। अतः एकमात्र यही मुख्य ज्ञान या साध्य ज्ञान है।

साध्य ज्ञान-प्राप्त करने के लिये अनेक साधन हैं। जिन विषय तथा विचार-द्वारा ज्ञान का प्रतिबन्ध होता हो, उन्हें निवृत्त करने के लिये, जिन साधनों का उपयोग होता है, उनको भी ज्ञान कहा जाता है। गीता के तेरहवें अध्याय में सात से ग्यारहवें श्लोक तक, जो ज्ञान के चौबीस साधन कहे गये हैं, उनका उद्देश्य है–विपरीत विचारों को हटाना। मानित्व, दम्भित्व, हिंसा, अक्षान्ति, कुटिलता, अशुश्रूषा, अशौच, अस्थिरता एवं शरीर में वैषयिक प्रवृत्ति-निवारण के लिये क्रमशः अमानित्व, अदम्भित्व,अहिंसा, क्षान्ति, सरलता, आचार्य-शुश्रूषा, शौच, स्थिरता एवं शरीर-निग्रह की आवश्यकता है। इसी प्रकार विषयों में राग, अहंकार, जन्म-मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख, आसक्ति, ममता एवं हर्ष-शोक भी ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं; अतः इनके निवारण के लिये क्रमशः वैराग्य, अनहङ्कार, जन्म में दोषदर्शन, मृत्यु, जरा, व्याधि तथा दुःख में भी दोषदर्शन, अनासक्ति, ममता का अभाव एवं इष्टानिष्ट-प्राप्त में सम रहना आवश्यकीय है। अनात्मपदार्थ में बुद्धि-विचरण रोकने के लिये, परमात्मा में अव्यभिचारिणी भक्ति, अपवित्र देश से, पवित्र देश में निवास, जन-समुदाय में प्रीति-निवारणार्थ, विद्वान् पुरुषों का संग, अनात्मज्ञान में स्थिति न होने के लिये, अध्यात्मज्ञान में सदैव स्थिति एवं बन्धन से मुक्त होने के लिये, मोक्ष-विचार में तत्परता। ये सभी ज्ञान के साधन होने से, 'ज्ञान' कहे जाते हैं और मानित्व आदि अज्ञान की श्रेणी में आते हैं। इन चौबीस साधनों के अभ्यास-

द्वारा स्थूल-सूक्ष्म देह से अहं-मम-भावना निवृत्ति होती है, चित्त शुद्ध होता है, तब महावाक्यजनित ज्ञानोपदेश का अधिकारी बनता है। अधिकारसम्पन्नपुरुष में साध्य ज्ञान-उदय होता है और साध्य-ज्ञान से परम शान्ति मिलती है।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक या देह-देही-ज्ञान भी, साध्यज्ञान में सहायक होने से, साधन ज्ञान में परिगणित होता है। प्राणिमात्र स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण देहों में, आत्मप्रतीति के अज्ञान से ग्रसित हैं। इस भ्रान्ति-निवारणार्थ आत्मा तथा देह का पृथक्करण आवश्यक है। इसके लिये आत्मा के लक्षण और देह के लक्षणों का विवेक आवश्यक है, अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे, तेरहवें तथा चौदहवें अध्याय में इनका वर्णन किया है। द्वितीय अध्याय में आत्मा के लक्षण इस प्रकार कहे हैं :

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥

(गी० २।२०-२१)

'—यह आत्मा किसी भी काल में न उत्पन्न होता है, न मरता है और न कभी उत्पन्न होकर पुनः अस्तित्व-प्राप्त करता है, क्योंकि वह जन्मरहित, नित्य है, शाश्वत और पुराण है। शरीर-नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता।' 'पार्थ ! जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अज, और अव्यय मानता है, वह कैसे किसको मारता है, और कैसे किसको मरवाता है ?'

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नाऽनुशोचितुमर्हसि ॥

(गी० २।२४-२५)

'—यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, स्थिरस्वभाव, अचल और सनातन है,

इसलिये छेदन, दाहन, क्लेदन और शोषण इसका नहीं हो सकता।' 'आत्मा बुद्धि आदि से व्यक्त नहीं होता, इसलिये सूक्ष्म देह से भिन्न है, अचिन्त्य होने से कारण शरीर से भिन्न है और निरवयव होने से स्थूलदेह से भिन्न, अविकारी कहा जाता है, इस प्रकार आत्मा को जान कर, तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।'

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥
(गी० २।१८)

'—विनाशरहित, अप्रमेय और नित्य देही के ये देह अनित्य हैं, इसलिये भारत! युद्ध करने के निमित्त तैयार हो।' देह-क्षेत्र कहा जाता है और आत्मा-क्षेत्रज्ञ। क्षेत्र जिन तत्वों से निर्मित तथा रक्षित है और जो धर्म क्षेत्र के हैं, उनका वर्णन करते हैं :

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चचेन्द्रियगोचराः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥
(गी० १३।५-६)

'—पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त नामक प्रकृति, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पञ्च शब्दादि विषय।' 'इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, शरीर-संघात, चेतना तथा धृति—ये सब क्षेत्र हैं, संक्षेप से विकारी क्षेत्र का कथन किया गया।' इस अध्याय के आरम्भ में ही कहा गया है कि 'यह क्षेत्र जैसा है, जिस धर्मवाला और जैसे विकारवाला तथा जिस कारण से जो कार्य होता है, एवं क्षेत्रज्ञ जिस प्रभाव वाला है, उस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनों का यथार्थ स्वरूप संक्षेप से मुझसे सुनो।' (१३।३) क्षेत्रज्ञ के लिये यह भी कहा गया है कि 'भारत! तुम सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो'—**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत** (१३।२)। इसी प्रतिज्ञा के अनुसार क्षेत्र का वर्णन किया, 'अमानित्व' आदि ज्ञेय क्षेत्रज्ञ के साधनों का वर्णन पाँच श्लोकों में कर, फिर ज्ञेय क्षेत्रज्ञ का वर्णन करते हैं :

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तः सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।
बहिरन्तश्च भूतानामचरंचरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।

(गी० १३।१२-१६)

'–जो ज्ञातव्य है, उसको मैं कहूँगा, जिसे जान कर पुरुष संसार से मुक्त हो जाता है, वह ज्ञेय तत्त्व ब्रह्म तथा अनादिमत् है एवं न उसे सत् (कार्य) कहते हैं न असत् [कारण]।' 'क्षेत्रोपाधि से ज्ञेय सब ओर हाथ-पैर वाला, सब ओर नेत्र, शिर, मुख तथा कान वाला है, लोक में वह सबको व्याप्त कर स्थित है ।' 'सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों का अवभासक, सब इन्द्रियों से रहित, असंग, सबको धारण करनेवाला अधिष्ठान, गुणरहित एवं गुणों का भोक्ता है ।' 'वह शरीर के भीतर तथा बाहर है और सब चराचर शरीर है, सूक्ष्म होने से अविज्ञेय, अज्ञानियों के लिये दूर और ज्ञानियों के लिये आत्मा ही है ।' 'वह ज्ञेय अविभाजित है और समस्त भूतों में विभाजित के समान स्थित है एवं भूतों का पोषक, संहारक तथा उत्पादक है ।' इस प्रकार क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ सर्वथा विलक्षण तथा असंग है। अपने आत्मस्वरूप को जान कर, जो पुरुष आत्मा में ही स्थिर रहता है वह मुक्ति का भागी होता है। किन्तु जो क्षेत्र में आसक्त है, वह जन्म-मरण-प्रवाह में प्रवाहित होता है। अनादि काल से जन्म-मरण-प्रवाह प्रवाहित हो रहा है, अतः क्षेत्र की कारणरूपा प्रकृति एवं क्षेत्र में तादात्म्याध्यास करने से पुरुष भी, अनादि काल से विद्यमान हैं। पुरुष यानी क्षेत्राभिमानी आत्मा भोक्ता है और शरीरादि की उपादान कारण प्रकृति शरीरादि की निर्मात्री है, यही गीता कहती है :

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गी० १३।२०-२१)

'—कार्य शरीर और करण इन्द्रियाँ—इनके कर्तापन में हेतु प्रकृति है, पुरुष-जीव सुख-दुःखादि भोगों के भोक्तापन में कारण कहा जाता है ।' 'कार्य-करण में परिणत प्रकृति में पुरुष स्थित होकर यानी प्रकृति को अपना स्वरूप ही मान कर, प्राकृतिक गुणों का उपभोग करता है, गुणों में आसक्ति के कारण, पुरुष उत्तम-अधम योनियों में जन्म लेता है ।' वास्तव में पुरुष प्रकृति से पर है :

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुष परः ॥

(गी० १३।२२)

'—कार्यकरणसंघातरूप इस देह में 'अहं' का अभिमानी आत्मा देह से भिन्न है, क्योंकि वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहा गया है ।' प्रकृति निर्मित स्थूल-सूक्ष्म देह ही 'पुर' है, जो इस शरीर में तादात्म्यापन्न है, वह 'पुरुष' है । अन्तःकरण में स्वाभास से अनुविद्ध होकर, अन्तःकरण के सुख-दुःखादि धर्मों को, अपने धर्म मानने से बन्धन होता है । जब 'प्रकृतिस्थ' न होकर 'स्वस्थ होता है, तब अपने को 'महान् से भी महान्' और 'परमात्मा' देखता है । वास्तव में उसका यही स्वरूप है और इस आत्मदर्शन से पुनर्जन्म नहीं होता ।

इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ या देह-देही का विवेक होने पर, देह में विवेकी पुरुष की आत्म-भावना नहीं रहती । देहात्मभावना का अभाव होने पर, पूर्ण वैराग्य होता है एवं विक्षिप्तरहित बुद्धि आत्मा में अचल हो जाती है । फिर किसी प्रकार संशय नहीं रहता । स्वात्मा में ही ज्ञानी रमण करता है, स्वात्मा में ही तृप्त रहता है एवं कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता । यही आशय भगवान् प्रकट करते हैं :

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
(गी० २।५३)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवाः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

(गी० ३।१७)

'—श्रुतियों से विक्षिप्त तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल होकर समाधि—आत्मा में स्थिर हो जायगी, तब तुम योग को प्राप्त होओगे।' 'जो पुरुष केवल आत्मा में तृप्त रहता है और आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।' तात्पर्य यह कि शास्त्र में कर्म, उपासना तथा ज्ञान का वर्णन किया गया है एवं सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म का भी प्रतिपादन है। कहीं पर जीव, ब्रह्म तथा प्रकृति तीनों का वर्णन है, कहीं दो का और कहीं एक मात्र निर्विशेष ब्रह्मज्ञान का। इन वर्णनों से बुद्धि संदिग्ध हो जाती है, कि सत्य क्या है? किन्तु जब उपक्रमोपसंहारादि-द्वारा शास्त्र का तात्पर्य जाना जाता है, तब संशयरहित यही निश्चय होता है, कि 'एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म ही है'। उस अवस्था में बुद्धि निश्चित ब्रह्मात्मतत्त्व में स्थित हो जाती है यानी बुद्धि आत्माकाराकारित हो जाती है, तब अहंब्रह्मास्मि (बृह० १।४।१०) '—मैं ब्रह्म ही हूँ' इस लक्ष्यार्थ की अनुभूति होती है। फिर सदैव नित्य, आनन्दैकरस, अद्वितीय, स्वात्मस्वरूप में ही बुद्धि रमण करती है, अनात्मपदार्थ में नहीं। अन्य प्राप्तव्य का अभाव होने से, आत्मा में ही तृप्त रहती है और आत्मा में ही सन्तुष्ट। आत्मज्ञानमयी बुद्धि जिस पुरुष की है, वह कृतकृत्य है। उसके लिये कोई कर्तव्य कर्म शेष नहीं, क्योंकि समस्त कर्तव्यों की सीमा यही है। अतः आत्मज्ञान ही परम पुरुषार्थ है, और वह ज्ञान एक तथा साधन अनेक हैं।

———

"वासुदेवः सर्वमिति"

सांख्यशास्त्र के अनुसार दो तत्त्व हैं–प्रकृति और पुरुष, । दोनों अनादि-अनन्त हैं। प्रकृति एक है, पुरुष अनेक । प्रकृति जड, त्रिगुणात्मिका एवं प्रसवधर्मिणी है और पुरुष निर्गुण, चेतन, अविषय तथा अकर्ता है । पुरुष के भोग तथा मोक्ष के लिये, प्रकृति संसार-उत्पन्न करती है । सत्त्व, रज तथा तमोगुण क्रमपूर्वक सुख, दुःख एवं मोहात्मक हैं, यही गुणों का स्वरूप है और प्रकाशकरना, प्रवृत्ति करना तथा नियमन करना इनका क्रमशः कार्य है । तीनों गुण परस्पर आश्रित हैं और संसार के सभी कार्य त्रिगुणात्मक होने से, जनक भी हैं एवं स्त्री-पुरुष के समान आपस में संयोग स्वभाव भी है । किन्तु एक गुण प्रबल होने पर, अन्य दो गुण निर्बल होते हैं। सत्त्वगुण की अधिकता होने पर, शरीर में हलकापन तथा प्रकाशकत्व होता है, रजोगुण की अधिकता से कार्य-प्रवृत्ति तथा क्रिया होती है एवं तमोगुण के अधिक होने पर, गुरुत्व तथा प्रतिबन्धकत्त्व होता है । यद्यपि ये तीनों गुण परस्पर विरुद्ध स्वभाव हैं, इसलिये किसी एक कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते, तथापि जैसे तैल, बत्ती तथा अग्नि परस्पर विरुद्ध होने पर भी अन्धकार-नाश-द्वारा, प्रकाशरूप कार्य के लिये, तीनों विरोध-त्याग कर पदार्थों को प्रकाशित करते हैं, वैसे ही तीनों गुण आपस में विरोध-त्याग कर, भुक्ति-मुक्तिरूप पुरुषार्थ के लिये, सम्मिलित होकर कार्य करते हैं । इन गुणों से

महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है, महत्तत्त्व से अहंकार की और अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्च सूक्ष्म तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। पञ्चतन्मात्राओं से आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा भूमि ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन प्रकृति-विकृति तत्त्वों से स्थूल-सूक्ष्म शरीर तथा संसार की रचना होती है। संसार-रचना प्रकृति अपने लिये नहीं करती, क्योंकि, सुख अपने लिये, सुख नहीं चाहता और दुःख दुःख के लिये नहीं होता, सुख-दुःख मनुष्यों के लिये ही होते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका एवं अचेतन होने से, भोग नहीं कर सकती, इसके विपरीत पुरुष निर्गुण एवं चेतन है, इसलिये पुरुष भोग कर सकता है, अतः पुरुष के लिये ही भोक्तृवर्ग की रचना हुई है। पुरुष साक्षी, उदासीन, द्रष्टा, अकर्ता, निर्गुण और कैवल्य है। तथापि पुरुष 'मैं करता हूँ', 'मैं सुखी-दुःखी हूँ' आदि की भावना करता है, इसका कारण है भ्रम और भ्रम होता है पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से। पुरुष तथा प्रकृति के सन्निधान होने पर, बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से चेतन में जड की प्रतीति और जड में चेतन की प्रतीति होने लगती है। प्रकृति की क्रिया में पुरुष भ्रमवश मानने लगता है, कि 'मैं कर्ता हूँ'। पुरुष तथा प्रकृति का वैसा ही संयोग है, जैसा अन्धे और लँगड़े का। अन्धा देख नहीं सकता और लँगड़ा चल नहीं सकता, किन्तु जब दोनों का संयोग होता है यानी अन्धे के कन्धे पर लँगड़ा बैठकर, मार्ग बताता है और अंधा उसी मार्ग पर चलता है, तब दोनों गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर, अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं। इसी प्रकार प्रकृति तथा पुरुष दोनों के कार्य सिद्ध होते हैं। प्रकृति भोग्या है और पुरुष भोक्ता। भोगात्मक प्रकृति को आवश्यकता है भोक्ता पुरुष की और प्रकृति के दुःखादि परिणामों को पुरुष अपने में मान कर, कैवल्य की इच्छा करता है। कैवल्य की सिद्धि विना प्रकृति-पुरुष-विवेक के हो नहीं सकती, इसलिये पुरुष को आवश्यकता है प्रकृति की। प्रकृति की सारी प्रवृत्ति पुरुष के लिये होती है। जिस प्रकार नर्तकी रंगमञ्च पर सभासदों को नृत्य दिखाकर तथा पुरस्कार-पाकर निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति भी सुख-दुःखादि भोगों-द्वारा पुरुष को अपना स्वरूप दिखा कर 'तुम मुझसे भिन्न हो और मैं तुमसे भिन्न हूँ' इस प्रकार विवेक कराकर, स्वयं निवृत्त हो जाती है। प्रकृति कुलाङ्गना के समान है, पतिव्रता स्त्री का मुख यदि असावधानी के कारण किसी पर पुरुष ने देख लिया, तो वह लज्जित हो जाती है, इसी प्रकार भोग के समय प्रकृति को, यदि पुरुष ने ज्ञानदृष्टि से देख लिया, तो वह लज्जित हो पुरुष से पृथक् हो जाती है। पुरुष प्रकृति से पृथक् होने पर, अपने कैवल्य स्वरूप में स्थित हो जाता है, वस्तुतः तो वह न कभी बन्धन में पड़ता है, न सुख-दुःखादि-भोगता है, न मुक्त ही होता है। क्योंकि वह स्वरूप से ही मुक्त है, सुख-दुःखादि तो प्रकृति के बुद्धि आदि में ही होते हैं, उसके सम्बन्ध से पुरुष में आरोपित किये जाते

हैं। इसीलिये प्रकृति - पुरुष-ज्ञान से ही मुक्ति होती है, अन्य किसी मार्ग से नहीं ।

सांख्य शब्द का गीता तथा उपनिषदों में भी अनेक बार उपयोग हुआ है। शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। प्रथम शब्द-शास्त्रज्ञों के अनुसार सांख्य शब्द 'सं-ख्या' धातु से बना है, इसलिये इसका अर्थ होता है 'गणना करनेवाला'। महा भूतादि चौबीस तत्त्वों की गणना जिस शास्त्र में की गई है, वह सांख्यशास्त्र कहा जाता है। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार **सांख्ये ज्ञातव्याः पदार्थाः संख्यायन्ते यस्मिन् शास्त्रे तत् सांख्यं वेदान्तः** (गी० १८।१३ में शाङ्कर भाष्य)'—जिस शास्त्र में ज्ञातव्य पदार्थों की संख्या की जाय, उसका नाम सांख्य यानी वेदान्त है'। **सांख्ये सम्यक् ख्यायते निरुच्यते आत्मानात्मोस्तत्त्वं प्रकाश्यतेऽनेनेति सांख्यं वेदान्त-शास्त्रम्** (शङ्करानन्दीय टीका)'—जिसमें भली भाँति आत्मा - अनात्मा के तत्त्व का प्रकाश किया जाता है, वह सांख्य है यानी वेदान्तशास्त्र'। इसी से ज्ञाननिष्ठासम्पन्न संन्यासियों को सांख्ययोगी भी कहा जाता है। वस्तुतः प्रथम व्याख्या के अनुसार सांख्यशास्त्र एक मतावलम्बियों तक ही सीमित हो गया। जिस सांख्यमत का ऊपर परिचय दिया गया, वह एक पक्षीय होकर कुछ ही लोगों तक सीमित रह गया। क्योंकि वह वेदान्त के मौलिक आधार से दूर चला गया। प्रचलित सांख्य मत में ईश्वर कृष्ण की 'सांख्य कारिका' सर्वमान्य है और इसमें ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं अर्थात् यह निरीश्वरवादी है। जड प्रकृति से, सृष्टि-रचना और अनेक पुरुष की मान्यता भी वेदान्त - विरुद्ध है। यही कारण है, जिससे विद्वानों-द्वारा यह मत मान्य नहीं। गीता में ईश्वर का स्थान प्रमुख है। प्रकृति-द्वारा सृष्टि-रचना होती है, किन्तु ईश्वर के सन्निधान से, प्रकृति में क्रिया होती है और पुरुष यानी आत्मा अनेक नहीं, एक है। वस्तुतः अनेक जीव तथा प्रकृति की कल्पना व्यवहार क्षेत्र में साधारण पुरुषों के लिये की गई है। विद्वानों की दृष्टि में एकमात्र निर्विकार, निराकार, विभु, एक चेतनतत्त्व ही है। उसे ही आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर आदि नामों से कहा गया है।

'छान्दोग्य उपनिषद्' के छठे अध्याय में आरुणि-श्वेतकेतु-सम्वाद में आरुणि का कहना है—**कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति** (छा० ६।२।२)—'किन्तु सोम्य ! ऐसा कैसे हो सकता है, असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?' अभाव से भाव की उत्पत्ति तथा जड से चेतन की उत्पत्ति कभी सम्भव ही नहीं, यदि अभाव से घट की उत्पत्ति मानी जाय, तो मृत्तिका की कोई

आवश्यकता न होती और घट में 'अभाव' शब्द तथा 'अभाव' बुद्धि की अनुभूति होती । किन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये असत् या जड से, सत् तथा चेतन की उत्पत्ति नहीं होती । जिसका कारण में अस्तित्व नहीं, उसकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती । वन्ध्या से पुत्रोत्पत्ति, मरुमरीचिका से जल एवं बालुका से तैल क्या उत्पन्न हो सकता है ? यदि नहीं, तो असत् से सत् की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती । सत् से ही सत् की उत्पत्ति होती है, कारण के अनुसार ही कार्य होता है । इसीलिये आरुणि का कहना है—**सत्त्वेव सोम्येदमग्रः आसीदेकमेवाद्वितीयम्** (छा० ६।२।२) '—सोम्य ! आरम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था ।' इस पर शंका होती है कि सत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? क्या घट से घट की उत्पत्ति हो सकती है ? इसका समाधान है कि एक सत् से, दूसरे सत् की उत्पत्ति तो नहीं होती, किन्तु सत् ही दूसरे आकार में स्थित हो जाता है । जैसे सर्प ही कुण्डली आकार से और मृत्तिका ही चूर्ण, पिण्ड, घट, कपालादि भेदों से स्थिति होती है, वैसे ही सत् भी विभिन्न नाम-रूपों से स्थित होता है । सृष्टि के समय भी एकमात्र सत् ही है, जैसे पिण्ड, घट, कपालादि के समय भी, एकमात्र मृत्तिका ही है, उससे पूर्व तथा पश्चात् भी मृत्तिका ही रहती है, यही स्थिति सत् की भी है । 'किन्तु लोक में देखा जाता है, कि कुम्भकार मृत्तिका से चक्र आदि-द्वारा घट बनाता है, इसी प्रकार सत् के भी अन्य सहायक होंगे ही ।' नहीं , क्योंकि श्रुति ने ही **एकं एव अद्वितीयम्** से सभी भेदों का निषेध कर दिया है । सजातीय, विजातीय एवं स्वगत तीन प्रकार के भेद ही देखे जाते हैं । सत् तत्त्व में ये तीनों भेद नहीं हैं, क्योंकि सत् आकाशवत् निरवयव है अतः वृक्ष के पत्र, पुष्प, फलादि 'स्वगतभेद' के समान, सत् में भेद सम्भव ही नहीं । वृक्ष का अन्य वृक्ष से 'सजातीय भेद' होता है, पर सत् विलक्षणरहित है, इससे कोई दूसरा सजातीय नहीं । वृक्ष का 'विजातीय भेद' शिलादि हैं, किन्तु सत् का विजातीय भेद हो ही नहीं सकता, सत् का विजातीय असत् ही हो सकता है और 'असत्' हो ही नहीं सकता । इसलिये सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद विवर्जित एकमात्र सत् ही है । मूल श्रुति में ही **'एकम्' पद** से स्वगत भेद का **'एव'** पद से सजातीय भेद का और **'अद्वितीयम्'** पद से विजातीय भेद का निराकरण किया है । इस अद्वितीय सत्-द्वारा ही सृष्टि-रचना होती है । जिस प्रकार मकड़ी अपने से ही लार निकाल कर, जाल-रचना करती है, स्वयं जाल में रहती है और फिर जाल-निगल जाती है । उसी प्रकार सत् ईश्वर अपनी शक्ति से जगत्-रचना करते हैं, स्वयं जगत् में स्थित होते हैं और फिर जगत् का संहार कर, अपने में लीन कर लेते हैं । ईश्वरीय शक्ति ही 'माया', 'प्रकृति' आदि नामों से कही

जाती है, वह शक्ति सत् ईश्वर से पृथक् कोई सद्वस्तु नहीं है, न असद्वस्तु। जिस प्रकार अग्नि की शक्ति न तो अग्नि से विलक्षण होती है, न अग्निरूपा। इसी प्रकार मायाशक्ति ईश्वर से न तो विलक्षण है, न ईश्वरस्वरूपा। अतः सत्-असत् से विलक्षण 'अनिर्वचनीया' ही कही जा सकती है। शक्ति के कार्य देख कर ही शक्ति का अनुमान होता है। जिस प्रकार एक वस्त्र में अनेक रंगों से विविध प्रकार के चित्र वृक्ष, लता, नदी, नद, पर्वत, क्षेत्र, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, दानव, मानव, देव आदि भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, उसी प्रकार सत् तत्त्व के आश्रित शक्ति-द्वारा ही सत्तत्व में ही नाना नाम-रूपों की रचना होती है। एक मृत्तिका से ही घट, कमण्डलु आदि बनते हैं, सुवर्ण से ही कण्ठहार, कंगन, अँगूठी, कुण्डल आदि अनेक आभूषण विविध नाम-रूपों में देखे जाते हैं। किन्तु न तो घट मृत्तिका से अतिरिक्त हैं, न कंठहारादि सुवर्ण से भिन्न। इसी प्रकार विविध नाम-रूपों में विश्व ब्रह्माण्ड भी सत्तत्व से भिन्न, कोई पदार्थ नहीं है। निष्कर्ष यही, कि चेतन सत्तत्व ही एकमात्र है, प्रकृति और जीव उससे भिन्न नहीं।

औपनिषद् ब्रह्मतत्व के अनुसार ही गीता में भी ईश्वरतत्व का निरूपण है। गीता के द्वितीय अध्याय में ही कहा है :

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गी० २।१६)

'—असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है, इस प्रकार तत्वदर्शियों ने सत्-असत् के विषय में निश्चय किया है।' सत्, नित्य, निरञ्जन, ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप सदैव एकरस अस्तित्वमात्र से विद्यमान रहता है। सत् वस्तु में सत्ता रहती है, अतः त्रिकालाबाधित सत् पदार्थ है। इसके विपरीत असत् वस्तु में सत्ता का अभाव होता है। इसलिये विकारी जगत् असत् स्वरूप है और उसमें सत्ता का अभाव है। अतः विकारी जगत् में जितने भी शरीर तथा शीतोष्णादि की प्रतीतियाँ होती हैं, वे सभी मिथ्या मरुमरीचिका-जल के समान हैं। जिस प्रकार मरुमरीचिका में अधिष्ठान से अन्य, जल का अभाव है, किन्तु 'यह जल है' ऐसी बुद्धि होती है, इसी प्रकार शरीरादि तथा शीतोष्णादि द्वन्द्वों की भी प्रतीति होती है, किन्तु वास्तव में अधिष्ठानस्वरूप आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं। एक ही अधिष्ठान में दो बुद्धियाँ होती हैं, 'वस्त्र है', 'घट है', 'अश्व है', 'मनुष्य है' आदि

में दो बुद्धियाँ हैं, एक वस्त्र, घट, अश्वादि वाली और दूसरी 'है' वाली। वस्त्रादि विकारी पदार्थ के नाश होने पर 'वस्त्र' बुद्धि नष्ट हो जाती है, किन्तु 'है' इस सत् बुद्धि का कभी अभाव नहीं होता। अतः आत्मा में ही सत्-बुद्धि होती है, इसका कभी अभाव नहीं होता, किन्तु अध्यसित पदार्थ में जो बुद्धि होती है, वह पदार्थ-नाश के साथ ही नष्ट हो जाती है। अध्यसित जगत् की भी सत्ता नहीं है, क्योंकि वह अधिष्ठान ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिये ब्रह्म की सत्ता का कभी अभाव नहीं और जगत् की सत्ता किसी भी काल में नहीं है। कारण से कार्य का स्वरूप कभी भिन्न नहीं होता। जगत् कार्य के कारण एकमात्र ईश्वर ही हैं, स्वयं भगवान् कहते हैं: **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा** (गी० ७।६)'—सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति तथा विनाशक मैं ही हूँ', **मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय** (गी० ७।७) '—अर्जुन ! मुझ परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई जगत् का कारण नहीं है'। कारण के अनुसार कार्य का भी भगवान् निर्देश करते हैं: **वासुदेवः सर्वमिति** (गी० ७।१९) '—यह सब वासुदेव (परमेश्वर) है', **अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन** (गी० ९।१९) '—अर्जुन ! अमृत तथा मृत्यु एवं सत्-असत् भी मैं ही हूँ'। इस प्रकार कारण परमेश्वर के अनुसार कार्य भी परमेश्वरस्वरूप ही है। अविद्यावश प्राणिमात्र घट, पट, स्त्री-पुरुष, सुख-दुःखादि रूप जगत्-देखते हैं और इसी प्रकार व्यवहार करते हैं। किन्तु विद्वान् तत्त्वदर्शी पुरुष सर्वत्र परमेश्वर-दर्शन-द्वारा शोक, मोह, भय, बन्धनादि से मुक्त हो, परमेश्वरस्वरूप ही हो जाते हैं।

शास्त्रों का उद्देश्य है—मानव को वास्तविक स्थिति से अवगत कराना। वास्तविक एकमात्र ब्रह्म है, इससे भिन्न किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं। किन्तु, इस बोध के सभी मानव अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वैत-व्यवहार से, अद्वैत-तत्व-ग्रहण असम्भव है। इसीलिये शास्त्रों में पहले तीन भेद का वर्णन और अन्त में भेद-भ्रम का निराकरण कर, एक ही तत्व का प्रतिपादन किया गया है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के एक ही मन्त्र में भेद-अभेद दोनों का मार्मिक वर्णन मिलता है :

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥

(श्वे० १।९)

'—ये (ईश्वर तथा जीव क्रमशः) सर्वज्ञ तथा अज्ञ एवं सर्वसमर्थ तथा

असमर्थ हैं, ये दोनों ही अजन्मा हैं ; एकमात्र अजा प्रकृति ही, भोक्ता के लिये भोग्यसम्पादन में नियुक्त है। विश्वरूप आत्मा अनन्त और अकर्ता ही है, जिस समय इन तीनों को ब्रह्मरूप अनुभव करता है (उस समय जीव शोकादिरहित मुक्त हो जाता है)।' इस मन्त्र में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का वर्णन किया गया है। ईश्वर सर्वेश्वर, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सर्वकृत, सर्वभृत, सर्वात्मा, सर्वेश्वरसम्पन्न एवं पूर्णकाम है। किन्तु जीव, अनीश्वर, असर्वज्ञ, असमर्थ, असर्वकृत, देहादिभृत्, असर्वात्मा, अल्पैश्वर्यवान् एवं अनाप्तकाम है। परन्तु दोनों ही जन्म-मृत्यु आदि रहित हैं। ईश्वर पूर्णकाम हैं, इसलिये भोग्य पदार्थों की उन्हें अपेक्षा नहीं। किन्तु जीव पूर्णकाम नहीं है, इस कारण कामना-पूर्ति के लिये, भोग्य पदार्थों की आवश्यकता है। जीव के भोग्य सम्पादन के लिये प्रकृति है। प्रकृति-द्वारा विश्व प्रपञ्च रूप भोग्य-पदार्थों की रचना होती है। भोक्ता जीव शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धमय पदार्थों को भोगता है, किन्तु ईश्वर अभोक्ता स्थित है, क्योंकि वह पूर्णकाम है। प्रकृति ईश्वर की शक्ति का ही नाम है, माया भी इसे कहा जाता है। **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च** (श्वे० ६।२) '—ब्रह्म की स्वाभाविकी शक्ति ज्ञान, क्रिया आदि अनेक प्रकार की सुनी जाती है', इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म का स्वभाव ही प्रकृति या शक्ति है। वस्तु की शक्ति न तो वस्तु से भिन्न होती है, न अभिन्न। इस ईश्वर की भिन्नाभिन्न विलक्षण शक्ति-द्वारा, विश्व-प्रपंच की रचना होती है। इस शक्ति के कारण ही परमात्मा सर्वेश्वर तथा मायी है। मायारूप उपाधि की सन्निधि से, सर्वेश्वर मायावत् प्रतीत होता है और माया के कार्य बुद्धि आदि की उपाधि से, अल्पज्ञ जीव भासित होता है। महाकाश ही मठ की उपाधि से मठाकाश और मठाकाशस्थ घट, कमण्डलु की उपाधि से महाकाश ही घटाकाश तथा कमण्डलु का आकाश कहा जाता है। इसी प्रकार सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान परमात्मा ही, मायोपाधि से ईश्वर और माया के कार्य बुद्ध्यादि उपाधि से, परमात्मा ही जीव कहा जाता है। यही अनेक उपनिषदों में कहा गया है—**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (बृह० २।५।१९) '—परमात्मा माया से अनेक रूप होकर चेष्टा कर रहा है', **कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः। कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधाऽवशिष्यते॥** (शुक० ३।१२) '—बुद्ध्यादि कार्योपाधियुक्त यह जीव है और माया कारणोपाधिक ईश्वर, कार्य तथा कारण के बाध होने पर, पूर्णज्ञानस्वरूप परमात्मा ही शेष रहता है।' घट तथा मठ की उपाधि का बाध होने पर, एक, अखण्ड महाकाश ही शेष रहता है। घट तथा मठ भी मृत्तिका के कार्य होने से मृत्तिकारूप ही हैं, मृत्तिका जल का कार्य है, जल

अग्नि का, अग्नि वायु का और वायु आकाश का कार्य है ; अन्ततः घटादि भी आकाशरूप ही हैं। अतः घट, मठ तथा घटाकाश एवं महाकाश-भेद निवारणपूर्वक, एकमात्र महाकाश ही शेष रहता है। इसी प्रकार कार्य जगत् कारण माया में लीन होता है और माया ईश्वर में। तब न माया रहती है, न मायोपाधिक ईश्वर और न कार्योपाधिक जीव। इस तरह तीनों एक ही तत्व परमात्मा या ब्रह्मस्वरूप सिद्ध होते हैं। इस तत्व में अभेदभावनापूर्वक स्थित होने पर जीव, पूर्णकाम, आप्तकाम एवं कृतकृत्य होकर, ब्रह्मस्वरूपानन्दानुभव करता है। इस प्रकार अनेक से, एक की ओर जाने का शास्त्र उपदेश करते हैं।

उपनिषद के अनुसार ही गीता में भी, पहले जीव तथा प्रकृति का भिन्न निरूपण किया है और ईश्वर का भिन्न। किन्तु अन्त में तीनों की एकता का प्रतिपादन किया है और यही गीता का निश्चित सिद्धान्त है। सातवें अध्याय में, जो ज्ञान विज्ञान सहित कहने की प्रतिज्ञा की थी, उसे प्रकृति तथा जीव-कथन से आरम्भ करते हैं :

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

(गी० ७।४-६)

'—मेरी माया शक्ति भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, बुद्धि एवं अव्यक्त-भेद से आठ प्रकार की है।' 'महाबाहो ! यह पूर्वोक्त प्रकृति 'अपरा' है, इससे अन्य मेरी जीवरूपा 'परा' प्रकृति जानो, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है।' 'सम्पूर्ण सृष्टि इस परा तथा अपरा प्रकृति से ही उत्पन्न हुये जानो, मेरी प्रकृतियाँ ही कारण हैं, इसलिये समस्त जगत् का उत्पत्ति और विनाशक मैं ही हूँ।' इनका गम्भीर आशय है, कि गन्धतन्मात्रलक्षणावाली कारण-स्वरूप सूक्ष्म भूमि ही प्रकृति नाम से कही जाती है, न कि स्थूल कार्यात्मक भूमि। इसी प्रकार जल भी रसतन्मात्र, अग्नि रूपतन्मात्र, वायु स्पर्शतन्मात्र और आकाश

शब्दतन्मात्र ही जगत् के कारण होने से, प्रकृति कहे जाते हैं। मन से कारण अहंकार और बुद्धि से समष्टि महतत्व का ग्रहण किया गया है। सर्वकारण अव्यक्त से महदादि विकारों की उत्पत्ति होती है। अत: अहंकार से अव्यक्त प्रकृति का तात्पर्य है। अव्यक्त मूल प्रकृति है, यह किसी की विकृति नहीं, किन्तु महदादि सप्त प्रकृति भी हैं और विकृति भी। यह ईश्वर की प्रकृति ही सृष्टि की कारण है, किन्तु यह 'अपरा' निकृष्टा प्रकृति है। इससे श्रेष्ठ परा प्रकृति है, जीव ही परा प्रकृति है, जीव से ही देह, इंद्रिय आदि रूप जगत् धारण, तोषण, पोषण तथा रक्षण किया जाता है। ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त सचराचर विश्व की यही दो प्रकृतियाँ योनि--कारण हैं। ईश्वर की व्याप्ति से ही प्रकृति तथा जीव में जगत्-जनन की शक्ति है, केवल दोनों में नहीं। देह में शुभाशुभ कार्य की शक्ति देहोपाधिक जीव की व्याप्ति से ही है, केवल देह में नहीं। अतः शुभाशुभ कार्य जीव का ही माना जाता है। इसी प्रकार प्रकृति तथा जीव की उपाधि वाले ईश्वर का ही कार्य सम्पूर्ण जगत् माना जाता है। इसीलिये प्रभव यानी उपादान कारण तथा प्रलय यानी निष्पन्न करना रूप निमित्त कारण, दोनों ही ईश्वर हैं।

जीव के लिये आगे पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः** (गी० १५।७) '—संसार में जीव मुझ परमात्मा का ही सनातन अंश है।' यहाँ पर अंशांशिभाव में शंका होती है, कि 'परमात्मा निरवयव, निर्विशेष तथा आकाशवत् है, अतः अंश-अंशी की कल्पना नहीं हो सकती।' इसके उत्तर में प्रश्न होता है कि 'क्या परमात्मा से भिन्न कोई जीव है ? या परमात्मा ही जीव है ? अथवा जीव है ही नहीं ?' इन तीन विकल्पों में 'जीव है ही नहीं' यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि शंकालु जीव प्रत्यक्ष है। 'परमात्मा से भिन्न कोई जीव है' इसमें जीव चेतन हैं अथवा अचेतन ? अचेतन तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि 'मैं', 'मेरा', 'यह' आदि ज्ञान के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा और सर्वत्र सुषुप्ति के समान व्यवहार का लोप होगा। यदि चेतन माना जाय तो **साक्षी चेता केवलः** (श्वे० ६।११) 'परमात्मा साक्षी, चेता तथा केवल', श्रुति में कहा गया है, इसके अतिरिक्त कोई अन्य चेतन नहीं है। 'परमात्मा ही जीव है' यदि यह कहो, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणिमात्र को 'ब्रह्म ही मैं हूँ' यह पूर्णत्व ज्ञान और असंसारित्वज्ञान होने से, संसार का अभाव सिद्ध होगा। यदि इन सब दोषों के निरास के लिये, यह कहो कि 'अविद्यावश ब्रह्म ही जीव है' तो यही अभिप्राय भगवान् का भी है। 'किन्तु निरवयव का अंश-अंशी भाव कैसे हो सकता है ?' जैसे निरवयव महाकाश की घटरूप की उपाधि

से विशिष्ट होने पर, घटाकाश की कल्पना की जाती है और महाकाश का ही अंश घटाकाश है--यह कहा जाता है। वैसे ही परमात्मा का भी अविद्या से उत्थित बुद्धि आदि रूप उपाधि के सम्बन्ध से, अविच्छिन्न परमात्मा के अंश की कल्पना कर, 'जीव परमात्मा का अंश है' —यह कहा जाता है। वस्तुतः जिस प्रकार घट के धर्म तथा आकार से बद्ध आकाश नहीं होता, आकाश सदैव धर्म तथा आकार से असंस्पृष्ट रहता है। उसी प्रकार परमात्मा भी उपाधि, उपाधि के धर्म और उपाधि के कर्म आदि से, सदैव असंस्पृष्ट रहता है। घटाकाश महाकाश से भिन्न नहीं, घटाकाश का स्वरूप महाकाश ही है। इसी प्रकार निराकार, निर्विकार, अनन्त, भूमा, परमात्मस्वरूप ही जीव है, परमात्मा से भिन्न नहीं। इसीलिये अन्तिम सिद्धान्त की दृष्टि से, भगवान् का कथन है—**क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत** (गी० १३।२) '—भारत ! सम्पूर्ण शरीरों में क्षेत्रज्ञ भी मुझको जानो'। अज्ञानावरण होने से, एवं विपर्यय-प्रतीति के कारण ही देह, इन्द्रिय आदि में 'मैं', 'मेरा' आदि की भ्रान्ति होती है। जब अज्ञान का परदा हट जाता है, तब भूमा परमात्मस्वरूप की साक्षात् अनुभूति होती है। स्वरूपानुभूति से परमानन्ददायिनी चिरशान्ति प्राप्त होती है। ऐसे ज्ञानसम्पन्न पुरुष के लिये ही भगवान् कहते हैं :

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(गी० ७।१७-१९)

'—उन चारों में ज्ञानी भक्त सदा मुझमें स्थित है, वह एक मुझमें अनन्य भक्ति वाला होने से श्रेष्ठ है, ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।' 'यद्यपि ये सभी भक्त श्रेष्ठ हैं, तथापि ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, यह मेरा निश्चय है, क्योंकि वह समाहित चित्त हो मुझमें स्थित है और मुझमें आने के लिये प्रवृत्त है।' 'बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझ आत्मस्वरूप को ही 'यह सब वासुदेव है' इस प्रकार प्रत्यक्ष प्राप्त होता है, वह ज्ञानी महात्मा है और अत्यन्त दुर्लभ पुरुष है।' अखण्ड, अनन्त, परब्रह्म, परमात्मस्वरूप में द्रष्टा, दृश्य-भेदविवर्जित, 'मैं ब्रह्म

हूँ' —इस प्रकार अखण्डाकार मानस-वृत्ति-प्रवाहित होना ही 'भक्ति' शब्द से कही गई है। परमात्मा ही आत्मा है और आनन्दस्वरूप है, इसलिये अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि सभी को पत्नी, पुत्रादि से अपना आत्मा ही प्रिय होता है। ज्ञानी का तो परमात्मा ही आत्मा है, इसलिये अत्यन्त प्रिय होना स्वाभाविक है और परमात्मा का आत्मा ज्ञानी है, इसलिये परमात्मा को भी अत्यन्त प्रिय है। ज्ञानी की दृष्टि में जगत् तथा जीव की प्रतीति, मरु-मरीचिका में जल के समान मिथ्या है। अधिष्ठान परमात्मा में सत्य दृष्टि होने से, जीव, जगत् तथा परमात्मा को परमात्म-स्वरूप ही देखता है। मृत्तिका घटरूप से स्थित है, 'घट' नाम और कम्बुग्रीवा आदि 'रूप' मृत्तिका में ही कल्पित हैं। घट के पूर्व मृत्तिका थी, घट के पश्चात् मृत्तिका रहेगी और घट के समय भी मृत्तिका ही है, अतः मृत्तिका त्रिकालाबाधित सत्य है। किन्तु मध्य में 'घट' नाम तथा 'रूप' की कल्पना हुई, इसलिये यही मिथ्या है। क्योंकि घट में मृत्तिका से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं, नाम तथा रूप कल्पनामात्र हैं। इसी प्रकार परमात्मा में जगत् तथा जीव भी कल्पित हैं। भिन्न-भिन्न नाम और रूपों की कल्पना व्यावहारिक दृष्टि से सत्य प्रतीत होती है, किन्तु विचार करने पर, उनकी सत्ता कहीं भी भासित नहीं होती। अन्ततः विचारवान् एक तत्व का ही दर्शन करता है, जिसमें सभी नाम तथा रूपों की कल्पना है। इसीलिये उसकी दृष्टि में जगत्-जीव मिथ्या प्रतीत होते हैं और अधिष्ठान तत्त्व ही सत्य भासित होता है। अधिष्ठान तत्त्व यद्यपि नाम रूप-रहित है, तथापि नित्य रहने से आत्मा, नाम-रूप का अधिष्ठान होने से ब्रह्म और वस्त्र में ओत-प्रोत सूत्र की तरह होने से वासुदेव कहा जाता है। ज्ञानी की दृष्टि में प्रतीयमान जगत् तथा जीव 'एकमात्र वासुदेव है'। निश्चय ही इस निश्चय वाला पुरुष संसार में अत्यन्त दुर्लभ है।

गीता में आपातदृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है, कि ईश्वर से प्रकृति भिन्न है, क्योंकि यत्र-तत्र इसी प्रकार के वर्णन मिलते हैं। चतुर्दश अध्याय के तीसरे तथा चौथे श्लोक में भगवान् कहते हैं:

> मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
> संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
>
> सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
> तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥
>
> (गी० १४।३-४)

'-भारत! मुझ ईश्वर की महत्ब्रह्मरूपी प्रकृति–योनि है, उसमें मैं गर्भधारण करता हूँ, उससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है।' 'कौन्तेय ! सर्वयोनियों में जो शरीराकार मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उनकी महत् ब्रह्मरूपा मेरी माया योनि है और मैं बीज-प्रदाता पिता हूँ।' इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है, कि ईश्वर की पत्नी माया है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी पत्नी में बीज-संस्थापन-द्वारा सन्तान उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी माया में बीज–द्वारा गर्भ-धारण करते हैं और माया सन्तान के समान समस्त जगत् को उत्पन्न करती है। इस तरह माता माया है और पिता ईश्वर। नवम अध्याय में भगवान् का कथन है :

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥
(गी० ९।७-८)

मय्याध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥
(गी० ९।१०)

'––कौन्तेय ! प्रलय काल में सम्पूर्ण भूत मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और कल्प के आदि में, मैं पुनः पूर्व की भाँति उत्पन्न करता हूँ।' 'अपनी प्रकृति को वश में कर, इस स्वभाववश अस्वतन्त्र समस्त भूत समुदाय को, मैं बार-बार उत्पन्न करता हूँ।' 'कौन्तेय ! मेरी अध्यक्षता से प्रकृति सचराचर जगत् को उत्पन्न करती है, इसी कारण समस्त जगत् सब अवस्थाओं में परिवर्तित होता है।' यहाँ पर ईश्वर निमित्त कारण और प्रकृति उपादान कारण परिलक्षित होती है। **अध्यक्षेण** कहने से यह ध्वनित होता है, कि वस्तुतः ईश्वर निमित्त कारण भी नहीं है, क्योंकि इससे पहले **उदासीनवदासीनम्**(गी० ९।९) '––उदासीन के समान स्थित हूँ' कह कर कर्तृत्व का अभाव सूचित कर चुके हैं। सूर्य के भासकत्व से जैसे जगत्-व्यापार आरम्भ होता है, सूर्य जगत्-व्यापार का कर्ता नहीं है, वैसे ही ईश्वर की चेतनता से प्रकृति जगत्-सर्जन का कार्य आरम्भ करती है' अतः ईश्वर कर्त्ता नहीं है। वस्तुतः प्रकृति का वर्णन स्थूल बुद्धि वाले मनुष्यों को लक्षित कर किया गया

है। क्योंकि ईश्वर का अकर्तृत्व, अविकारित्व और जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होना, उनकी समझ से बाहर की वस्तु है। दूसरा कारण यह है कि सांख्य-वादियों ने प्रकृति को जड तथा स्वतन्त्र माना है और प्रकृति से ही सृष्टि-रचना भी मानते हैं। किन्तु यह असम्भव है, कि प्रकृति जड भी हो और सृष्टि भी करे। इस सांख्य-सिद्धान्त की असंगति दूर करने के लिये, गीता में कहा है 'चेतन ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति सृष्टि-रचना करती है'। कहीं भी यह प्रमाणित नहीं होता, कि जड वस्तु में ईक्षण तथा कर्तृत्व हो। हाँ, चेतन में ईक्षण और चेतन-द्वारा जड-पदार्थ में क्रिया का सम्पादन हो सकता है। इस वैज्ञानिक युग में भी नित नवीन यन्त्रों का आविष्कार हो रहा है, किन्तु सभी आविष्कारक चेतन मानव ही हैं। मानव-द्वारा यन्त्रों में क्रिया उत्पन्न होती है और उससे कार्य सम्पन्न होता है। यही व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रकृति तथा ईश्वर के सम्बन्ध में लिया गया है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न है। क्योंकि प्रकृति ईश्वर से भिन्न नहीं हो सकती। संसार में भी देखते हैं, कि प्रत्येक पुरुष की प्रकृति उससे भिन्न नहीं होती और अभिन्न भी नहीं कही जा सकती अर्थात् अध्यसित होने के कारण, सदसत् विलक्षण होती है। गीता में ही भगवान् का कथन है :

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।

(गी० ३।३३)

'—ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं, फिर अज्ञानी की तो बात ही क्या ? सभी प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं, इसलिये मेरा शासन क्या कर सकता है ?' पूर्व जन्म के धर्माधर्मरूपी कर्म, ज्ञान एवं इच्छा आदि के संस्कार 'प्रकृति' कहे जाते हैं। प्रकृति के अनुसार ही पुरुष की चेष्टा होती है। यह प्रकृति पुरुष में अध्यसित है, वास्तव में इसकी सत्ता है नहीं। समस्त व्यवहार प्रकृति के कारण ही होते हैं, अतः प्रकृति की सत्ता प्रतीत होती है। किन्तु जैसे रस्सी-ज्ञान से, अध्यसित सर्प की न तो सत्ता रहती है, न प्रतीति होती है, वैसे ही आत्मज्ञान से प्रकृति की न तो सत्ता रहती है, न प्रतीति होती है। इसी प्रकार ईश्वर में भी प्रकृति अध्यसित है। इसका मार्मिक विवेचन उपनिषद् में देखा जा सकता है :

'सत्यज्ञानानन्दं परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। तस्मिन्मरु-

शुक्तिकास्थाणुस्फटिकादौ जलरौप्यपुरुषरेखादिवल्लोहितशुक्ल-कृष्णगुणमयी गुणसाम्यानिर्वाच्यामूलप्रकृतिरासीत् ।'

(पैङ्गल उपनिषद्)

'—सत्य, ज्ञानानन्द, परिपूर्ण, सनातन, एक ही अद्वितीय ब्रह्म था। उसमें मरुमरीचिका में जल, शुक्तिका में रजत, स्थाणु में पुरुष एवं स्फटिक में रेखा आदि के समान लाल, शुक्ल तथा कृष्णगुणमयी, गुणसाम्यावस्थावाली अनिर्वचनीया मूल प्रकृति थी।' मूल प्रकृति में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही 'ईश्वर' कहा जाता है। जिस प्रकार घटाकाश में जल और जल में प्रतिबिम्बित आकाश 'जलाकाश' संज्ञक होता है, उसी प्रकार ईश्वर होता है। किन्तु प्रतिबिम्बित होने पर भी, ईश्वर अपने वास्तविक ब्रह्मस्वरूप को नहीं भूलता। इसी से प्रकृति के अधीन नहीं होता, प्रकृति को अधीन बनाकर, प्रकृति के ऊपर शासन करता है। यह प्रकृति मरुमरीचिका में जल एवं रज्जु में सर्प के समान कल्पित होने से मिथ्या है, वस्तुतः अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न प्रकृति नहीं है, जैसे रज्जु से भिन्न सर्प नहीं है। इसी भाव को गीता में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है:

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

(गी० १३।३०)

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

(गी० १३।३४)

'—जिस समय स्थावर-जंगम भूतों के पृथक्-पृथक् भावों को, एक आत्मा में ही स्थित देखता है और आत्मा से ही सारा विस्तार देखता है, उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।' 'जो पुरुष उपर्युक्त क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के अन्तर को, ज्ञाननेत्रों से जान लेते हैं और अविद्यारूप भूतों की प्रकृति को भी अभाव करना जानते हैं, वह परमार्थस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।' तात्पर्य विद्वान् पुरुष प्राकृतिक शरीरादि को, जिस समय एक ही सद्रूप ब्रह्म में स्थित देखता है यानी रज्जु में सर्प की तरह कल्पित देखता है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को एक ब्रह्मस्वरूप

ही निश्चय करता है, क्योंकि कल्पित पदार्थ अधिष्ठान से पृथक् नहीं होते। इसी प्रकार सृष्टि का विभिन्न रूपों में विस्तार स्वप्न के समान एकमात्र ब्रह्म से ही देखता है यानी ब्रह्म ही विभिन्न रूपों में है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः तो प्राणी ब्रह्म है ही, इसलिये प्राप्त होने के अर्थ हैं--अपने को ब्रह्मस्वरूप जानना। **भूतप्रकृतिमोक्षं** का अर्थ है--सम्पूर्ण भूतों की अविद्यारूप प्रकृति को, उसके अधिष्ठान आत्मा के परमार्थ ज्ञान से निवृत्त कर, आत्मरूप से सत्य देखना यानी प्रकृति कल्पित होने से मिथ्या है और आत्मा अधिष्ठान होने के कारण, परमार्थस्वरूप है, इस ज्ञान से पुरुष ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

इस प्रकार विचारपूर्वक गीता में देखने से यही प्रतीत होता है, कि एकमात्र ईश्वर से अतिरिक्त न तो प्रकृति की सत्ता है, न जीव की। इसी कारण भगवान् का कथन है :

> अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
> इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।
> (गी० १०।८)

'--मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव यानी उपादान कारण हूँ और समस्त संसार मुझसे ही प्रवृत्त होता है यानी स्थिति तथा नाश मेरे द्वारा होने से, मैं निमित्त कारण हूँ, ऐसा समझकर बुद्धिमान् पुरुष भावसमन्वित मेरा चिन्तन करते हैं।' 'सब ब्रह्म ही है' इस भाव से युक्त होकर, भगवान् का ही श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करते हैं। 'सब कार्य कारणमात्र ही है' इस न्याय से सभी ब्रह्म है, इसका वर्णन करते हैं :

> ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
> मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।
> (गी० ७।१२)

> मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
> मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।
> न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
> भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।
> (गी० ९।४-५)

'—जो सत्त्वगुण से उत्पन्न भाव हैं, रजोगुण तथा तमोगुण से उत्पन्न भाव हैं, उन सबको मुझसे उत्पन्न जानो, मैं उनमें नहीं हूँ वे ही मुझमें हैं।' 'मुझ अव्यक्त स्वरूप-द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, मुझमें सब भूत स्थित हैं, किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।' 'मुझमें सब भूत भी वास्तव में स्थित नहीं हैं, मेरे इस ईश्वरीय योग को देखो, भूतभावन मेरा आत्मा भूतों का भरण-पोषण करता है, किन्तु भूतों में स्थित नहीं है।' इन श्लोकों का भाव यह है, कि सत्त्वादि तीनों गुणों से सम्पूर्ण संसार उत्तम, मध्यम तथा अधम कोटि में उत्पन्न होता है और उत्पन्न होगा, वह सब ईश्वर से ही उत्पन्न होता है। 'ईश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है' इसलिये सत्त्वादि गुण तथा उनके कार्य भी ईश्वरस्वरूप ही हैं यानी जिस प्रकार घट की कारण मृत्तिका है और मृत्तिका से अतिरिक्त घट नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर से अतिरिक्त जगत् नहीं है। घट नाम तथा रूप का परित्याग करने पर, एकमात्र मृत्तिका ही शेष रहती है, वैसे ही जगत् के नाम-रूप का बाध करने पर, एक ही अद्वितीय ईश्वर शेष रहता है। लौकिक मायावी अपनी माया से, भिन्न-भिन्न पदार्थों को रचकर, दर्शकों के सम्मुख उपस्थित करता है, पदार्थ न होने पर भी प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार महान् शक्तिसम्पन्न ईश्वर भी अपनी मायाशक्ति-द्वारा, विभिन्न नाम-रूपों से युक्त जगत् रचता है, रज्जु में सर्प न होने पर भी, जैसे दिखाई पड़ता है, वैसे ही जगत् न होने पर भी प्रतीत होता है। सर्प में न तो रस्सी होती है और न सर्प के विकार से रस्सी दूषित होती है, किन्तु रस्सी में ही सर्प कल्पित होता है। वैसे ही संसार में ईश्वर नहीं है और न संसार के दोषों से दूषित होता है, किन्तु ईश्वर में ही संसार कल्पित है। कल्पित पदार्थ का अधिष्ठान से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं होता, अज्ञान-द्वारा प्रतीतमात्र होता है। यह विश्व सच्चिदानन्दस्वरूप अव्यक्त ईश्वर-द्वारा उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार रस्सी में सर्प व्याप्त है। सत्ता, सद्रूप तथा स्फुरणरूप से प्रतीत होने वाले, स्थावर-जङ्गम समस्त भूत ईश्वर में स्थित हैं, किन्तु ईश्वर उनमें स्थित नहीं है। क्योंकि अध्यस्त पदार्थ में अधिष्ठान स्थित नहीं होता। वस्तुतः तो भूतों की सत्ता ही नहीं है, रस्सी में सर्प है ही नहीं, इसी तरह ईश्वर में भी भूत नहीं है। केवल ईश्वरीय मायाशक्ति–द्वारा भासित होते हैं और माया–द्वारा ही ईश्वर में समस्त भूत हैं तथा सब भूतों में ईश्वर है। उपादानस्वरूप से ईश्वर ही समस्त भूतों का भरण-पोषण करता है, इसीलिये 'भूतभृत्' है और निमित्तरूप से उत्पन्न करता है, इसलिये 'भूतभावन' है। अतः जो भी प्रतीत होता है, ईश्वर से अतिरिक्त नहीं।

गीता के ग्यारहवें अध्याय में, विश्वविराट् रूप देखने की प्रार्थना पर, भगवान् ने अर्जुन से कहा :

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥
(गी० ११।७)

'--गुडाकेश ! तुम एकत्र स्थित सम्पूर्ण सचराचर जगत् को देखो तथा और भी जय-पराजय जो इच्छा हो, इस मेरे शरीर में ही देखो।' दिव्य नेत्र–प्रदान कर, भगवान् ने अपने अव्यक्त स्वरूप में कल्पित जगत् दिखाया। क्योंकि **विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्** (गी० १०।४२) '--मैं निर्विशेष परमात्मा ही एक अंश से, इस संसार को धारण कर स्थित हूँ।' निर्विकार, निराकार, परब्रह्म, परमात्मा असीम है, उसके कल्पित एक अंश में मायाशक्ति-द्वारा जगत् की प्रतीति होती है, शेष अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों स्थित रहता है। जिस प्रकार प्रलयकालीन समुद्र शान्त तथा अनन्त होता है। उसी के एक कोने में स्फुरण होने पर तरंग, फेन, बुद्बुदादि की रचना होती है, शेष शान्तस्वरूप रहता है। तरंग, फेन, बुद्बुदादि समुद्रजल से भिन्न नहीं हैं, समुद्र ही है। उसी प्रकार असीम, शान्त परब्रह्म के अंश में जगत् की कल्पना होती है, शेष शान्त-स्वरूप-स्थित रहता है। जगत् भी परब्रह्मस्वरूप ही है, तरंगादि नाम-रूप भिन्न होने पर भी जल ही हैं, वैसे ही जगत् भिन्न प्रतीत होने पर भी ब्रह्म ही है। इसीलिये भगवान् का कथन है—**अमृतं चैवमृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन** (गी० ९।१९) '—अर्जुन ! अमृत तथा मृत्यु और सत्-असत् मैं ही हूँ'। ज्ञानी पुरुष का भी यही अनुभव है—-**वासुदेवः सर्वमिति** (गी० ७।१९) '--यह सब वासुदेव है'। इस विवेचन से यही सिद्धान्त स्थिर होता है, कि ब्रह्म, जीव तथा जगत् की भिन्न-भिन्न प्रतीति अज्ञानकृत है और ज्ञानदृष्टि से एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही है। इस ज्ञानदर्शन से अज्ञानकृत बन्धन सर्वथा समूलोच्छेदन होता है। प्राणी अपने स्वरूप में स्थित हो, अजर, अमर, अभय तथा शोकमोहादिरहित, पूर्ण शान्त हो जाता है।

———

द्विविधा सृष्टि एवं ब्रह्म

सदसत्-विलक्षण त्रिगुणात्मिका माया के योग से ब्रह्म सगुण, जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण, सर्वज्ञ, सर्ववित्, कर्मफलदाता, मायी एवं दयालु कहा जाता है। किन्तु वस्तुतः वह निर्गुण, अकर्ता, संगरहित, सूक्ष्म, स्वयंप्रकाश, अविकारी, सर्वाधिष्ठान एवं सदसत्-पर है। मायारहित शुद्ध ब्रह्म ही, सगुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा है, भगवान् कहते हैं :

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।
(गी० १४।२७)

'—अविनाशी, अव्यय, शाश्वत, धर्मस्वरूप एवं ऐकान्तिक सुखस्वरूप ब्रह्म का भी मैं प्रतिष्ठा हूँ अर्थात् मैं निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म का, रज्जु में सर्पवत् आश्रय हूँ।' यही निर्गुण ब्रह्म ज्ञेय और समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है। अपनी अनन्य शक्ति—द्वारा मायाविशिष्ट होकर, जगत् का सर्जक, पालक एवं विध्वंसक है। जैसे मायावी के खेल-देखकर, साधारण जन मायाजनित पदार्थों को सत्य मान लेते हैं, वैसे ही मायाजनित विचित्र जगत् के दृश्य-देखकर,

माया-विमोहित अज्ञ जन भी जगत् को सत्य मान लेते हैं। वे पुरुष न तो जगत् के वास्तविक स्वरूप के ज्ञाता हैं, न अपने स्वरूप के। इसका परिणाम होता है— जन्म-मृत्यु एवं सुख-दुःखात्मक बन्धन। जब किसी पुण्यपरिपाकवश सद्गुरु-द्वारा शास्त्र-प्रतिपादित स्वरूप का श्रवण करते हैं, तदनुसार मनन एवं निदिध्यासन-पूर्वक दर्शन करते हैं। तब माया से मुक्त होकर, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो, अजर, अमर, एवं परमानन्दस्वरूप हो जाते हैं।

स्वरूपज्ञान के लिये जगत् का समूल विवेक एवं शरीर तथा आत्मज्ञान का विवेचन आवश्यक है। गीताशास्त्र में इनका पर्याप्त दिग्दर्शन मिलता है। जगत् की उपमा अश्वत्थ वृक्ष से देते हुये भगवान् बतलाते हैं :

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेणदृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥
(गी० १५।१-४)

'—ऊर्ध्व मूल तथा नीचे शाखा हैं, ऋगादि जिसके पत्ते हैं, ऐसे अश्वत्थ—क्षणभंगुर—वृक्ष को अव्यय कहते हैं, जो इसे यथार्थ जानता है वह वेदज्ञ है।' 'सत्त्वादि गुणों से प्रवृद्ध तथा विषयरूपी कोपलोंवाली शाखायें नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं, मनुष्यलोक में कर्मानुबन्धिनी वासनारूप मूलें नीचे भी फैली हैं।' 'वर्णित स्वरूप के अनुसार यह उपलब्ध नहीं होता, मायारचित के समान इसका आदि, अन्त और मध्य भी उपलब्ध नहीं होता, इस अश्वत्थ की मूलें अत्यन्त दृढ़ हैं, इसे दृढ़ असंगरूप शस्त्र से छेदन करो।' 'अनन्तर उस परमपद का अन्वेषण करना चाहिये, जहाँ पहुँचकर पुरुष फिर नहीं लौटते, 'उस आदि पुरुष की मैं शरण हूँ' इस प्रकार उसका मार्ग खोजना चाहिये, जिससे इस वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तरित हुई है।' अभिप्राय यह कि इस अश्वत्थरूप संसार का मूल उत्कृष्टतम मायाशक्तिसमन्वित ब्रह्म है, इसीसे ऊपर है। महान् शक्तिशाली

ब्रह्म बीज से, इसकी उत्पत्ति हुई है, इसी कारण यह महान् विस्तृत तथा विचित्र संसारवृक्ष है। यह वृक्ष नीचे की ओर फैला है। महत् इसका अंकुर, अहंकार स्कन्ध, पंचतन्मात्रायें शाखा, पंचमहाभूत उपशाखायें एवं ऋक् , यजु, साम आदि इस वृक्ष के पत्ते हैं। पत्ते वृक्ष के समस्त दोषों को ढककर, उसकी निरन्तर रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पुराणादि के साथ वेद कर्म, उपासना, योग आदि का उपदेश देकर और फल का प्रकाशन कर, संसार के अनित्यत्त्व, दुःखरूपत्त्व आदि को ढककर, रक्षा करते हैं। संसार वृक्ष की शाखायें तथा उपशाखायें नीचे-ऊपर दोनों ओर फैली हैं। पाप-पुण्यात्मक कर्म-फल से प्राप्त देह ही, शाखा, तथा उपशाखायें हैं। मनुष्य से स्थावर पर्यन्त देह नीचे हैं और मनुष्य से ब्रह्म पर्यन्त देह ऊपर हैं। सत्त्वादि गुणों के कार्य काम, क्रोध, लोभ आदि-द्वारा पाप-पुण्य अभिवृद्ध होते हैं। शाखाओं में अंकुर निकलने के समान, कामादि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धस्वरूप भोग्य पदार्थों की कामना होती है, कामना से कर्म होते हैं और कर्म से फल - भोगार्थ अनेक शरीरों की उत्पत्ति अनिवार्य है। वासना के अनुरूप कर्म, कर्म के अनुसार फल और फलभोग के अनुरूप पुनः वासना-क्रम निरन्तर चलता है। इसीके अनुसार संसार भी आदि-अन्तरहित, सदैव स्थित रहता है। यद्यपि संसार क्षणभंगुर, दुःखरूप और बन्धनकारक है, तथापि अविवेकी पुरुषों को ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। विवेकसम्पन्न पुरुष इसे वास्तविक रूप में देखते हैं और इसके छेदन के लिये, दृढ़ वैराग्यशस्त्र का उपयोग करते हैं। विषयों में दोषदृष्टि तथा बन्धनकारक समझकर, विषय तथा कर्म से उपरत हो जाते हैं। विषयभोग तथा कर्म-परित्याग कर 'मैं आदिपुरुष की शरण हूँ' इस भावनापूर्वक अविनाशीपद के अन्वेषण में प्रवृत्त होते हैं। जो इस संसारवृक्ष का मूल है, वही प्राप्तव्य है और वही परमपद है। जो पुरुष इसे यथार्थ जानता है, वही वेदज्ञ हैं, क्योंकि वेद का परम तात्पर्य यही है।

आद्य श्री शङ्कराचार्य ने संसारवृक्ष का अन्यत्र अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। उनका कथन है '–'वृक्षश्च व्रश्चनात्' यानी छेदन होने के कारण, यह वृक्ष कहा जाता है। वेदान्त-निर्धारित परब्रह्म ही इसका मूल तथा सार है। अविद्या, काम, कर्म और अव्यक्तरूप बीज से उत्पन्न होता है। ज्ञान एवं क्रिया-शक्तिस्वरूप जिस अपरब्रह्म हिरण्यगर्भ की हैं, वही अंकुर है। सम्पूर्ण प्राणियों के लिंगशरीर ही स्कन्ध हैं, तृष्णारूप जल–सिंचन से तेजवाला, बुद्धि, इन्द्रिय एवं विषयरूप नवीन पल्लवों के अंकुरों वाला है। श्रुति, स्मृति, न्याय एवं ज्ञानोपदेशरूप पत्ते, यज्ञ, दान, तप आदि अनेक क्रियायें सुन्दर पुष्प, सुख-दुःख

तथा वेदनारूप अनेक प्रकार के रसों से युक्त, प्राणियों की आजीविका अनन्त फल एवं फलों के तृष्णारूप जल–सिंचन से, दृढ़तापूर्वक बद्धमूल है। ब्रह्मा आदि पक्षियों ने इस वृक्ष में सत्य आदि सप्तलोकरूप नीड स्थापित किये हैं। इसमें प्राणियों के सुख-दुःखजनित हर्ष-शोकोत्पन्न नृत्य, गीत, वाद्य, क्रीडा, आस्फोटन, हँसना, आक्रन्दन, रुदन एवं हा-हा, छोड़-छोड़ इत्यादि अनेक प्रकार-शब्दों की तुमुलध्वनि गुञ्जित हो रही है। स्वर्ग, नरक, तिर्यक् तथा प्रेतादि शाखायें नीचे की ओर हैं। यह संसारवृक्ष जन्म, जरा, मरण तथा शोकादि अनेक अनर्थस्वरूप वाला है। क्षण-क्षण में अन्यथास्वभाव, मरुमरीचिका-जल तथा गन्धर्वनगरादि के समान, दृष्टनष्टस्वरूप होने के कारण, अन्त में वृक्ष के समान अभावरूप होने वाला है। कदलीस्तम्भ के समान निःसार और सैकड़ों पाखण्डियों की बुद्धि के विकल्पों का आश्रय है। तत्त्व जिज्ञासुओं-द्वारा जिसका तत्त्व 'इदम्' रूप से निर्धारित नहीं किया गया। इस संसाररूप अश्वत्थवृक्ष का वेदान्त-विहित ब्रह्मात्मैक्य दर्शनरूप असंगशस्त्र से उच्छेद होता है।' इस संसाररूप कार्य वृक्ष से, उसके मूल ब्रह्मस्वरूप का निर्धारण करना कर्तव्य है। 'ब्रह्म - चैतन्यात्म ज्योतिःस्वभाव है, वही सबसे महान् होने के कारण ब्रह्म है और वही सत्यस्वरूप होने से, अमृत यानी अविनाशी स्वभाववाला कहा जाता है। **वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्** (छा० ६।४।१) '—विकार वाणी का विलास तथा केवल नाममात्र है', अतः ब्रह्म से अन्य सब मिथ्या और नाशवान् है। उस परमार्थ सत्य ब्रह्म में गन्धर्वनगर, मृगमरीचिकाजल एवं माया के समान सम्पूर्ण लोगों की उत्पत्ति, स्थिति और लय आश्रित हैं, परमार्थदर्शन होने पर ये सभी बाधित हो जाते हैं। जिस प्रकार घट आदि कोई भी कार्य मृत्तिकादि का अतिक्रमण नहीं कर सकते,उसी प्रकार कोई भी विकार उस ब्रह्म का अतिक्रमण नहीं कर सकता।' संसार विकार का मूल ब्रह्म है, विना ब्रह्मदर्शन-संसारभ्रम का निवारण असम्भव है और विवेक, वैराग्य आदि के सम्पादन के विना ब्रह्मदर्शन हो नहीं सकता। इसीलिये भगवान् का कहना है :

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
(गी० १५।५)

'—जो अभिमान तथा अज्ञान से रहित हैं, आसक्ति दोष को जीते हुये, सदैव परमात्मस्वरूप की आलोचना में तत्पर, कामनारहित एवं सुख-दुःख संज्ञक

द्वन्द्वों से मुक्त हैं, वह ज्ञानी अव्यय पद—प्राप्त करते हैं।' इस प्रकार साधनसम्पन्न ज्ञानी पुरुष ब्रह्म-प्राप्त कर, ब्रह्म ही हो जाते हैं। किन्तु अज्ञानी संसार में ही भटकते हैं।

अज्ञानी पुरुष ब्रह्म की मायाशक्ति से उत्पन्न संसार एवं सत्त्वादि गुणों तथा उनके कार्यों से विमोहित हो, विषय भोगों में ही रत रहते हैं। उनके कल्याण के लिये ही गीता में संसारवृक्ष की निःसारता का वर्णन किया गया है। किसी प्रकार मोहनिद्रा से उत्थान हो, इसलिये सत्त्वादि गुणों तथा उनके कार्यों का परिचय भी भगवान् देते हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।

(गी० १४।५)

'—सत्त्व, रज तथा तमोगुण ये प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, महाबाहो ! ये गुण अव्यय देही को देह में मानो बाँधते हैं।' सत्त्वगुण सबसे उत्कृष्ट है, इसीलिये उसका प्रथम निर्देश किया गया। पश्चात् रजोगुण प्रवृत्तिकारक होने से कथित है और तमोगुण निकृष्ट है, इस कारण अन्त में कहा गया। प्रकृति इन गुणों की उपादान है, 'कार्य-कारण दोनों का अभेद है' इस न्यायानुसार प्रकृतिरूप होने से, सभी में गुण रहते हैं। विश्व में पृथिवी, स्वर्ग तथा पातालादि जितने भी लोक हैं, सभी त्रिगुणमय हैं और उनके निवासी मनुष्य देव तथा तिर्यगादि भी तीनों गुणों से युक्त हैं। बाहर सभी पदार्थ त्रिगुणमय हैं और भीतर राग-द्वेष, लोभ, मोह, निद्रा, आलस्य, प्रमाद, भय, राग, दंभ, सत्य, दया, तप, श्रद्धा, बुद्धि आदि भी तीनों गुणों से युक्त हैं। यद्यपि देह का स्वामी आत्मा निर्गुण, निराकार तथा असंग है, तथापि देह-देही के तादात्म्याध्यास से बन्धन मिलता है। अन्धकार में रस्सी सर्प प्रतीति होती है और सर्प की प्रतीति से भय, कम्प, रोमांचादि होते हैं। इसी प्रकार निर्विकार आत्मा भी अज्ञान के कारण, भ्रान्तिवश कभी सत्त्वगुणोदयके समय 'मैं सुखी हूँ' समझता है, रजोगुण के समय 'मैं सम्पत्तिवान् हूँ' और तमोगुण के उदय होने पर 'मुझे निद्रा आ रही है' आदि भाव विकार वाला होकर, मानों स्थूल-सूक्ष्म शरीर ही हो गया हो। निर्विकार से विकारी, एवं गुणातीत से गुणों में आसक्त होकर बन्धन में पड़ता है। अतः मुमुक्षु के लिये, भगवान् गुणों का संक्षिप्त परिचय देते हैं:

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।

(गी० १४।६-८)

'—अनघ ! उनमें सत्त्वगुण निर्मल, प्रकाशशील तथा उपद्रवरहित है, वह विषयसुख की आसक्ति और ज्ञानासक्ति से बन्धन में डालता है।' 'कौन्तेय ! तुम रजोगुण को रागात्मक तथा तृष्णा और आसक्ति के उत्पादक जानो, वह आत्मा को कर्मासक्ति से बाँधता है।' 'भारत ! सब देहधारियों को अविवेक उत्पन्न करनेवाले तम को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानो, वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बन्धन करता है।' सत्त्वगुण का स्वरूप निर्मल, प्रकाशक तथा सुखमय है और उसके कार्य हैं विषयसुख में आसक्ति अथवा शम, दमादि-सुखों में आसक्ति एवं अनेक शास्त्रज्ञान में आसक्ति। इस प्रकार सत्त्वगुण के कार्य में अध्यासरूप संग होने से, सत्त्वगुण भी बन्धनकारक है। रजोगुण रागस्वरूपवाला है, क्योंकि पुरुष को विषयों में रँगता है, वह राग यानी रक्ति ही रजोगुण का स्वरूप है। राग के कारण ही अप्राप्त वस्तु की इच्छा जिसे 'तृष्णा' कहा जाता है और प्राप्त वस्तु के ग्रहण की इच्छा 'संग' है, ये दोनों रजोगुण से उत्पन्न उसके कार्य हैं। तृष्णा और संग से रजोगुण बन्धन में डालता है। तमोगुण आवरणशक्तिरूप अज्ञान से उत्पन्न है और सत्-असत्-विवेकज्ञान को तिरोहित करने से 'मोहन' स्वरूपवाला है। प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा उसके कार्य हैं, इन कार्यों से तमोगुण पुरुष का बन्धन करता है। निष्कर्ष यह, कि पुरुष को सत्त्वगुण विषयसुख में आसक्त करता है, रजोगुण कर्म में और तमोगुण स्वरूपज्ञान-ढककर, प्रमाद तथा आलस्य में नियुक्त कर देता है। अतः तीनों गुण बन्धनकारक हैं।

यद्यपि तीनों गुण एक साथ ही रहते हैं, तथापि प्राणियों के कर्मानुसार शुभ फलोदय के समय सत्त्वगुण की अभिवृद्धि होती है, अन्य दोनों गुण क्षीण होते हैं। शुभाशुभ मिश्रित फल के समय रजोगुण की अभिवृद्धि होती है और सत्त्व तथा तमोगुण क्षीणावस्था में रहते हैं। इसी प्रकार अशुभ फल-काल में

तमोगुण बढ़ता है, सत्त्व तथा रजोगुण घटते हैं। सत्त्वगुण के उन्नत होने पर सुख, रजोगुण की वृद्धि पर कर्मादि में प्रवृत्ति एवं तमोगुण के बढ़ने पर अज्ञानादि होते हैं। इस प्रकार शरीर में सुख, प्रकाशादि होने के समय, सत्त्वगुण की अभिवृद्धि समझनी चाहिये। लोभ, प्रवृत्ति, कर्मारम्भ, अशान्ति और विषयों की अभिलाषा आदि होने पर, रजोगुण का उत्कर्ष समझना चाहिये और अविवेक, प्रमाद आदि के समय, तमोगुण की अधिकता जाननी चाहिये। प्रारब्ध कर्मानुसार सत्त्वादि गुणों की अभिवृद्धि होने पर, गुणानुसार कार्य में प्राणी प्रवृत्त होता है और पुरुषार्थ से सत्त्वादि गुणों के अनुष्ठान करने पर भी गुणों की अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार कारण के होने पर कार्य होता है और कार्य के होने पर कारण, क्योंक दोनों अभिन्न हैं। प्राणी की जितनी भी चेष्टायें होती हैं, सभी गुणानुसार होती हैं और चेष्टाओं के अनुसार गुणों में वृद्धि तथा क्षय अवश्यम्भावी हैं। जनन-मरण भी, चेष्टा तथा गुणों के अनुसार होते हैं और तदनुसार आगामी गति प्राप्त होती है। सत्त्वादि गुणों की अभिवृद्धि में मृत्यु होने पर, विभिन्न गति मिलती है। गीता बतलाती है :

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसिमूढयोनिषु जायते ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ॥
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥

(गी० १४।१४-१६)

'—जब यह शरीरधारी जीव सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु पाता है, तब उत्तम तत्त्वविद् के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है।' 'रजोदय के समय मृत्यु होने पर कर्मासक्त मनुष्यों में जन्म होता है और तमोदय - काल में मृत्यु होने पर पशु आदि मूढ योनियों में जन्म होता है।' 'शिष्ट पुरुषों ने सात्त्विक कार्य का फल सात्त्विक तथा निर्मल, राजस कर्म का फल दुःख एवं तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है।' पूर्वजन्म के कर्मानुसार फलोदय होने पर, स्वतः सत्त्वादि गुणों का आविर्भाव-तिरोभाव होता है। जिस गुण के आविर्भाव में प्राणी का प्राणान्त होता है, तदनुसार आगामी जन्म मिलता है। सत्त्वगुण के उत्कर्ष के समय प्राणान्त होने

पर हिरण्यगर्भ आदि के लोकों में जाकर, देवोपम भोग- पाता है। रजोगुणोदयकाल में मृत्यु होने पर, कर्मयोगयुक्त मनुष्य-योनि पाता है और तमोगुणोदयकाल में प्राणान्त होने पर, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गादि योनियों में जन्म होता है। पूर्व-कर्मानुसार ही गुणों का आविर्भाव-तिरोभाव नहीं होता, किन्तु इस जन्म के कर्म, ज्ञान आदि के अनुसार भी, सत्त्वादि गुणों का उत्कर्षापकर्ष होता है। यही भाव **कर्मणः सुकृतः** (गी० १४।१६) से प्रकट किया गया है। सात्त्विकादि आचरण में स्थित होने पर भी, प्राणी की पूर्वोक्त गति होती है, गीता यही प्रतिपादन करती है :

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(गी० १४।१८)

'—सात्त्विक आचरणशील पुरुष ऊर्ध्वलोक यानी देवलोक, सत्यलोक आदि में जाते हैं और देव योनि में उत्पन्न होते हैं, राजस कर्माचरण वाले पुरुष मध्य में यानी पाप-पुण्य मिश्रित मनुष्य लोक में रहते हैं और निकृष्ट तामस आचरण में रत पुरुष नीचे यानी पशु आदि योनि में जाते हैं।'

इस प्रकार पुरुषों में ज्ञान-कर्मानुसार सात्त्विकादि गुणों का उत्कर्षापकर्ष होता है और गुणानुसार शुभाशुभ फल मिलता है। किन्तु वह ज्ञान तथा कर्म क्या हैं? उनके लक्षण जानने पर निकृष्ट रज तथा तम से बचना सम्भव होगा और सत्त्व में निष्ठा हो सकेगी। इसलिये गीता के अठारहवें अध्याय में इनका वर्णन आया है। ज्ञान के भेद का वर्णन किया गया है—'अव्यक्त से स्थूलपर्यन्त यानी अव्यक्त कारण, हिरण्यगर्भ सूक्ष्म तथा विराट् स्थूलपर्यन्त सभी व्यष्टि-समष्टि परस्पर विभक्त सम्पूर्ण भूतों में अविभक्त, अव्यय, एक आत्मवस्तु को जिस अन्तःकरण की ज्ञानवृत्ति से देखता है, वह ज्ञान तुम सात्त्विक जानो' (गी० १८।२०)। 'समस्त भूतों में यानी पृथक्-पृथक् प्रति शरीरों से, अनेक सुख-दुःख आदि परस्पर विलक्षण आत्मा को, जिस ज्ञान से देखता है, उस ज्ञान को तुम राजस समझो' (गी० १८।२१)। 'जो ज्ञान एक कार्य में यानी शरीर तथा प्रतिमा में युक्त है अर्थात् शरीर को ही आत्मा और प्रतिमा को ही ईश्वर समझता है एवं युक्तिरहित तथा तत्त्वार्थरहित अल्पज्ञान है, वह तामस कहा गया है' (गी० १८।२२)। 'सात्त्विक कर्म वह कहा जाता है, जो राग-द्वेषरहित, आसक्तिवर्जित

और फलकामनाशून्य पुरुष-द्वारा नित्य किया गया हो' (गी० १८।२३)। 'जो कर्मफलेच्छा से, अहंकारसहित तथा अत्यन्त परिश्रमपूर्वक किया जाता है, वह राजस कर्म है' (गी० १८।२४)। 'जो कर्म अन्तिम परिणाम, धन या शक्ति का क्षय, हिंसा तथा अपनी सामर्थ्य का विचार न कर, अज्ञानपूर्वक आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है' (गी० १८।२५)। ज्ञान और कर्म कर्ता के अधीन हैं, अतः कर्ता के अनुसार ही ज्ञान तथा कर्म निष्पन्न होते हैं, इसलिये कर्ता भी सत्त्वादि गुणयुक्त होना चाहिये। कर्ता के लक्षणों को भी सत्त्वादि गुणों में विभक्त कर, प्रथम सात्त्विक कर्ता-बतलाते हैं—'जो फलासक्तिरहित तथा अहंकारशून्य है, धारणाशक्ति तथा उत्साह से युक्त है और फल की सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार है, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है' (गी० १८।२६)। 'जो आसक्त, कर्मफल का इच्छुक, लोभी, परपीडक, अशुद्ध और हर्ष-शोक-भावों से युक्त है, वह राजस कर्ता कहा जाता है' (गी० १८।२७)। 'तामस कर्ता उसे कहते हैं जो चञ्चल चित्तवाला हो, संस्कारहीन, विनम्रतारहित, कपटी, परवृत्तिछेदी, आलसी, शोकयुक्त और दीर्घसूत्री हो' (गी० १८।२८)। बढ़ई के वसूले के समान कर्ता के लिये करण आवश्यक हैं। कर्ता के करण बुद्धि आदि हैं, उनके भी गुणानुसार तीन भेद हैं, अतः तीनों भेदों का परिचय आवश्यक है। किन्तु प्रश्न होता है कि 'अन्तःकरण उपाधि से युक्त चिदाभास ही 'कर्ता' कहा जाता है। उपाधिरहित कर्ता हो नहीं सकता और अन्तःकरण की वृत्ति ही ज्ञान तथा बुद्धि नाम से कहीजाती है। जब कर्ता का तथा ज्ञान का परिचय मिल गया, तब बुद्धि के परिचय की आवश्यकता ही क्या ?' इसका उत्तर है कि उपाधियुक्त चिदाभास ही कर्ता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उपाधिमात्र को ही 'करण' कहा जाता है। कर्ता के परिचय में सामान्यरूप से कहा गया था, यहाँ कर्ता से करण का पृथक् विशेषरूप से परिचय दिया जायगा। पहले जिस ज्ञान का वर्णन किया गया, वह बुद्धि की एकवृत्ति विशेष है तथा बुद्धि वृत्तिमती है। यहाँ बुद्धि का और उसकी एक वृत्ति विशेष धृति का वर्णन करना है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं :

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

(गी० १८।३०–३२)

'—पार्थ ! प्रवृत्ति–कर्ममार्ग को–और निवृत्ति–संन्यासमार्ग को–,विहित कर्तव्यकर्म को तथा प्रतिषिद्ध अकर्तव्यकर्म को, दृष्ट-अदृष्ट, भय तथा अभय को एवं सहेतुक बन्धन तथा मोक्ष को जो बुद्धि जानती है, वह सात्त्विकी है।' 'पार्थ ! जिस बुद्धि से शास्त्रविहित धर्म को तथा शास्त्रप्रतिषिद्ध अधर्म को एवं पूर्वोक्त कार्य-अकार्य को यथार्थरीति से नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।' 'पार्थ ! तमोगुण से आच्छादित बुद्धि प्रतिषिद्ध अधर्म को धर्म मान लेती है और अन्यान्य समस्त ज्ञेय पदार्थों को विपरीत जानती है, वह बुद्धि तामसी है।' 'धृति' के भी तीन रूपों का वर्णन करते हैं। प्रथम सात्त्विकी धृति के लक्षण भगवान् कहते हैं–'पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धृति–द्वारा यानी समाधि में अनुगत जिस धारणा से मन, प्राण तथा इन्द्रियों की शास्त्रविरुद्ध समस्त चेष्टायें रोकी जाती हैं, वह धृति सात्त्विकी है' (गी० १८।३३)। 'अर्जुन ! जिस धृति-द्वारा मनुष्य धर्म, काम तथा अर्थों को धारण करता है और धर्मादि का प्रसंग आने पर फलाकांक्षी होता है, पार्थ ! उसकी वह धृति राजसी है।' (गी० १८।३४)। 'जिस धृति-द्वारा निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद को दुर्बुद्धि मनुष्य धारण किये रहता है, वह धृति तामसी है' (गी० १८।३५)। क्रियाओं के भेदानुसार सुख के भी तीन भेद हैं, क्योंकि सबका फल सुख ही है। अतः सुख-भेद का भगवान् वर्णन करते हैं :

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

(गी० १८।३६-३९)

'—भरतर्षभ ! अब तुम मुझसे सुख के तीन भेद सुनो, जिस समाधिसुख में पुरुष अभ्यास यानी आवृत्ति से रमण करता है और जहाँ सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है ।' 'जो सुख पहले विवेक, वैराग्य, शम, ध्यानादि के परिश्रम से विष के समान यानी दुःखरूप प्रतीत होता है, किन्तु विवेकादि के परिपक्व होने पर, परिणाम में वही अमृत के समान होता है, वह आत्मावगाहिनी बुद्धि के प्रसाद से समुत्पन्न सुख सात्त्विक कहा जाता है ।' 'जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह पहले अमृत के समान लगता है, किन्तु परिणाम में बल, वीर्य, बुद्धि आदि नाशक और नरकादि का हेतु होने से, विषवत् होता है, वह सुख राजस कहा जाता है ।' 'जो सुख आरम्भ और परिणाम में अन्तःकरण को मोहित करनेवाला, निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न है, वह सुख तामस कहा जाता है ।'

इसी प्रकार गीता के सत्रहवें अध्याय में श्रद्धादि के तीन-तीन भेदों का निरूपण किया गया है । 'सात्त्विक श्रद्धासम्पन्न पुरुष देव-पूजा करते हैं । राजसी श्रद्धावाले यक्ष तथा राक्षसों का यजन करते हैं और तामसी पुरुष भूत-प्रेत-यजन करते हैं' (गी० १७।४) । 'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ानेवाले मधुर, स्निग्ध, स्थिर और हृदय को प्रिय लगनेवाले आहार, सात्त्विक पुरुष को प्रिय हैं' (गी० १७।८) । अति कड़वे, खट्टे लवणयुक्त, उष्ण, तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक आहार दुःख, शोक तथा भय देनेवाले, राजस पुरुष को प्रिय होते हैं' (गी० १७।९) । 'अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट तथा यज्ञ के अयोग्य भोजन, तामसी पुरुषों को प्रिय होते हैं' (गी० १७।१०) 'फलाकांक्षारहित, शास्त्रानुकूल जो यज्ञ किया जाता है और 'यज्ञ करना ही कर्तव्य है' इस मन की भावना से जो यज्ञ होता है, वह सात्त्विक यज्ञ है' (गी० १७।११) । 'भरतश्रेष्ठ ! जो यज्ञ फल के उद्देश्य से और पाखण्ड करने के लिये किया जाता है, उस यज्ञ को तुम राजसी समझो, (गी० १७।१२) । 'शास्त्रविधिरहित, ब्राह्मणों को अन्नदान न देकर, मन्त्रहीन, दक्षिणारहित और अश्रद्धापूर्वक यज्ञ तामस कहा जाता है' (गी० १७।१३) । तप शरीर, मन एवं वाणी से होता है । 'देव, द्विज, गुरु और ज्ञानी का पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा शरीर के तप कहे जाते हैं' (गी० १७।१४) । 'उद्वेग न करनेवाला, सत्य, प्रिय तथा हितकारक वाक्य और स्वाध्याय का अभ्यास वाङ्मय तप है' (गी० १७।१५) । 'मन की प्रसन्नता, सौम्यता, अन्तःकरण का संयम, मन का निग्रह तथा छल-कपटरहित व्यवहार ये सब मानस तप कहे जाते

हैं' (गी० १७।१६) । 'ये तीनों प्रकार के तप फल तथा अकांक्षारहित, समाहितचित्त पुरुषों-द्वारा उत्तम श्रद्धापूर्वक किये जाते हैं, उस तप को सात्त्विक कहते हैं' (गी० १७।१७) । 'सत्कार, मान तथा पूजा के लिये जो दम्भपूर्वक तप किया जाता है, वह राजसी कहलाता है—ऐसा तप अनिश्चित फलवाला और नाशवान् भी है' (गी० १७।१८) । 'जो तप अपने शरीर को पीडा देकर या परपीडन के लिये, मूढतापूर्वक आग्रह से किया जाता है, वह तामस तप है' (गी० १७।१९) । 'देना उचित है' इस बुद्धि से देश, काल और पात्र का विचारकर अनुपकारी व्यक्ति को, जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है' (गी० १७।२०) । 'जो दान प्रत्युपकार के लिये तथा फलोद्देश्य के निमित्त क्लेशपूर्वक दिया जाता है, वह दान राजस कहाता है' (गी० १७।२१) । 'देश तथा काल का विचार न कर, अपात्रों को सत्कार के विना और अपमानपूर्वक जो दान दिया जाता है, वह तामस कहलाता है' (गी० १७।२२) । अपने वर्णाश्रमविहित नित्य कर्मों का त्याग सर्वथा अनुचित है, किन्तु त्याग की महिमा सर्वाधिक है, इसका निर्णय गीता में भगवान् इस प्रकार करते हैं—'नित्य कर्मों का त्याग नहीं बन सकता, क्योंकि अज्ञानपूर्वक नित्य कर्मों का परित्याग तामस त्याग कहा जाता जाता है' (गी० १८।७) । 'सब कर्म दुःखरूप हैं—ऐसा मानकर जो शारीरिक क्लेश के भय से, कर्मों को छोड़ता है, वह राजस त्याग करके, त्याग-फल को नहीं पाता' (गी० १८।८) । 'अर्जुन ! कर्तव्य समझकर जो नित्यकर्म आसक्ति तथा फल-त्यागपूर्वक किये जाये जाते हैं, वह त्याग सात्त्विक कहा गया है' (गी० १८।९) ।

गीता में मानव-सम्बन्धित सभी प्रकार के कर्म, ज्ञान, भावना एवं फल तीन-तीन प्रकार के निरूपण का उद्देश्य यह है, कि मानव सच्ची परिस्थिति से अवगत हो । प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है, कि अपने कर्म तथा मानसिक भावना का परीक्षण करे और देखे, कि किस स्तर पर है । यदि तामस-क्षेत्र में है, तो ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, कि उससे ऊपर उठकर राजस-क्षेत्र में आवे । यदि राजस-क्षेत्र में है, तो सात्त्विक-क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार कर्मनिष्ठ पुरुष का सात्त्विक क्षेत्र में विचरण अत्यन्त शुभप्रद है । इससे बुद्धि में प्रकाश, विवेकोदय, वैराग्य एवं ईश्वरदर्शन की तीव्र अभिलाषा जाग्रत होती है । तब ज्ञानक्षेत्र में प्रवेश करता है और समझता है कि 'मैं गुणों से रहित नित्यआत्मा हूँ, अतः गुणों से मेरा क्या सम्बन्ध ?' वह गुणातीत अवस्था में स्थित हो जाता है । इसी भाव को गीता में भगवान् इन शब्दों में प्रकट करते है :

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।

(गी० १४।१९-२०)

'—जब द्रष्टा पुरुष गुणों के अतिरिक्त किसी अन्य को कर्ता नहीं देखता और गुणों से पर आत्मा को जानता है, तब वह मेरे भाव को प्राप्त होता है।' 'देही पूर्वोक्त तीनों गुणों का अतिक्रमण कर, जो देहोत्पत्ति के बीजभूत हैं, जीवितावस्था में ही जन्म-मृत्यु, जरा तथा दुःखों से मुक्त हो, अमृतानुभव करता है।' द्रष्टा दृश्य से भिन्न होता है। जैसे घट, पट आदि का द्रष्टा उनसे भिन्न है, वैसे ही शरीर, मन, बुद्धि आदि का द्रष्टा भी शरीरादि से भिन्न है। गुण भी दृश्य ही हैं एवं अन्तःकरण, बाह्यकरण, शरीर तथा विषय भी गुणों के ही कार्य हैं, गुण ही इन रूपों में परिणत हुये हैं। अतः कर्ता, कर्म एवं विषय आदि सब गुण ही होने से, 'गुणगुणों में ही व्यवहार कर रहे हैं'। इनका द्रष्टा आत्मा इनसे सर्वथा पृथक् और श्रेष्ठ है। जब शरीरादि का व्यवधान हट जाता है, तब आत्मा अखण्ड, अनन्त एवं सीमारहित भासित होता है। जैसे घट का व्यवधान हटने पर, घटाकाश महाकाश ही दिखाई देता है, वैसे ही महान् आत्मदर्शन होता है और वही रूप ब्रह्म का है। अतः ब्रह्मभाव में पुरुष स्थित हो जाता है। गुणों के पार जाने से, जन्म-मृत्यु, विकार, दुःख, शोकादि से पुरुषमुक्त हो जाता है, क्योंकि कारण रूप गुणों के न रहने से, कार्यरूप शरीरादि भी नहीं हो सकते। अनुभवकाल में ही शरीर से भिन्न आत्मदर्शन होने पर, जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है और शरीर के न रहने पर, विदेहमुक्ति।

देहादि गुण और आत्मा निर्गुण है—इस विवेक से आत्मा में स्थिति सम्भव है। किन्तु जो इस विचार में निपुण नहीं हैं या जो अन्य साधन जानने के इच्छुक हैं, उनके प्रति भगवान् का कथन है :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

(गी० १४।२६)

'—जो मुझ ईश्वर को अव्यभिचारी भक्तियोग से सेवन करता है, वह गुणों का अतिक्रमण कर, मोक्ष पाने में समर्थ होता है।' ध्येयाकार अखण्डरूप से, बुद्धि का प्रवाहित होना 'अव्यभिचारीभक्ति' है। प्रत्यगभिन्न, सर्वान्तिर्यामी, भूमासंज्ञक ईश्वर को ध्येय बनाकर, जब अखण्ड मानसवृत्ति प्रवाहित होती है, तब वही भक्तियोग से सेवन करना है। तैलधारावत् अखण्डवृत्ति के प्रवाहित होने पर देह, गेह, ध्याता एवं ध्यान का किञ्चित् भी भान नहीं होता। इस प्रकार जिसकी स्थिति होती है, वह गुणों का उल्लंघन कर, ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। जीवित अवस्था में ही मुक्ति की अनुभूति होती है।

उपर्युक्त विवेचन से गीता का गम्भीर आशय है, कि स्वमायाशक्ति-द्वारा ईश्वर सृष्टि-रचना करते हैं और स्वाज्ञान-द्वारा जीव उपभोग करते हैं। यद्यपि सृष्टि-रचना का उद्देश्य जीवों के भोग तथा मोक्ष के लिये है, तथापि जीव अज्ञानवश स्वयं ही अपनी भिन्न सृष्टि कल्पित कर, दुःखरूप बन्धन में पड़ते हैं। गीता के उपर्युक्त **ऊर्ध्वमूलम्** (गी० १५।१) से ईश्वर-कृत संसार का कथन है। इसका मूल है मायोपाधिक चेतन ब्रह्म, शाखायें कार्योपाधिक हिरण्यगर्भादि जीव और वेद ही पत्ते हैं। मूलसहित इसका ज्ञाता ब्रह्मस्वरूप ही होता है। **अधश्चोर्धम्** (गी० १५।२) से जीव-कृत संसार का वर्णन है। शुभाशुभ वासनायें इसकी मूल हैं, शाखायें देव, मानव, पशु, पक्षी एवं स्थावर वृक्षादि हैं। विषय कोपलें हैं और तीन गुण-द्वारा यह बढ़ता है। प्रवाहरूप से दोनों संसार अनादि-अनन्त हैं। ईश्वरीय सृष्टि और जीव-सृष्टि का परिचय उपनिषदों में भी आया है :

ईक्षणादि प्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादि विमोक्षान्तः संसारो जीव कल्पितः ।।

(महोपनिषद् ४।७३)

'—आदि ईक्षण से प्रवेश पर्यन्त ईश्वर-द्वारा कल्पित सृष्टि है और जाग्रत् से मोक्ष पर्यन्त जीव-द्वारा कल्पित संसार है।' सृष्टि-रचना-विचार का स्फुरण होना और सत्त्वादि गुण, आकाशादि महाभूत, अनेक लोक-लोकान्तर, नद-नदी, पर्वत, वृक्ष, कीट, पतंगादि तथा दानव, मानव, देवादि की रचना कर, उनमें जीवभाव से प्रवेश करने तक, ईश्वर-सृष्टि है। पश्चात् 'मैं देवदत्त हूँ', 'ब्राह्मण हूँ', 'सुन्दर हूँ', 'सुखी-दुःखी हूँ', 'कर्ता-भोक्ता हूँ' एवं 'ये मेरे माता-पिता हैं', 'ये

भ्राता हैं', 'स्त्री है', 'मैं बन्धनयुक्त हूँ' और 'मैंने सुन्दर साधन किये हैं', 'अब मैं मुक्त हूँ' आदि कल्पना जीव-सृष्टि है। यद्यपि ईश्वर ने पदार्थ-स्वरूप ही निर्मित किया, तथापि जीव ने अपने ज्ञान तथा कर्म से, उसे भोग्याकार बना लिया। जिस प्रकार स्त्री अपने पिता से उत्पन्न होती है, और पति की भोग्या होती है। इसी प्रकार सृष्टि भी ईश्वर-द्वारा उत्पन्न और जीव-द्वारा भोग्य होने के कारण, दो से समन्वित है। 'पञ्चदशी' कार ने दृष्टान्त-द्वारा इस प्रकार कहा है :

भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा।
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः॥
(पंच० पञ्चभूत २३)

'—सम्बन्धियों की विभिन्न बुद्धि के कारण एक ही स्त्री पति के लिये 'भार्या', श्वसुर के लिये 'पुत्रवधू', भाई की स्त्री के लिये 'ननान्दा', ज्येष्ठ भ्राता की स्त्री के लिये 'याता यानी देवर की स्त्री' और पुत्र के लिये 'माता' होती है, यद्यपि स्वरूप से एक ही स्त्री है, तथापि विभिन्न भावों से, प्राणियों ने अनेक स्त्रियों की कल्पना कर ली है।' यदि यह कहा जाय कि स्त्री तो एक है, भिन्न-भिन्न भावों से स्त्री के स्वरूप भिन्न-भिन्न नहीं हो जाते ? तो इसका उत्तर है :

मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी।
मांसमय्याअभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी॥
(पंच० पञ्चभूत २५)

'—उपर्युक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक स्त्री में दो स्त्रियाँ रहती हैं— एक मांसमयी, दूसरी मनोमयी, मांसमयी स्त्री तो एक है किन्तु मनोमयी स्त्री अनेक हैं।' मांसमयी स्त्री में जब तक भावना का प्रवेश नहीं होता, तब तक एक रहती है, जब भावना का प्रवेश होता है, तब अनेक हो जाती हैं। पति की दृष्टि में 'भार्या' है और पुत्र की दृष्टि में 'माता'। पुत्र उसे भार्या नहीं मान सकता और पति माता नहीं स्वीकार करता, क्योंकि दोनों की भावना में अन्तर है। भावना के अनुसार पुत्र को माता तथा पति को भार्या-रूप में ही दिखाई देती है। जैसी मनोवृत्ति होती है, वैसी ही वस्तु दिखाई पड़ती है। इस प्रकार

ईश्वर ने स्त्री का मांसमय स्वरूप निर्मित किया और जीव ने मनोमयी अनेक स्त्री-स्वरूपों की कल्पना की। ईश्वर-रचना पर जब हम अपनी मानस कल्पना खड़ी कर लेते हैं, तो यही बन्धन का कारण बन जाती है। रस्सी में सर्प की कल्पना से ही, भय आदि उत्पन्न होते हैं, केवल रस्सी से नहीं। इसी प्रकार केवल ईश्वर-रचित संसार से कोई भय नहीं होता, उसमें जब जीव अपनी कल्पना से, नया संसार बनाता है, तभी भय आदि होते हैं। अतः मानस-कल्पना ही बन्धन का कारण है। मानस-कल्पना का कारण है–अज्ञान और अज्ञान का निवारण होता है–ज्ञान से। ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने पर अज्ञान तथा अज्ञानजनित मानस-कल्पना और कर्मादि का बाध होने पर, भय, दुःख एवं बन्धन सदैव के लिये विनाश हो जाता है।

इसी अभिप्राय से गीता में सृष्टि-वर्णन, एवं सत्त्वादि गुण, उनके कार्य, और बुद्धि, श्रद्धा, तपादि का निरूपण किया गया है। यद्यपि ईश्वर ने त्रिगुणमयी बुद्धि निर्मित की, तथापि कर्म तथा भावना के अनुसार जीव ने, विभिन्न गुणों का उत्कर्षापकर्ष स्वयं कर, अपनी बुद्धि निर्मित की। जिसने अधर्म को ही धर्म समझ लिया, उसकी बुद्धि तमोगुण प्रधान हो गई। जिसे धर्माधर्म का ज्ञान और कार्याकार्य समझने की न इच्छा है, न शक्ति, उसकी बुद्धि रजोगुण प्रधान हो गई एवं जिसने धर्माधर्म का विवेक, बन्ध-मोक्ष का ज्ञान तथा कार्याकार्य जानने का प्रयत्न किया उसकी बुद्धि सत्त्वगुण प्रधान हो गई। एक बुद्धि पर अपनी कल्पना का आवरण चढ़ाकर जीव ने विभिन्न बुद्धियाँ निर्माण कर लीं। बुद्धि के अनुसार विभिन्न विचार और कर्म भी होने लगे, तदनुसार सुख-दुःख एवं बन्ध-मोक्ष की परम्परा चल पड़ी। अतः ईश्वरीय बुद्धि निर्दोष है और उससे जीव का बन्धन नहीं होता। किन्तु जब जीव अपनी बुद्धि की सृष्टि कर लेता है, तब सुख-दुःख एवं बन्ध-मोक्ष की परम्परा चल पड़ती है। इसी प्रकार श्रद्धा, तप, यज्ञ, कर्म आदि का भी सम्बन्ध ईश्वर तथा जीव दोनों से है। ईश्वर ने केवल स्वरूप-रचना की, जीव ने अपनी कल्पना-द्वारा उसे अपना भोग्य बनाया। गीता में सत्त्वादि गुणों के स्वरूप बतलाने का यही तात्पर्य है, कि मानव तमोगुण तथा रजोगुण से निवृत्त होकर, सत्त्वगुण में प्रवेश करे और सत्त्वगुण में आने पर, ज्ञान-द्वारा त्रिगुणातीत ईश्वर-भाव में स्थित हो जाय। इसके लिये आवश्यक है आहार-विहार, कर्म, भावना, एवं ज्ञानादि सभी सात्त्विक हों, तभी सत्त्वगुण का उत्कर्ष होगा। 'भागवत' में भी यही कहा है :

सात्त्विकान्येव सेवेत् पुमान् स त्त्वविवृद्धये ।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम् ॥
(भा० ११।१३।६)

'—जब तक आत्मा का साक्षात्कार न हो, तब तक मनुष्य सत्त्वगुण की अभिवृद्धि के लिये सात्त्विक शास्त्र, जलादि का ही सेवन करे, उससे धर्म की वृद्धि होती है, धर्म से ज्ञान होता है और ज्ञान से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार।' धर्म से यहाँ तात्पर्य ईश्वर-भक्ति से है। भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से त्रिगुणातीत आत्मा का साक्षात्कार होता है।

इस प्रकार गीता में कल्पना-परित्याग का निर्देश है। ईश्वरीय सृष्टि तो साधन में सहायक है। क्या भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, वन, पर्वत, कन्द, मूल, फलादि बन्धनकारक हैं? इनके आश्रय से ही जीव उत्कर्ष-पाता है। ऋषि, मुनि तथा ज्ञानी आदि इनका सेवन करते हैं और ये सभी पदार्थ उनका पोषण करते है। हाँ, मानव-कल्पित सृष्टि अवश्यमेव बन्धनकारक है, इसीलिये इसके त्याग की आवश्यकता है। अतः ईश्वरीय त्रिगुणमयी सृष्टि के माध्यम से अपनी त्रिगुणोत्कर्षमयी सृष्टि का संकोच कर, पुनः ईश्वरीय सृष्टि से ऊपर उठकर, त्रिगुणातीत ईश्वर या आत्म-तत्त्व-प्राप्त करना चाहिये। यही मानव का वास्तविक स्वरूप है और चरम लक्ष्य भी।

उपर्युक्त विवेचन अज्ञानसम्पन्न जीव की दृष्टि से किया गया है, इससे ज्ञानीपुरुष का दृष्टिकोण भिन्न है। **यस्तं वेद स वेदवित्** (गी० १५।१) '—जो मूलसहित संसारवृक्ष को जानता है, वह वेदवित् है'। इसका वास्तविक अर्थ यह है, कि जिस प्रकार तिक्तरसवाले निम्ब के बीज से उत्पन्न, निम्ब का वृक्ष तिक्तरसात्मक ही होता है, विपरीत नहीं। उसी प्रकार चिदेकरस ब्रह्म से उत्पन्न संसारवृक्ष भी चिद्रूप ही है। इसलिये जो कुछ भी संसाररूप से देखते, अनुभव करते एवं व्यवहार में लाते हैं, वह 'सबब्रह्म ही है'। यही **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छा० ३।१४।१) '—यह सब ब्रह्म ही है', इत्यादि श्रुतियों में तथा **वासुदेवः सर्वमिति** (गी० ७।१९) '—यह सब वासुदेव हैं', गीता में कहा गया है। 'वृक्ष होने से, संसाररूप वृक्ष, अपने बीज ब्रह्म के समान रसस्वरूप ब्रह्म ही है। इस प्रकार जो शुद्धान्तःकरणसम्पन्न पुरुष संसार को ब्रह्म ही जानता है, वही वेदार्थ-ज्ञाता है। अतः कारण ब्रह्म-ज्ञान से कार्य जगत् का ज्ञान वास्तविकरूप से

होता है। मृत्तिकाज्ञान से ही घट, कमण्डलु आदि के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है, तभी यह निश्चय होता है, कि सत्य तो मृत्तिका है। 'घट', 'कमण्डलु' नाम तथा रूप कल्पित हैं, इसलिये कल्पना का आधार मृत्तिका सत्य है और नाम-रूप कल्पित होने से मिथ्या। यद्यपि व्यवहार काल में घट सत्य प्रतीत होता है, तथापि कारण दृष्टि से पारमार्थिक काल में असत्य होता है, इसलिये न वह सत्य है, न असत्य, अतः अनिर्वचनीय–मिथ्या–है। इसी प्रकार व्यवहार काल में संसार सत्य प्रतीत होता है, किन्तु परमार्थतः असत्यसिद्ध होता है। अतः सत्य-असत्यरहित अनिर्वचनीय–मिथ्या–है। इस तरह नाम-रूप का बाध करने पर, शेष ब्रह्म ही सिद्ध होता है। गम्भीर विचार करने पर अन्ततः नाम-रूप भी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं सिद्ध होते। अतः एकमात्र ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं।

———

विलक्षण ज्ञानी के लक्षण एवं मुक्ति

अभेद दर्शनं ज्ञानम् (स्कन्दोपनिषद् ११) के अनुसार वेदान्तशास्त्र एवं गीता का चरम लक्ष्य है—एक, अखण्ड चेतनतत्त्व का अभेद दर्शन। एक ही चेतन सत्ता विविध नाम-रूपात्मक पदार्थों में प्रदर्शित होती है, किन्तु अज्ञानवश प्राणी उन्हें भिन्न-भिन्न पदार्थ समझते हैं। ज्ञान-द्वारा अज्ञान-निवारण होने पर, अभिन्नदर्शन होता है, अतः अभिन्नदर्शन ही ज्ञान है। शास्त्रों में अभिन्नदर्शन के लिये ही, विभिन्न प्रक्रिया-द्वारा, परम-चेतन तत्त्व का वर्णन है। गीता में देह-देही, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, जीव-ईश्वर, जीव-जगत् , जीव-माया, माया-ब्रह्म, ब्रह्म-जगत् एवं गुण-पदार्थ का विवेचन है। सबका निष्कर्ष एक ही चेतनसत्ता की सिद्धि है। प्राणियों की विभिन्न बुद्धियों के अनुसार अनेक प्रकार से, एक ही तत्त्व का निरूपण किया गया है। एक ही चेतनसत्ता में अनेक पदार्थों की कल्पना और कल्पित पदार्थों के निषेधपूर्वक, एकमात्र अभिन्न चेतनसत्ता का बोध ही, प्रक्रियाओं का उद्देश्य है।

अखिल विश्व का कारण एक, पूर्ण, स्वतन्त्र, चेतनतत्त्व है। चेतनतत्त्व परिपूर्ण, सर्वाधिष्ठान, सर्वव्यापक, सर्वस्वरूप, साधनशून्य तथा शुद्ध है। उसने अपनी स्वतन्त्र शक्ति से ही, स्वस्वरूप पट पर, संसाररूप चित्र अपने विलास के

लिये बनाया। किसी अन्य-आधार पर, संसारचित्र बना हो, यह सम्भव नहीं, क्योंकि पूर्ण होने से, अन्य का अस्तित्व ही नहीं। जैसे प्राणी स्वप्न में अथवा कल्पना में अनेक देह तथा पदार्थ-निर्माण करता है, किसी में 'मैं' तथा किसी में 'वह' की कल्पना कर, व्यवहार करता है। स्वप्न-सृष्टि मन से, मन में उत्पन्न होती और अन्त में मन में ही विलीन हो जाती है। वैसे ही चेतनसत्ता-द्वारा संकल्प से, चेतनसत्ता में संसार होता है और अन्त में उसी में लीन हो जाता है। जैसे सागर के विना तरंग, सूर्य के विना प्रकाश, अग्नि के विना उष्णता एवं जल के विना शीतलता नहीं हो सकती, वैसे ही चेतनसत्ता के विना संसार की स्थिति नहीं हो सकती। चेतन सभी काल, सभी स्थान तथा सभी पदार्थों में ओत-प्रोत है। जैसे सभी तरंगों में जल, वस्त्र में सूत्र और घट में मृत्तिका ओत-प्रोत है, वैसे ही देश, काल, दिशा, गगन, वायु, तेज, समीर, नीर, भूमि, वन, पर्वत, नद, नदी, क्षेत्र, मानव, दानव, देव, कीट, पतंगादि सभी चेतनसत्ता से ओत-प्रोत हैं। चेतनसत्ता आत्मा ही सब कुछ है, अन्य कुछ भी नहीं। यद्यपि संसार में विभिन्न आकार देखे जाते हैं, तथापि उनमें भिन्नता नहीं है। भिन्नदर्शन का कारण है—चैतन्य की अंगभूत घनता और निर्मलता। दर्पण में भी घनता तथा निर्मलता के कारण ही, प्रतिबिम्ब स्पष्ट देखे जाते हैं। किन्तु जल में निर्मलता हैं, पर घनता कम है, इसीसे अस्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। आकाश में निर्मलता है, किन्तु कठिनता नहीं, इसीसे प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता। पाषाण में कठिनता है, पर निर्मलता नहीं, इसी कारण उसमें भी प्रतिबम्ब नहीं पड़ता। दर्पण जड तथा अस्वतन्त्र है, इस कारण प्रतिबिम्ब के लिये, बाह्य बिम्ब की आवश्यकता है। किन्तु आत्मा चेतन तथा स्वतन्त्र है, इस कारण बिम्ब की उसे अपेक्षा नहीं। जैसे दर्पण का प्रतिबिम्ब, दर्पण से भिन्न नहीं, वैसे ही चेतन का प्रतिबिम्ब संसार भी, चेतन से पृथक् नहीं। मायावी इन्द्रजालविद्या-द्वारा, अन्य सामग्री न रहने पर भी, संकल्पित पदार्थों की रचना करता है, सभी दर्शकों को पदार्थ एक से, स्थिर और सत्य जान पड़ते हैं। योगी यौगिकशक्ति से, अनेक वस्तुओं का निर्माण करते हैं, वे वस्तुयें चिरस्थायी भी रह सकती हैं, अन्त में उसी में लीन हो जाती हैं। परमात्मशक्ति तो अपरिमित है, वह संकल्प-द्वारा संसार-स्वयं में रचकर, चिरकाल तक स्थिर रखता है और अन्त में अपने में ही लीन कर लेता है। परमात्मा स्थिर है, संसार अस्थिर, परमात्मा नित्य तथा अविनाशी है, संसार अनित्य तथा विनाशी। इतनी भिन्नता होने पर भी, रज्जुसर्पवत् अभिन्नता है। अतः एकमात्र चेतन परमात्मा ही है, अन्य की सत्ता नहीं।

एक, परिपूर्ण चेतन में, अन्य चेतन भी नहीं हो सकते। कुछ लोगों का

आग्रह है '—एक चेतन परमात्मा है और अनेक चेतन आत्मा। परमात्मा अंशी है, आत्मा अंश।' किन्तु यह विचार सदोष है, क्योंकि चेतन परिपूर्ण तथा अविच्छिन्न है। यदि अन्य चेतन स्वीकार किये जायँ, तो न वह परिपूर्ण होगा न अविच्छिन्न। यदि उस चेतन के भीतर, अन्य चेतन स्वीकार किये जायँ, तो यह भी नहीं बनता। क्योंकि, जिस स्थान पर अन्य चेतन होंगे, उस स्थान पर महान् चेतन है या नहीं? यदि नहीं है, तो वह चेतन परिच्छिन्न ही कहा जायगा। यदि है, तो अन्य चेतन कहाँ से आ गये? स्थान तथा काल आदि की भी कल्पना उसी में है, समुद्र में तरंग तथा बुद्बुद्वत्। यदि कहा जाय, कि जिस प्रकार स्थान तथा काल, महान् चेतन में हैं, उसी प्रकार अन्य चेतन भी, महान् चेतन में हैं, तो अन्य चेतनों की सत्ता काल्पनिक ही कही जायगी, वास्तविक नहीं। जिस प्रकार एक महाकाश में, घटाकाश तथा मठाकाश की कल्पना होती है। उसी प्रकार महान् चेतन परमात्मा में कल्पित बुद्धि और बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन परमात्मा ही, बुद्धिपरिच्छिन्न होकर, चेतन आत्मा कहा जा सकता है। घट तथा मठ की उपाधि से, घटाकाश तथा महाकाश की सत्ता भासित होती है, उसी प्रकार अनेक बुद्धियों की उपाधि से, अनेक आत्मा प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तव में घट तथा मठ से, आकाश न तो परिच्छिन्न होता है, न आकाश में कुछ विशेषता आती है, वह निर्विकार, एक और अखण्ड ही रहता है। उसी प्रकार चेतन परमात्मा में, बुद्धियों के कारण न तो अनेकता आती है, न परिच्छिन्नता, न किसी प्रकार की विशेषता का ही समावेश होता है। वह शुद्ध, निर्विकार, असंग, अपरिच्छिन्न तथा एकरूप ही रहता है। घट-विद्यमान रहने पर भी, 'घटाकाश' वास्तव में महाकाश ही है और घट के न रहने पर भी महाकाश ही है। वैसे ही बुद्धियों के होने पर भी, 'आत्मा' वस्तुतः 'परमात्मा ही है', और बुद्धियों के नाश होने पर भी, परमात्मा ही हैं। अतः अनेक चेतन आत्मा की सत्ता नहीं है। एक महान् चेतन आत्मा ही शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है।

जो पुरुष विश्व तथा गुणों को कल्पित समझकर, गुणातीत हो, आत्मस्वरूप में स्थित होता है, वह ज्ञानी है। ज्ञानी की दृष्टि में न कुछ त्यागनीय है, न ग्रहणीय। उसकी दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ रहता ही नहीं, फिर किसे त्यागे और किसे ग्रहण करे? वह कुछ भी नहीं करता और सबका कर्ता है। ज्ञानी की दृष्टि में द्वैताभाव हैं, इस कारण उसे न पाप-पुण्य है, न धर्माधर्म, न जीवन है, न मरण, न बन्धन हैं, न मुक्ति एवं न कुछ कर्तव्य है, न

प्राप्तव्य। ऐसे ज्ञानी पुरुष के लक्षण तथा आचरण का वर्णन गीता में भगवान् इस प्रकार करते हैं :

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।
सम दुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।
(गी० १४।२२-२५)

'—पाण्डव ! सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश, रजोगुण की प्रवृत्ति और तमोगुण के कार्य मोह जब उपलब्ध होते हैं, तब इनसे द्वेष नहीं करता और निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा नहीं करता।' 'जो उदासीनवत् स्थित है, गुणों-द्वारा विचलित नहीं होता तथा गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं—ऐसा समझ कर, स्थित है, कभी विचलित नहीं होता।' 'जो सुख-दुःख में सम, आत्मस्थ, मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण में समदृष्टि, प्रिय-अप्रिय में सम, और निन्दा-स्तुति में समभाव रखता है, वह धीर है।' 'जो मानापमान में सम, मित्र-शत्रु दोनों पक्षों के लिये तुल्य और सकाम कर्मों का त्यागी है, वह गुणातीत कहा जाता है।' इसका अभिप्राय यह, कि गुणातीत ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में एकमात्र आत्मा के अतिरिक्त, किसी अन्य की सत्ता न होने से, आत्मानन्द में ही निमग्न रहता है। सत्त्वादि गुण-निर्मित शरीर में, समयानुसार जब सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश तथा ज्ञानादि उदय होते हैं, रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति तथा लोभादि अंकुरित होते हैं और तमोगुण के कार्य अज्ञान तथा आलस्यादि प्राप्त होते हैं, तब इनसे द्वेष नहीं करता। क्योंकि द्वेष दूसरे से होता है, अपने से नहीं और कामना में विघ्न होने पर भी द्वेष होता है। किन्तु आत्मस्वरूपावस्थित होने से, दूसरे का अभाव है और पूर्णकाम होने से, कामना का। अतः द्वेष किससे हो ? साथ ही विक्षेप, निद्रा आदि भी विघ्नकारक नहीं होते, क्योंकि सभी अवस्थायें आत्मा से परिपूर्ण तथा आत्मस्वरूप ही हैं। अतः द्वेष का कोई कारण ही नहीं, जब सत्त्वादि गुणों के कार्य निवृत्त हो जाते हैं, तब अज्ञानी पुरुष उनकी इच्छा करते हैं।

ज्ञान, प्रवृत्ति तथा निद्रा आदि कार्यों की कामना करते हैं, परन्तु गुणातीत ज्ञानी पुरुष में, कोई भी कामना नहीं होती, इसलिये निवृत्त हुये प्रकाशादि की आकांक्षा भी नहीं करता। प्रवृत्ति-निवृत्ति में समभाव रहता है, सम से विषम स्थित में नहीं आता। किन्तु ये लक्षण स्वसंवेद्य हैं, दूसरा कोई भी, इन्हें नहीं जान सकता। दो विरोधी पक्षों में विवाद होने पर, जो तटस्थ रहता है, उसे उदासीन कहा जाता है। ज्ञानी भी राग-द्वेष एवं प्रकाश की स्थिति आने पर, उदासीन की भाँति, अपने स्वरूप में स्थित रहता है। सदैव ब्रह्माकाराकारित वृत्ति-द्वारा ब्रह्म में लीन रहने से, सुख-दुःख आदि में परिणत गुणों से विचलित नहीं होता। प्रारब्धवश शरीर के कार्य होने पर भी, वह 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ', 'मैं सुखी-दुःखी हूँ' आदि भावना-शून्य होता है। उसकी दृष्टि में सभी व्यवहार गुणों-द्वारा ही होते हैं। शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण एवं स्थूल-सूक्ष्म विषय सभी गुणों के कार्य हैं। अतः गुण गुणों में ही व्यवहार हो रहा है। आत्मा निष्क्रिय, शान्त तथा स्वयं प्रकाश स्थित है। ब्रह्मज्ञानी राग-द्वेषशून्य होने से, सुख तथा दुख में भी सम रहता है। सुख-दुःख अन्तःकरण के धर्म हैं, किन्तु ज्ञानी गुणातीत, आत्मस्वरूप में स्थित रहता है। विषम स्थिति गुण-द्वारा ही उत्पन्न होती है और गुण ही विषमता को प्राप्त होते हैं, आत्मा गुणों से अतीत है, इस कारण सम है। गुणातीत की दृष्टि में सदैव आत्म-स्वरूप रहता है, इस कारण समदर्शी है। अतः सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति एवं मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण में समदृष्टि होती है यानी गुणातीत को सभी पदार्थ आत्मस्वरूप ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जिसकी आदर-अनादर तथा शत्रु-मित्र में, समदृष्टि होती है एवं आत्मस्थिति तथा पूर्णकाम होने से, समस्त कर्म का परि-त्यागी होता है, वह धीर और गुणातीत कहा जाता है। सर्वत्र ब्रह्मात्मदर्शन-अग्नि में, सत्त्वादि गुण और उनके कार्य देह आदि भस्म हो जाते हैं यानी ब्रह्मात्मस्वरूप हो जाते हैं। वह जन्म-मृत्यु, जरा-दुःख से विमुक्त हो, इसी जीवन में अमृतानुभव करता है—**जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते** (गी० १४।२०)।

गुणातीत पुरुष विधि-निषेधात्मक शास्त्र-परतन्त्र नहीं होता, वह सर्वथा स्वतन्त्र, आत्मस्वरूप में अवस्थित एवं समदृष्टिसम्पन्न होता है। वस्तुतः तो वह आत्मस्वरूप ही है। विधि-निषेधात्मक शास्त्र, उसी से उत्पन्न हुये हैं, अतः शास्त्रों का जनक होने से, पूर्ण स्वतन्त्र है। अज्ञ पुरुषों के लिये शास्त्रों का प्रणयन हुआ है, वही शास्त्र-परतन्त्र होते हैं। ज्ञानी व्यवहार-दशा में भी शास्त्र के विधि-निषेधस्वरूप आज्ञा से ऊपर ही रहता है। इसीलिये भगवान् का कथन है : **सर्वथावर्तमानोऽपि-न स भूयोऽभिजायते** (गी० १३।२३) '—वह सब भाँति व्यवहार करता हुआ

भी, पुनः जन्म नहीं लेता।' स्वामी मधुसूदन सरस्वती का कहना है—**प्रारब्धकर्मवशादिन्द्रवद्विधिमतिक्रम्य वर्तमानोऽपि भूयो न जायते** '—प्रारब्ध कर्मवश इन्द्र के समान विधि का उल्लङ्घन कर, व्यवहार करने पर भी, पुनः जन्म नहीं होता।' फिर जो अपने आचार में स्थित है, उसका तो जन्म होता ही नहीं। इसका इतना ही तात्पर्य है, कि गुणातीत पुरुष ब्रह्म ही है, अतः विधि-निषेधात्मक कर्मों से, उसका सम्बन्ध नहीं। वह कर्म करे या न करे, किसी भी प्रकार उनके शुभाशुभ फलों से सम्बन्धित नहीं होता यानी ब्रह्मस्वरूप से च्युत नहीं होता। अठारहवें अध्याय में भी कहा है :

यस्य नाऽहंकृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गी० १८।१७)

'—जिसका अन्तःकरण 'मैं कर्ता हूँ'—इस भाव से रहित है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह सब लोकों को मार कर भी, न मारता है और न बन्धन में पड़ता है।' क्योंकि तत्त्ववित् शरीर, अन्तःकरण आदि से, सर्वथा पृथक् अपने को, अक्रिय समझता है और क्रिया स्थूल-सूक्ष्म देह के धर्म हैं। 'अहंकृत' अन्तःकरण के तादात्म्य सम्बन्ध-द्वारा होता है, ज्ञानी विवेक-द्वारा तादात्म्य सम्बन्ध का बाध कर देता है। अतः उसका यही निश्चय होता है, कि मैं अकर्ता, अभोक्ता, स्वयंप्रकाश, साक्षी हूँ। अकर्ता होने से ही, कर्तृत्व-वासना का सम्बन्ध बुद्धि से नहीं होता। 'मैंने पुण्य किया, मैं इस पुण्य का उत्तम फल भोगूँगा, मैंने पाप किया, मुझे इसका निकृष्ट फल मिलेगा' इस प्रकार के हर्ष तथा पश्चात्तापरूप संस्कार बुद्धि में लिप्त नहीं होते। अभेदात्म-दर्शन के प्रभाव से इष्ट-अनिष्ट तथा मिश्रित तीनों प्रकार के कर्मों का फल नहीं मिलता। यदि अभेददर्शी पुरुष, तीनों लोकों के प्राणियों का संहार भी कर दे, तो न वह मारता ही है, न बन्धन में ही पड़ता है। आत्मज्ञान-प्रताप-द्वारा शुभाशुभ कर्मों से, वैसे ही असंस्पृष्ट रहता है, जैसे जल से कमलपत्र। श्रुति ने ज्ञानी के लिये कहा है : **एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन॥** (बृह० ४।४।२३) '—यह ब्रह्मवेत्ता की स्वाभाविक नित्य महिमा है, शुभ कर्म-द्वारा विकारशील होकर, न तो वृद्धि को प्राप्त होती है, न अशुभ कर्म से क्षयरूप विकार को ही प्राप्त होती है, उस महिमा-स्वरूप का ज्ञाता होना चाहिये, उसे जान कर पाप—धर्माधर्मरूप कर्म—से लिप्त नहीं होता।' ज्ञानी की दृष्टि में पाप-पुण्यमय कर्म का

अभाव रहता है, क्योंकि श्रुति-स्मृति-प्रमाणों तथा स्वानुभव-द्वारा, एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं होती। जैसे रस्सी में सर्प-प्रतीति की भ्रान्ति निवृत्त होने पर भी, अन्धकार में बाधित सर्प की प्रतीति होती है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व, देह तथा कर्मादि का ब्रह्मदर्शन होने पर, बाध हो जाता है। पश्चात् स्वाभाविक कर्म में प्रवृत्ति बाधितानुवृत्ति से होती है। इसी कारण किसी भी कर्म में सत्यत्व बुद्धि नहीं होती। सत्यबुद्धि न होने से, बुद्धि में लेप भी नहीं होता। जब वासना, कर्म एवं कामना आदि का अभाव होता है, तब जन्म-मरण का भी अभाव हो जाता है। अतः ज्ञानी जीवितावस्था में स्वरूपस्थ होने से, जीवन्मुक्त होता है और शरीर के न रहने पर, विदेहमुक्त।

इसके अतिरिक्त गीता में द्वितीय अध्याय, छठे अध्याय और बारहवें अध्याय में भी ज्ञानी के लक्षणों का वर्णन आया है। यद्यपि सभी स्थानों में ज्ञानी के सामान्य लक्षण एक जैसे हैं, तथापि कुछ भिन्नता भी भासित होती है। उदाहरणार्थ चौदहवें अध्याय में ज्ञानी के लक्षणों में यह विशेषता है, कि उसकी दृष्टि में शुभाशुभ तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि का अभाव है। किन्तु द्वितीय अध्याय में कहा है :

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गी० २।६०-६१)

'—कौन्तेय ! विवेकसम्पन्न पुरुष के प्रयत्न करने पर भी, प्रमथनशील इन्द्रियाँ पुरुष को क्षुब्ध कर देती हैं, प्रकाश देखने वाले मन को भी, विचलित कर देती हैं।' 'उन सब इन्द्रियों को वश में कर, चित्त को मुझ अन्तरात्मा में अभिन्नतापूर्वक लगाकर, स्थित रहे, जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।' इन्द्रियाँ अत्यन्त बलवती हैं। विवेक रक्षक तथा विवेकी स्वामी के होने पर भी, विवेक को मथित कर, प्रज्ञा में प्रविष्ट मन को च्युत कर देती हैं और विषयों की ओर लगा देती हैं। क्योंकि मन तथा विवेक से इन्द्रियाँ बलवान् हैं, इन्द्रियाँ ही विषयों का ग्रहण करती हैं और मन रसास्वादन करता है। रसास्वादन के लिये मन बार-बार इन्द्रियों-द्वारा विषयों में जाने की इच्छा करता है। आत्मा की ओर मन लगने पर भी, क्षणमात्र में वहाँ से हटकर, विषयों का चिन्तन करने लगता है। चिन्तन से विषयाकार में परिणत मन का, विषय से

संग होता है, संग से कामना होती है और काम की पूर्ति न होने पर, क्रोध होता है। क्रोध से विवेकशून्यता, विवेकशून्य होने पर, आत्मानुसन्धान से पतन होता है। पतन से आत्माकाराकारितबुद्धिवृत्ति का विनाश होता है और इससे पुरुष परम पुरुषार्थ से पतित हो जाता है। अतः इन्द्रियों को वश में कर और मन को अन्तरात्मस्वरूप ब्रह्म में लगाने से ही समाधि-सिद्धि होती है। इस प्रकार यहाँ मन तथा इन्द्रियों का निग्रह ज्ञानी के लिये अनिवार्य बतलाया है।

बारहवें अध्याय में ज्ञानी के लक्षणों में भगवान् का कहना है :

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
(गी० १२।१३-१४)

'—सब भूतों में द्वेषभावरहित, मित्रभावयुक्त, करुणामय, ममतारहित, निरहंकारी, सुख-दुःख में समान और क्षमावान् है।' 'सदा संतुष्ट, समाहितचित्त, संयतस्वभाव, ब्रह्म का दृढ़निश्चयी और मन तथा बुद्धि मुझमें स्थापित करनेवाला जो भक्त है, वह मुझे प्रिय है।' इन लक्षणों में 'मैत्रः', 'करुणः' आदि विशेष दर्शनीय हैं। जिसका चित्त कोमल होगा, उसी में दया—करुणा—का संचार होगा, कठोर चित्तवाले में सम्भव नहीं। यहाँ पर ज्ञानी का चित्त कोमल तथा करुणार्द्र कहा गया है, इसीसे समस्त दुःखियों के प्रति दयामय व्यवहार होता है। निरपेक्ष, पवित्र, कुशल, उदासीन और समस्त व्यथाओं से शून्य होता है। छठे अध्याय में लक्षणों का वर्णन इस प्रकार है :

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(गी० ६।७-९)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

(गी० ६।३१)

'—जिसने मनादि शरीर विजित किया है, प्रसन्न है, वह परमात्मा को आत्मभाव से देखता है और शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मानापमान में भी सम रहता है।' 'ज्ञान-विज्ञान से तृप्त अन्तःकरणवाला, विचलित न होनेवाला, इन्द्रियों को वश में रखनेवाला और मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण आदि में समदृष्टि रखनेवाला योगी समाधिस्थ कहा जाता है'। 'योगी की सुहृत, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धुओं, साधुओं और पापियों में सर्वत्र समबुद्धि रहती है, वह श्रेष्ठ है'। 'सब ब्रह्म ही है' इस ऐक्य में स्थित, जो पुरुष सब भूतों में स्थित मुझको भजता है, वह योगी सब व्यवहार करता हुआ भी, मुझमें ही वर्तता है।' बारहवें अध्याय में 'मित्रभावयुक्त तथा करुणामय' लक्षण कहे गये हैं और यहाँ साधु-असाधु, शत्रु-मित्र आदि में समबुद्धि कही है। वहाँ 'पवित्रता आदि' लक्षण हैं, तो यहाँ सभी प्रकार के कर्मों में एकत्त्व दृष्टि है। याज्ञवल्क्यादि के समान सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग, जनकादि के समान विहित कर्मों का आचरण या दत्तात्रेयादि के समान निषिद्ध कर्मों का भी आचरण करनेवाला हो—सभी प्रकार के व्यवहार में 'मैं ब्रह्म ही हूँ' अभेदपूर्वक परमात्मा में ही वर्तन करता है। बारहवें अध्याय के ज्ञानी का चित्त कोमल तथा भावनामय है और छठे अध्याय के ज्ञानी का चित्त कठोर तथा विवेकप्रधान है—इसी से लक्षणों में अन्तर है।

द्वितीय अध्याय में ज्ञानी को 'स्थितप्रज्ञ', छठे अध्याय में 'योगी', बारहवें अध्याय में 'भक्त' एवं चौदहवें अध्याय में 'गुणातीत' कहा है। भिन्न-भिन्न नामों का कारण साधन की विभिन्नता है। जो कर्मयोग के माध्यम से, ज्ञानयोग में प्रवेश कर, आत्मा में स्थित हुआ, वह 'स्थितप्रज्ञ' कहलाया। जो योग के माध्यम से, ज्ञानयोग में प्रवेश कर, समाधिस्थ हुआ, उसे 'योगी' कहा गया। जो भक्तियोग से ज्ञानयोग में और ज्ञानयोग से परमात्मा में प्रतिष्ठित हुआ, वह 'भक्त' कहलाया एवं जो ज्ञानयोग से ही, त्रिगुणातीत आत्मा में एकत्त्वरूप से स्थित हुआ, उसे 'गुणातीत' कहा गया। यद्यपि चारों प्रकार के ज्ञानियों की आत्मस्थिति समान है, तथापि स्वभाव, साधन एवं संस्कार के भिन्न-भिन्न होने से, आचरण में अन्तर है। कर्मी पुरुष का स्वभाव कर्मप्रधान होता है, उसमें क्रिया की बहुलता

होती है और इन्द्रियाँ तथा मन विषयों की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। अतः इसके लिये 'कर्मयोग' का साधन ही श्रेयोमार्ग है। कर्मयोग से मन तथा इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है, क्योंकि, इनकी प्रवृत्ति विषयाभिमुख रहती है। अतः साधन में इन्द्रिय तथा मनादि-निग्रह की प्रधानता होती है। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब विवेक तथा वैराग्य-उदय होता है। फिर बुद्धि निश्चल हो, आत्मस्वरूप में स्थिति होती है, तभी 'स्थितप्रज्ञ' होता है। साधन के संस्कार बन जाते हैं, इसीलिये स्थितप्रज्ञ होने पर भी, वैसे ही आचरण होते हैं यानी इन्द्रिय तथा मन-निग्रह का स्वभाव होता है। अथवा विषयभोगों से मन आत्मस्वरूप से च्युत होकर, विषयाकार हो जाता है, विषयों के ही संस्कार बनते हैं और संस्कारों से फलोपभोग के लिये जन्मादि सम्भव हैं–इस भय के कारण इन्द्रिय तथा मन-निग्रह में सदैव सावधान रहता है।

योगी विहित-अविहित-त्यागपूर्वक, एकान्त स्थान में शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण को वश में कर, एकमात्र परमात्मा में ही चित्त लगाता है। वह स्वभाव से ही दृढ निश्चयी, विषयों से पराङ्मुख, कर्मों में अरुचि एवं एकान्तप्रेमी होता है। साधन-द्वारा आत्मस्थितिसम्पन्न होने पर, विवेक तथा दृढ वैराग्योदय होते हैं। आत्मा से, मन का योग होने पर, मन चञ्चलता-त्याग कर, आत्मा में ही लीन हो जाता है, तब कुछ भी चिन्तन नहीं होता। इस आत्मानुभूति के प्रकाश में और ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानोपदेश से, योगी अभेदज्ञान में स्थित होता है। तब 'सब ब्रह्म ही है' ऐसी दृष्टि होती है। फिर किसी भी पदार्थ की सत्ता उसकी दृष्टि में नहीं रहती। अतः शुभाशुभ तथा कर्माकर्म का भेद भी न रहने से, प्रारब्धानुसार चेष्टा होती है। ज्ञानी होने पर भी, योग साधन-संस्कारवश उसकी वैसी ही चेष्टा होती है, इसीलिये 'योगी' कहा जाता है।

जिस पुरुष का स्वभाव स्निग्ध, करुणामय, परोपकारशील, पवित्र एवं प्रेम-परायण है, उसकी रुचि 'भक्तियोग' में होती है। सगुण, साकार भगवान् में प्रेमोत्कर्ष होता है या सगुण, निराकार ईश्वर में भक्ति होती है अथवा निर्गुण, निराकार पर-मात्मा की ओर मानसिक वृत्ति प्रवाहित होती है। परमात्मा के किसी भी स्वरूप में भक्ति होने से, कालान्तर में विवेक तथा वैराग्यादि का विकाश होता है। गुरु तथा शास्त्र वाक्यों से जीवेश्वर की अभिन्नता का ज्ञान और उसमें स्थिति होने पर, अपरोक्षानुभूति होती है। 'सब ईश्वर ही है' —इस निष्ठा से पूर्ण होने पर, शत्रु-मित्र, मानापमान, हर्ष-द्वेष, सुख-दुःख एवं आकांक्षादिरहित हो जाता है। साधन के संस्कार बन जाते हैं, इसी कारण भक्तिप्रवाह, दया, पवित्रता आदि आचरणों में

प्रेम होता है। ज्ञानसम्पन्न होने पर भी, साधन के अनुकूल व्यवहार करने के कारण, 'भक्त' ही कहा जाता है।

जो पुरुष स्वभाव से ही विवेक, वैराग्य, शम, दमादि, ईश्वर-भक्ति और मोक्षेच्छा-सम्पन्न है, उसका अधिकार 'ज्ञानयोग' में है। स्वभावानुसार साधन की ओर आकृष्ट होता है। गुरु तथा शास्त्र-द्वारा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का परि-शीलन कर, लक्ष्यार्थस्वरूप में एकतापूर्वक स्थित होता है। उसकी दृष्टि में कर्म, धर्माधर्म, प्रेम, सेव्य-सेवकभाव, जगत् आदि का अस्तित्व ही नहीं रहता। एकमात्र, शुद्ध, चिद्‌घन, परब्रह्म परमात्मा का ही सर्वत्र दर्शन करता है। माया तथा गुणों से पर, उसकी स्थिति होती है। इसी से वह 'गुणातीत', 'ब्रह्मज्ञ', 'आत्मज्ञानी' आदि से कहा जाता है। अतः इन्हीं कारणों से ज्ञानसम्पन्न पुरुष के लक्षण सामान्यतः एक ही हैं, किन्तु किञ्चित् विलक्षणता भी पाई जाती है।

इस प्रकार परम श्रेय-प्राप्ति के चार मार्ग हैं—कर्मयोग, योग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग। मुक्ति-केन्द्र तक पहुँचने के लिये, सरल, सुकर, निरपेक्ष और स्वतन्त्र मार्ग ज्ञान ही है। अन्य तीनों मार्ग अन्ततः ज्ञान में ही मिलते हैं, इसी से सापेक्ष तथा परतन्त्र कहे गये हैं। यद्यपि कर्म, योग तथा भक्ति भी स्वतन्त्र मार्ग हैं, तथापि इनसे मुक्ति मिलना सम्भव नहीं। क्योंकि कर्ममार्ग का पर्यवसान स्वर्गलोक में होता है और योग तथा भक्ति का कार्यब्रह्म में यानी योगी तथा भक्त के उपास्यलोक में। मुक्ति के लिये तो ज्ञानमार्ग का ही आश्रय लेना होगा। कर्म, योग तथा भक्तिमार्ग पर चलते हुये, जब चित्त शुद्ध यानी बुद्धि निर्मल हो जाती है और संसार से वैराग्य होता है, तब विवेकोदय होता है। विवेक से ज्ञानमार्ग की ओर अग्रसर होना अनि-वार्य है। ज्ञानमार्ग से चल कर मुक्ति-केन्द्र में पहुँच कर, पुरुष जन्म-मरण, शोक-मोह, सुख-दुःख तथा द्वन्द्वरहित, अजर, अमर, ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। वस्तुतः तो ब्रह्म है ही, ज्ञान-द्वारा अज्ञानावरण-भंग होने पर, स्वरूप दर्शन ही 'ब्रह्मप्राप्ति', 'मुक्ति' अथवा 'ब्रह्मस्वरूप होना' कहा जाता है। स्वरूप-ज्ञान होने पर, न कुछ पाना शेष रहता है, न कुछ करना।

ब्रह्मज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य नहीं है, वह कुछ करे या न करे। तथापि जिस साधन-द्वारा, सिद्धि प्राप्ति की है, उसमें प्रेम होना स्वाभाविक है, अतः सम्पूर्ण जीवन स्वभावतः साधनमय होता है। स्थितप्रज्ञ कर्मयोग का आचरण करता है, योगी योग का, भक्त भगवद्भक्ति में लीन रहता है और गुणातीत ज्ञान में ही विचरण करता है। इन आचरणों से अन्य लोगों को प्रेरणा मिलती है और कल्याण-पथ प्रशस्त होता है। साथ ही तत्त्वदर्शी पुरुष की भावना होती है कि 'जिस प्रकार हमने

परम श्रेय प्राप्त किया, उसी प्रकार अन्य लोग भी प्राप्त करें' —इस लोक-संग्रह भावना से भी साधन में प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त जब तक शरीर विद्यमान है, तब तक प्रारब्ध भी शेष रहता ही है और प्रारब्धानुसार शरीर को सुख-दुःखादि भोग भी अनिवार्य हैं। पूर्व-जन्मकृत कर्म ही वर्तमान जन्म में फलित होते हैं, उनमें शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्म सम्मिलित रहते हैं। यही कारण है, कि अज्ञानी के समान विधि-निषेधात्मक कर्म ज्ञानी में भी देखे जाते हैं। अज्ञानीजन इन्हीं चेष्टाओं को देखकर, विमूढतावश ज्ञानी को पाखण्डी, धूर्त आदि समझ लेते हैं। किन्तु इससे ज्ञानी का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं, आलोचक ही पाप का भागी होता है। पूर्व कर्म के संस्कारानुसार किसी-किसी ज्ञानी में राग, लोभ, क्रोध तथा कामादि भी देखे जाते हैं और वैराग्य, त्याग, शान्ति, निरपेक्षता आदि भी होते हैं। इसी अभिप्राय से 'वार्तिकसार' कार ने कहा है :

रागी कश्चिद्विरक्तोन्यः क्रुद्धोन्यः शान्तिमान् परः।
प्रारब्धभोग नानात्वात् कथं लक्ष्म नियम्यते ॥

(वार्तिक० ३।५।८८)

'—कोई ज्ञानी रागी होता है, कोई विरक्त, दूसरा क्रोधी और अन्य शान्त होता है, प्रारब्ध-भोग अनेक प्रकार के होते हैं, अतः ज्ञानी के लक्षण कैसे नियमित किये जा सकते हैं?' तात्पर्य ज्ञानी के लक्षणों को नियमित नहीं किया जा सकता। ज्ञानोत्तर काल के शुभाशुभ कर्मों से ज्ञानी, न तो सद्गति पाता है न दुर्गति। पद्मपत्र में जैसे जल नहीं ठहरता, वैसे ही ज्ञानी में कर्म का श्लेष नहीं होता। गीता में भी भगवान् कहते हैं :

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

(गी० ४।१४)

'—अहङ्काररहित होने से, कर्म मुझमें लिप्त नहीं होते और कर्म-फल में भी मेरी तृष्णा नहीं है, इस प्रकार जो दूसरा मुझे आत्मस्वरूप जान लेता है, वह भी कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता।' 'ज्ञान के प्रभाव से, जो कर्म में फलासक्ति-त्याग कर, नित्य तृप्त तथा निराश्रय है, वह कर्मों में प्रवृत्त होने पर भी, वास्तव में कुछ नहीं करता'—

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥

(गी० ४।२०)

वस्तुतः ज्ञानी अपने स्वरूप में ही रमण करता है। उसकी दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त किसी भी कर्म-अकर्म की सत्ता, नहीं होती। कर्ता, कर्म तथा करण, ध्याता, ध्यान तथा ध्येय एवं ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय–सभी ज्ञानी के लिये आत्मस्वरूप ही हैं। अतः किसे त्याग करे और किसे ग्रहण करे? न त्याग के लिये कोई स्थान है, न ग्रहण की कोई वस्तु। सर्वत्र आत्मा है और सब पदार्थ आत्मस्वरूप हैं, तब क्या शुभ और क्या अशुभ ? जिन अज्ञानियों की दृष्टि में अनेक पदार्थों की सत्ता है, उनकी दृष्टि में विधि-निषेध, शुभ-अशुभ और ग्रहण-त्याग उचित ही है। किन्तु जिसने अज्ञान तथा अज्ञानजनित अनेकता, एकत्त्व-ज्ञानाग्नि में भस्म कर दी है, उसके लिये तो एकमात्र शुद्ध, चिद्घन सद्घन तथा आनन्दघन आत्मा ही है। अतः ज्ञानी आत्मा में ही रमण करता है, आत्मा में ही तृप्त रहता है और आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है।

आत्मज्ञान होने पर, पुरुष मुक्त होता है, जीवितावस्था में ही मुक्ति का आनन्द भोगता है, अतः जीवनमुक्त कहा जाता है। अज्ञानी पुरुष देहाभिमान-बन्धन के कारण, आत्मानन्दानुभूति से वञ्चित रहता है और विदेहमुक्त देहजनित आनन्दानुभूतिरहित होता है, किन्तु, जीवन्मुक्त पुरुष विषयानन्द भोगता है और आत्मानन्दानुभव भी करता है। इस प्रकार अज्ञानी तथा विदेहमुक्त दोनों से जीवन्मुक्त श्रेष्ठ है। यदि यह कहा जाय कि, 'जीवन्मुक्त पुरुष विषयानन्द क्यों भोगे ?' तो इसमें प्रश्न होगा कि 'विषयानन्द का परित्याग ही क्यों करे ?' यदि इसका उत्तर यह दो कि, 'विषयभोग से बन्धन होगा' तो यह ठीक नहीं, क्योंकि साधनकाल में ही अज्ञान तथा अज्ञानजनित कार्यों का बाध हो चुका है, तब ज्ञानावस्था में उनसे बन्धन असम्भव है। जो मूषक जीवितावस्था में, मार्जार-नहीं मार सका, वह मृतावस्था में मार्जार-मार सकेगा, इसमें क्या प्रमाण है ? ज्ञानसम्राट्-द्वारा अज्ञान तथा अज्ञानजनित विषय पदार्थ, जब विजित कर लिये गये, तब उनसे क्या भय ? उनके संग से तो सम्राट् की कीर्ति ही होती है। अज्ञानी पुरुषों के लिये प्रवृत्ति है और साधकों के लिये निवृत्ति। किन्तु ज्ञानसम्राट् न प्रवृत्ति के अधीन है, न निवृत्ति के। वह पूर्ण स्वतन्त्र तथा मुक्त है। ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि का वर्णन करते हुये, पूर्वाचार्य कहते हैं :

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेपि कल्पद्रुमा,
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिचयाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी,
सर्वैव स्थितिरस्य मुक्तिपदवी दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥

'—परब्रह्मदर्शन के अनन्तर ज्ञानी की दृष्टि में सम्पूर्ण विश्व नन्दनकानन है, समस्त चराचरभूत कल्पवृक्ष हैं, सकल जलराशियाँ गंगाजल, समस्त लौकिक-वैदिक क्रियायें पुण्यकर्म, प्राकृत-संस्कृत वाणियाँ वेदवाक्य और सम्पूर्ण भूमि वाराणसी है ; ब्रह्मज्ञानी की सभी अवस्थायें मुक्ति की पदवी ही हैं।' ज्ञानी की चेष्टायें और उसकी स्थिति का अनुमान अज्ञानी पुरुष नहीं कर सकते। जीवन्मुक्त पुरुष प्रधानतः दो प्रकार के होते हैं—एक वह जो चित्तविक्षेपकारक कार्यों का परित्याग कर, अखण्ड ब्रह्माकाररसानुभूति में निमग्न रहते हैं, दूसरे अन्तर्ज्ञानमयी स्थिति में रहते हुये, बाहर समस्त व्यवहार भी करते हैं। प्रथम श्रेणी के दृष्टान्त में सनक, सनन्दन, शुकदेव, जडभरत आदि हैं, इन्हें 'त्यागी जीवन्मुक्त' कहा जाता है। दूसरे प्रकार में राजा जनक, अश्वपति, वशिष्ठ आदि हैं, इनको 'व्यवहारी जीवन्मुक्त' कहा जाता है। यद्यपि दोनों में त्याग तथा व्यवहार से विलक्षणता है, तथापि ज्ञान में दोनों समान होने से, दोनों ही जीवन्मुक्त हैं। कोई कह सकता है, कि 'हमें जीवन्मुक्ति की आवश्यकता नहीं, हम तो यही चाहते हैं, कि शरीर-त्यागने पर, पुनर्जन्म न हो।' किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि पुनर्जन्म मुक्तपुरुष का ही नहीं होता, अन्य तो सभी का जन्म अनिवार्य ही है। श्रुति की स्पष्ट घोषणा है : **जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः** (अध्यात्मोपनिषद् १६) '—जिसे जीवितावस्था में, केवल भाव की प्राप्ति होती है, वही विदेह में भी केवल होता है'। जीवन्मुक्त पुरुष ही देह के न रहने पर, विदेहमुक्त होता है। शरीर के महाभूत अपने-अपने कारण समुदाय में मिल जाते हैं और जीवात्मा पहले भी ब्रह्म था, शरीर के न रहने पर भी ब्रह्म ही रहता है। वह अखण्ड, अनन्त, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप होकर, जन्म-मरण से अतीत हो जाता है। **जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते** (गी० १४।२०) '—जीवितावस्था में ही जन्म-मरण, जरा तथा दुःखों से मुक्त हो अमृतानुभव करता है', **मद्भावायोपपद्यते** (गी० १३।१८) '—मोक्ष-प्राप्त करता है', **ब्रह्मभूयाय कल्पते** (गी० १४।२६) '—मोक्ष-प्राप्त करने में समर्थ होता है', **न स भूयोऽभिजायते** (गी० १३।२३) '—वह पुनः जन्म नहीं लेता', आदि बार-बार यही सिद्धान्त गीता में कहा है।

गीता ग्रन्थ-विश्लेषण का निष्कर्ष यही कि, गीता अनासक्त, फलाशाशून्य एवं आदर्शप्रिय कर्तव्य कर्म का प्रतिपादन करती है। साथ ही सम्पूर्ण संसार के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परब्रह्म, परमेश्वर में, मानसिकवृत्ति लगाने की प्रेरणा देती है। अन्त में साध्य ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का परम उदात्त सन्देश देती है। इस प्रकार गीता मानव को शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, अजर, अमर, अखण्ड, अनन्त, परिपूर्ण चेतनतत्त्व में प्रतिष्ठित कर शोक, मोह, भय, दुःख, दैन्य तथा जन्म-मरण से मुक्ति प्रदान करती है। यही मानव का परमोच्च लक्ष्य है, जीवन में इसे प्राप्त कर, मानव कृतकृत्य हो जाता है। इस स्थिति में परमशान्ति, अखण्डानन्दरसामृतास्वादन में निमग्न एवं तद्रूप हो, कृतार्थानुभव करता है। यही गीता का लक्ष्य है और यही गीता-तत्त्व-दर्शन है।

———————